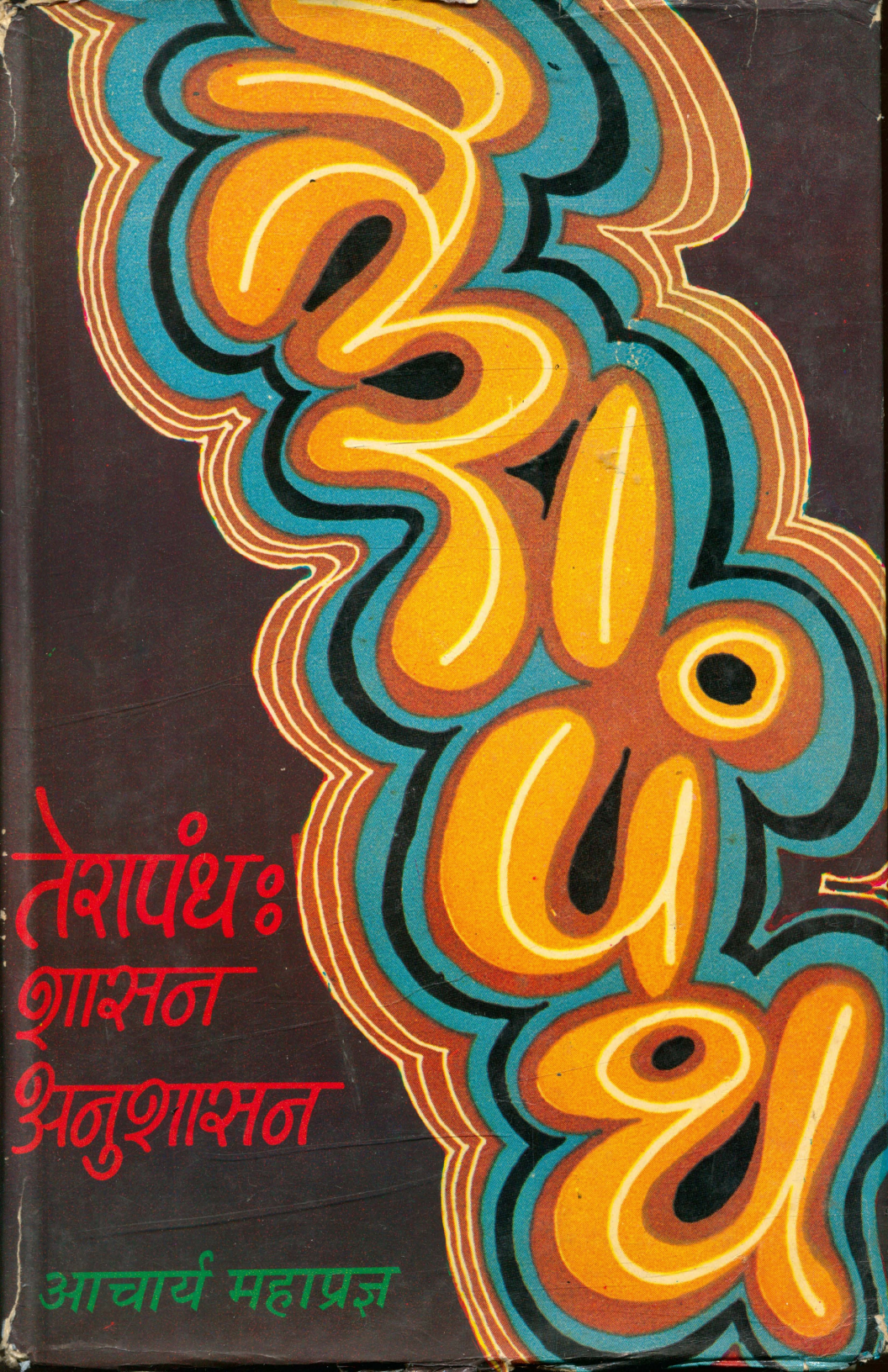


तेरापंधः
शासन
अनुशासन

आचार्य महाप्रज्ञ



● जैन धर्म बहुत प्राचीन धर्म है। भारतीय धर्म की त्रिवेणी—जैन, बौद्ध और वैदिक में उसका एक महत्वपूर्ण स्थान है।

● बीजावस्था में जैन धर्म एक और अविभक्त था। विस्तारावस्था में वह अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं में विभक्त हो गया है।

● तेरापंथ जैन धर्म की एक शाखा है। शाखा मूल से भिन्न नहीं होती, इसीलिए प्रस्तुत पुस्तक में तेरापंथ का जैन धर्म के परिप्रेक्ष्य में संदर्शन किया गया है।

● तेरापंथ आचार्य भिक्षु की दीर्घकालीन तपस्या और चैतन्यनिष्ठ साधना का परिणाम है। शासन साधना से उपजता है और उससे निपजता है अनुशासन। मनुष्य का अस्तित्व स्वतंत्र है। इसीलिए स्वतंत्रता उसका परम धर्म है। वह किसी की परतंत्रता को स्वीकार करना नहीं चाहता। आचार्य भिक्षु ने अनुशासन किया, पर किसी को परतंत्र नहीं बनाया। वही अनुशासन स्वीकार्य हो सकता है, जो स्वतंत्रता की ज्योति को प्रज्वलित करे।

● प्रस्तुत कृति में शासन और अनुशासन के कुछ सूत्रों का संचयन है। उन्हें पढ़कर समझा जा सकता है तेरापंथ को और जाना जा सकता है उसकी पुण्य प्रेरणा, परिणति और परंपरा को, जिस परंपरा का संचालन कर रहे हैं आचार्यश्री तुलसी, जिस परंपरा ने नए-नए आयाम खोले हैं और धर्म-दर्शन को नए सन्दर्भों में प्रस्तुत किया है।

तेरापंथ : शासन-अनुशासन

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

संपादक
मुनि दुलहराज
मुनि धनंजय

© जैन विश्व भारती
लाडनूँ-३४१ ३०६ (राज०)

I.S.B. No. 81-7195-042-6

तृतीय संस्करण : जनवरी, १९९५

मूल्य : चालीस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती लाडनूँ, नागौर (राज०)
मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूँ-३४१ ३०६ ।

TERAPANTH : SHASAN-ANUSHASAN
Acharya Mahaprajna

Rs. 40.00

प्रस्तुति

तेरापंथ आचार्य भिक्षु की दीर्घकालीन तपस्या और चैतन्यनिष्ठ साधना का परिणाम है। शासन साधना से उपजता है और उससे निपजता है अनुशासन। मनुष्य का अस्तित्व स्वतंत्र है इसलिए स्वतंत्रता उसका परम धर्म है। वह किसी की परतन्त्रता को स्वीकार करना नहीं चाहता। आचार्य भिक्षु ने अनुशासन किया पर किसी को परतंत्र नहीं बनाया। वही अनुशासन स्वीकार्य हो सकता है जो स्वतंत्रता की ज्योति को प्रज्वलित करे।

प्रस्तुत कृति में शासन और अनुशासन के कुछ सूत्रों का संचयन है। उन्हें पढ़कर समझा जा सकता है तेरापंथ को और जाना जा सकता है उसकी पुण्य प्रेरणा, परिणति और परम्परा को, जिस परंपरा का संचालन कर रहे आचार्यश्री तुलसी, जिस परम्परा ने नए-नए आयाम खोले हैं और धर्म-दर्शन को नए संदर्भों में प्रस्तुत किया है। सामयिक संदर्भों में कही हुई कुछ बातें इस कृति में संकलित हैं। प्रस्तुत पुस्तक में योगक्षेम वर्ष की शीतलता का भी संस्पर्श हुआ है। उसके अन्तर्गत दिए गए तेरापंथ सप्ताह के प्रवचन भी इसमें समाहित हैं। इसका संकलन-संपादन किया है मुनि दुलहराजजी एवं मुनि धनंजयकुमार ने। तेरापंथ के विषय में जिज्ञासा रखने वाले पाठक के लिए यह कृति प्रस्तुत है।

आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

• तेरापंथ

१. श्वेताम्बर : दिगम्बर	३
२. तेरापंथ : उद्भवकालीन स्थितियां	१२
३. तेरापंथ की पृष्ठभूमि	१८
४. तेरापंथ की स्थापना	२६
५. पहली शताब्दी का तेरापंथ	३४
६. दूसरी शताब्दी का तेरापंथ	४४
७. तीसरी शताब्दी का तेरापंथ	५१
८. इक्कीसवीं शताब्दी का तेरापंथ	५५
९. तेरापंथ : भावी कल्पनाएं, आयाम एवं योजनाएं	५९

• शासन अनुशासन

१०. तेरापंथ की तीन विशेषताएं	६७
११. संघ की अखंडता का सूत्र	७१
१२. संगठन का आधार	७४
१३. अनुशासन	७७
१४. तेरापंथ और अनुशासन	८०
१५. तेरापंथ : विकास के आधार-सूत्र की खोज	८५
१६. तेरापंथ की व्याप्ति	८७
१७. अनुशासन का प्रतीक : मर्यादा महोत्सव	८९
१८. अभिनन्दन मर्यादा महोत्सव का	९३
१९. पर्युषणा	९५
२०. पर्व-धर्म का मूल्यांकन	९९
२१. परिवर्तन का दिशा-संकेत	१०१
२२. मर्यादा की मर्यादा : त्रिगुप्ति की साधना	१०५
२३. निर्णयिकता का केन्द्र	११४
२४. जैन-समन्वय और तेरापंथ	११९
२५. समन्वय की पृष्ठभूमि	१२३
२६. धर्म-शासन तेजस्वी कैसे बने ?	१२६
२७. तीर्थ-धर्म : आत्म-धर्म	१२९

२८. बाल-दीक्षा और तेरापंथ	१३२
२९. तेरापंथ : आगम-सम्पादन	१३६
३०. राजस्थानी साहित्य की समृद्धि में तेरापंथ का योग	१४४
३१. आचार्य भिक्षु का अहिंसा-दर्शन	१४९
३२. आचार्य भिक्षु की मान्यता के मौलिक निष्कर्ष	१५५
३३. पुण्य : एक मीमांसा	१५८
३४. दान : एक विश्लेषण	१६२
३५. निर्जरा और उद्देश्य	१६८
० व्यक्तित्व	
३६. सिंहपुरुष आचार्य भिक्षु	१७५
३७. हम आचार्य भिक्षु बनें	१८१
३८. अध्यात्म-स्रोत के घनी : आचार्य भिक्षु	१८८
३९. शाश्वत सत्य के व्याख्याकार : आचार्य भिक्षु	१९१
४०. जयाचार्य की कल्पना का व्यक्तित्व	१९६
४१. तेरापंथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी	२०१
४२. निर्माण के कुशल शिल्पी : आचार्य कालूगणी	२०४
४३. आचार्य तुलसी : नये मूल्यों की स्थापना	२१०
४४. आचार्य तुलसी : यथार्थ की व्याख्या	२१५
४५. आचार्य तुलसी : ज्योतिर्मय साधक	२१८
४६. आचार्य तुलसी की आलोक रेखाएं	२२०
४७. राष्ट्रीय चेतना के सजग प्रहरी : आचार्य तुलसी	२२३
४८. जीवन-कुला के केन्द्र : आचार्य तुलसी	२२७
४९. पूर्णता के साधक : आचार्य तुलसी	२३०
५०. जीवन-निर्माता : आचार्य तुलसी	२३६
५१. संकल्प और पुरुषार्थ की प्रतिमा : आचार्य तुलसी	२३९
५२. महान् स्वप्नद्रष्टा : आचार्य तुलसी	२४४
५३. आचार्य तुलसी : एक परिचय	२४८
५४. अमृत महोत्सव : अभिनंदन	२५०

तेरापंथ

श्वेताम्बर : दिगम्बर

चर्चा नाम और रूप की

वर्धमान महावीर को समझने का प्रयत्न शब्द, नाम और रूप से परे एक अनाम-अरूप अस्तित्व को समझने का प्रयत्न है। उसे समझने में कुछ बाधाएं हैं। उनमें दो हैं—नाम और रूप। सामान्य आदमी नाम और रूप तक पहुंच पाता है। उसके पीछे जो अनामी चेतना है, जो अरूपी चेतना है, उस तक पहुंचना कठिन होता है। हमारी लाचारी यह है—हम नाम और रूप को छोड़कर आगे बढ़ भी नहीं सकते। इसलिए नाम और रूप की चर्चा करना भी आवश्यक है।

श्वेतांबर और दिगम्बर की चर्चा नाम और रूप की चर्चा है। सबसे पहला प्रश्न है—यह श्वेतांबर और दिगम्बर नाम किसने रखा? महावीर के समय में यह नाम ही नहीं था। उस समय जैनधर्म का मूल नाम था निर्ग्रन्थ प्रवचन। हम और पीछे लौटें, इतिहास काल में जाएं या प्रागैतिहासिक काल में जाएं तो वहां निर्ग्रन्थ प्रवचन नाम भी उपलब्ध नहीं होता। उस समय जैन धर्म का नाम था—आर्हत धर्म।

रूप से पैदा हुए हैं विकल्प

नाम और रूप बदलते रहे हैं। आज जो जैन मुनि का रूप है क्या भगवान् महावीर के समय में भी जैन मुनि का यही रूप था? उस समय ऐसा रूप बिल्कुल नहीं था। महावीर के समय में जो रूप था और पार्श्व के समय में जो रूप था, वह भी समान नहीं था। जिस रूप में महावीर के साधु रहते थे, उस रूप में पार्श्व के साधु नहीं रहते थे। महावीर के साधुओं को देखकर पार्श्व के साधुओं के मन में विकल्प पैदा हुए हैं। उत्तराध्ययन सूत्र इसका साक्षी है। जब केशी और गौतम के शिष्य परस्पर मिले, दोनों ने एक दूसरे को देखा, दोनों के शिष्यों के मन में विकल्प पैदा हो गए। महावीर के साधुओं के मन में प्रश्न पैदा हुआ—ये कैसे साधु! यह कैसा रूप! कोई लाल कपड़ा पहने हुए है, कोई पीला कपड़ा पहने हुए है, कोई केसरिया और नीला कपड़ा पहने हुए है। सारे कीमती और बहुमूल्य वेश पहने हुए हैं। पार्श्व के साधुओं के मन में विकल्प उभरा—ये कैसे साधु! यह कैसा साधारण रूप! कुछ-सफेद कपड़े पहने हुए हैं और कुछ निर्वस्त्र हैं। दोनों

और प्रश्न था—हम समान लक्ष्य को लेकर चल रहे हैं। यह अन्तर क्यों ?
रूप को देखकर एक प्रश्न प्रस्तुत हो गया—

केरिसो वा इमो धम्मो, इमो धम्मो वा केरिसो ।

आयारधम्मपणिही, इमा वा सा व केरिसी ?

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।

एगकज्ज पवन्नाणं, विसेसे कि नु कारणं ?

अनिर्णीत प्रश्न

भगवान् महावीर के समय में जैन धर्म का एक ही नाम था निर्ग्रन्थ प्रवचन। पुरा आगम साहित्य इसका साक्षी है। 'जैन धर्म' यह नाम भगवान् महावीर के २००-२५० वर्ष बाद प्रचलित हुआ होगा। आठवें पट्टधर से जैन-धर्म का नाम उपलब्ध होता है। उसके बाद जैन धर्म नाम विश्रुत होता चला गया, निर्ग्रन्थ प्रवचन नाम विस्मृत होता चला गया। जैन धर्म या जिन धर्म नाम मुख्य बन गया, निर्ग्रन्थ नाम गौण हो गया। हम उससे आगे बढ़ें। आज भी यह निर्णय नहीं हो सका है—किस शताब्दी में श्वेतांबर और दिगम्बर—ये दो नाम प्रचलित हुए। ये दो नाम किसने रखे ? पहली बार इनका प्रयोग करने वाला कौन हुआ ?

पुष्ट प्रमाण नहीं है

तेरापन्थ का नामकरण करने वाला एक व्यक्ति था और वह सेवक था। उसने एक श्लोक रचा—

आप आपरो गिलो करे, ते आप आपरो मंत ।

सुणज्यो रे शहर रा लोकां, ऐ तेरापन्थो तंत ॥

इस श्लोक को सुनकर आचार्य भिक्षु ने तेरापन्थ की व्याख्या की। यह बात इतिहास से प्रमाणित है। श्वेतांबर नाम किसने रखा ? किसी मुनि ने रखा ? किसी श्रावक या सामान्य आदमी ने रखा ? ये दो शाखाएं कब बनीं ? ये दो शाखाएं किस समय अलग-अलग पड़ गईं ? आज भी इन प्रश्नों का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिल रहा है। न नाम रखने वाले का कोई पुष्ट प्रमाण प्राप्त है और न इन दोनों शाखाओं के विभक्त होने का।

आवश्यकता है अनुसंधान की

यह विचित्र बात है—इन दोनों परम्पराओं का नामकरण रूप के आधार पर हुआ। जिन-शासन नाम भी गुणात्मक था। निर्ग्रन्थ प्रवचन नाम भी गुणात्मक था। प्रवचन का मतलब है शासन। ये दोनों नाम सार्थक हैं। किन्तु श्वेतांबर और दिगम्बर में गुणात्मकता को गौण कर दिया गया। श्वेतांबर और दिगम्बर—ये दोनों नाम वस्त्र के आधार पर निर्मित हुए

हैं। सफेद कपड़ा पहनने वाला श्वेतांबर और कपड़ा न पहने वाला दिगम्बर। दिग्—दिशा ही जिसका वस्त्र है, वह दिगम्बर है। आश्चर्य यह है—प्रत्येक व्यक्ति जिन शासन का अनुयायी हो सकता है, निर्ग्रन्थ प्रवचन का अनुयायी हो सकता है किन्तु श्वेतांबर और दिगम्बर का अनुयायी कोई भी नहीं दिखता। आज अनेक प्रकार के रंगीन कपड़े चल पड़े हैं। प्रत्येक युवक रंगीन कपड़ा पहन कर चलता है। ऐसी स्थिति में सब बहुरंगी हैं पर कहलाते हैं श्वेतांबर या दिगम्बर। कोई भी श्रावक दिगम्बर नहीं है, बिना वस्त्र नहीं है। यह नाम बड़े विचित्र रूप में चला है। यह नाम क्यों चला ? कब चला ? किसने चलाया ? इस सन्दर्भ में आज भी सूक्ष्म खोज-बीन की आवश्यकता है। खोज-बीन के बाद पता चल पाएगा या नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु खोजने से कुछ नई बातें सामने आ सकती हैं।

आधार है तत्त्वज्ञान

हम तत्त्वज्ञान की दृष्टि से विचार करें। किसी परम्परा का मूल आधार होता है तत्त्वज्ञान। क्या श्वेतांबर और दिगम्बर—दोनों का दर्शन भिन्न है ? इस सन्दर्भ में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। यद्यपि पुराने आचार्यों ने ऐसे अस्सी या छियासी विषय खोजे हैं, जिनमें मतभेद हो सकते हैं। उन सारे मतभेदों का अध्ययन करने पर ऐसा लगता है—श्वेतांबर और दिगम्बर परम्परा में सौ से ज्यादा मतभेद हैं। अगर उन मतभेदों के आधार पर अलग-अलग परम्पराएं बने तो श्वेतांबरों में न जाने कितनी ही परम्पराएं और बन जाए। अनेक आचार्य हुए हैं और उन्होंने अनेक-अनेक स्थापनाएं की हैं। उन स्थापनाओं में जो मतभेद हैं, उनके आधार पर अलग-अलग अस्तित्व बन जाए तो आज सैकड़ों-सैकड़ों सम्प्रदायों का अस्तित्व अभिव्यक्त हो जाए। कपड़ों को आधार बनाएं तो नीलांबर, पीतांबर आदि कितने ही नए संप्रदाय अस्तित्व में आ जाए।

विचार की स्वतंत्रता

श्वेतांबर परम्परा में बत्तीस आगम माने जाते हैं। उन आगमों में भी परस्पर विरोधी विचार हैं। आगमों में सैकड़ों स्थल ऐसे हैं, जिनमें परस्पर विसंवादिता है। यह विसंवाद और विरोध विचार की स्वतंत्रता है। यदि सापेक्ष दृष्टि से देखें तो इनमें संवादिता स्पष्ट की जा सकती है। नयदृष्टि और अनेकांतदृष्टि को छोड़कर देखेंगे तो प्रत्येक बात में विरोध दिखाई देगा। यदि नयवाद और अनेकांतवाद के सन्दर्भ में देखेंगे तो विरोधी विचार संवादी लगेंगे।

ऋषि के हाथ में कमंडलु था। उन्होंने शिष्यों से पूछा—बोलो !

कमंडलु खाली है या भरा हुआ है ? कुछ शिष्य बोले—गुरुदेव ! खाली है । कुछ शिष्यों ने कहा—गुरुदेव ! भरा हुआ है । दोनों में मतभेद पैदा हो गया । एक पक्ष कहता है—कमंडलु खाली है । दूसरा पक्ष कहता है—कमंडलु भरा हुआ है । महर्षि ने कहा—तुम दोनों सच्चे हो । शिष्य ने जिज्ञासा की—गुरुदेव ! दोनों सच्चे कैसे हैं ? मैं कहता हूँ—खाली है । वह कहता है—भरा हुआ है । इस स्थिति में दोनों सच्चे कैसे हो सकते हैं ? महर्षि ने समाधान देते हुए कहा—कमंडलु आधा खाली है और आधा भरा हुआ है । भराव को देखें तो कमंडलु भरा हुआ है । खालीपन को देखें तो वह खाली है । इसलिए इसे खाली भी कहा जा सकता है और भरा हुआ भी कहा जा सकता है ।

विवाद का हेतु

हम सापेक्षता की दृष्टि से विचार करें तो कमंडलु खाली है, यह भी सच है और कमंडलु भरा हुआ है, यह भी सच है । यदि निरपेक्ष होकर बात को ताना जाए तो दोनों ही गलत हो जाते हैं । एक कहेगा—तुम झूठे हो और दूसरा कहेगा—तुम झूठे हो । इस स्थिति में विवाद ही उत्पन्न हो सकता है ।

भगवान् महावीर अनेकांत के महान् प्रवक्ता और महान् प्रणेता थे । जैन आचार्यों, साधुओं और विद्वानों को अनेकांत का जितना प्रयोग करना चाहिए था उतना उन्होंने नहीं किया । यह कहने में शायद कोई अत्युक्ति नहीं होगी । अगर वे अनेकांत का प्रयोग करते तो परस्पर इतना विरोध नहीं होता । विभिन्न संप्रदायों के बीच चीन की सी दीवार खड़ी नहीं होती ।

श्वेतांबर और दिगंबर सम्प्रदाय में जहां दर्शन का प्रश्न है, कोई अन्तर नहीं लगता । मूलभूत तत्त्व—द्रव्यवाद, अस्तित्ववाद, आत्मवाद, पुनर्जन्मवाद आदि-आदि एक साथ चलते हैं ।

प्रश्न केवली-भुक्ति का

दिगम्बर और श्वेतांबर मान्यता में केवली-भुक्ति के प्रश्न पर मतभेद है । दिगम्बर परम्परा मानती है—केवली भोजन नहीं करते । श्वेतांबर परम्परा में उनके भोजन को मान्यता प्राप्त है, लेकिन इसे मूलभूत तत्त्व का अन्तर नहीं माना जा सकता । ऐसे ऐसे योगी होते हैं, जो जब चाहे खाना बंद कर देते हैं । योग साधना करने वाला व्यक्ति ऐसा रासायनिक परिवर्तन कर सकता है, जिससे भोजन की जरूरत ही न रहे । एक सामान्य व्यक्ति में भी ऐसा परिवर्तन हो जाता है, जिससे उसे भूख-प्यास नहीं सताती । कुछ वर्ष पहले वैज्ञानिकों के एक दल ने इस संदर्भ में खोजबीन की थी । उनके सामने समस्या थी—कुछ लोगों को खाने-पीने की जरूरत नहीं

पड़ती। यह चमत्कार है या रासायनिक परिवर्तन ? खोज के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे—व्यक्ति के भीतर एक प्रकार का ऐसा रासायनिक परिवर्तन हो जाता है, जिससे उसे खाने-पीने की जरूरत महसूस नहीं होती। वह बाहरी वायुमंडल से अपनी आवश्यकताएं पूरी कर लेता है।

हम देवताओं को मनोभक्षी मानते हैं। एक योगी भी मनोभक्षी हो सकता है। क्या केवली महायोगी नहीं हैं ? पर इसको भी विवाद का एक मुद्दा बना दिया गया।

प्रश्न है परिग्रह का

स्त्री की मुक्ति और संचलता (वस्त्र धारण) को भी विवाद का मुद्दा बना दिया गया। ये कोई खास मुद्दे नहीं हैं। क्या कपड़ा कोई मुद्दा है ? वस्तुतः यह कोई मुद्दा बनता ही नहीं है। प्रश्न है परिग्रह का। सबसे पहले प्रश्न आएगा—शरीर परिग्रह है या अपरिग्रह ? सबसे पहला परिग्रह है शरीर। दूसरा प्रश्न होगा—कर्म परिग्रह है या अपरिग्रह ? कहा गया—कर्म परिग्रह है। जो भी विजातीय तत्त्व है, आत्मा के अतिरिक्त है, वह सारा का सारा परिग्रह है। जितना पुद्गल आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है, वह परिग्रह है। इस स्थिति में अपरिग्रह की बात ही नहीं हो सकती।

परिग्रह है मूर्च्छा

इस सारे संदर्भ में अन्तर्जगत् में पहुँच कर एक नियम खोजा गया। वह नियम है मूर्च्छा का। कहा गया—जिसके साथ हमारी मूर्च्छा जुड़ जाती है, वह परिग्रह बन जाता है। जिसके साथ मूर्च्छा नहीं जुड़ती, वह परिग्रह नहीं बनता। यह बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। जब वस्त्र विवाद का विषय बना तब शायद यह सूत्र बना है। जब तक भगवान् महावीर विद्यमान थे तब तक कपड़ा विवाद का विषय नहीं बना। भगवान् महावीर के समय दोनों प्रकार के साधु थे—कपड़ा पहनने वाले भी साधु थे और कपड़ा न पहनने वाले भी साधु थे। जब तक महावीर थे, तब तक समर्थ नेतृत्व था। दोनों धाराएं साथ चल रही थीं। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् परिवर्तन आना शुरू हो गया।

अवकाश कहां है ?

यह स्वाभाविक बात है—जब प्रवर्तक या नेता समर्थ नहीं होता है और अनुयायी बहुत समर्थ हो जाते हैं तब विवाद को पनपने का अवकाश मिल जाता है। केवल आचार्य ही समर्थ हों, शेष सारे पात्र ढोने वाले हों, असमर्थ हों तो कोई विवाद नहीं पनप पाएगा। आचार्य भिक्षु ने आचार्य रुघनाथजी से कहा था—हम चातुर्मास साथ में करेंगे और जो विषय अभी नहीं सुलभ

पाए हैं उन्हें सुलझा लेंगे। आचार्य रुषनाथजी बोले—यदि चातुर्मास साथ में होगा तो मेरे साधुओं के भ्रमित होने की संभावना बनी रहेगी। उस समय आचार्य भिक्षु ने कहा—आप ऐसे साधुओं को साथ में रखें जो केवल पातरा ढोने वाले हैं, जिन्हें तत्त्व की गहरी समझ नहीं है।

विचार-भेद का सूत्रपात

जहां अनेक साधु-साधवियां समर्थ हो जाते हैं वहां ऐसी संभावनाएं जन्म ले लेती हैं। अतीत में कुछ ऐसा ही हुआ है। दो समर्थ और शक्ति-संपन्न व्यक्तियों के बीच एक विचार-भेद पनपा, मतभेद पैदा हुआ और वह समय के साथ गहरा होता चला गया। प्रायः सब परम्पराओं में ऐसा हुआ है। बौद्ध परम्परा में बुद्ध के निर्वाण के बाद यही विचार-भेद की समस्या प्रबल बन गई। महावीर के शिष्यों में भी यह समस्या संक्रान्त हुई। उनमें विचार-भेद का सूत्रपात हो गया। उसका एक बिन्दु बना—कपड़ा रखना चाहिए या कपड़ा नहीं रखना चाहिए।

दशवैकालिक में प्रयोग

समय के साथ-साथ यह एक प्रमुख मुद्दा बन गया। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में यह प्रयोग मिलता है—

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।

तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥

न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताडणा ।

मुत्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥

जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं, उन्हें मुनि संयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते हैं और उनका उपयोग करते हैं।

सब जीवों के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है। मूर्च्छा परिग्रह है, ऐसा महर्षि ने कहा है।

ये दो गाथाएं इतिहास की सूचक हैं। एक इतिहास के साथ इनकी रचना हुई है। कोई बात लिखी जाती है तो उसकी पृष्ठभूमि में एक चिंतन, एक विचार और एक इतिहास बोलता है। अगर हम वैचारिक इतिहास का अध्ययन करें तो बहुत सारे नए तथ्य मिल सकते हैं। यह एक सचाई है—अभी तक जैन परम्परा में विचारों के क्रमिक इतिहास का आकलन-संकलन नहीं हुआ है।

विचार-विकास का प्रश्न

एक धारणा बन गई—जो महावीर ने कहा, वही आगम में लिख दिया गया। इसमें सचाई भी है पर महावीर के बाद भी विचारों का विकास होता रहा है। महावीर का कोई विचार आगे बढ़ा और कोई विचार बिलकुल

समाप्त हो गया। बहुत सारी परम्पराएं, जो महावीर के समय में थीं, वे विस्मृति में चली गईं और उस समय जो परम्पराएं नहीं थीं, उनका सूत्रपात होता चला गया। विचार के आधार पर अनेक परम्पराओं में परिवर्तन, विकास और ह्रास का क्रम चलता रहा है। आज विचारों का ऐतिहासिक क्रम से अध्ययन किया जाए, उनका आकलन-संकलन किया जाए तो अनेक नए तथ्य उद्घाटित हो सकते हैं।

पदार्थ परिग्रह नहीं है

वस्त्र का प्रश्न इतिहास से जुड़ा हुआ है। जैन मुनियों का एक वर्ग कपड़ा रखने का पक्षधर था किंतु दूसरा वर्ग कपड़ा रखने के समर्थन में नहीं था। इस समर्थन और विरोध से विवाद का बीज अंकुरित होने लगा। उस स्थिति में यह तर्क प्रस्तुत किया गया—वस्त्र और पात्र परिग्रह नहीं हैं। परिग्रह है मूर्च्छा। कालान्तर में आचार्य उमास्वाति ने परिग्रह को परिभाषित करते हुए लिखा—**मूर्च्छा परिग्रहः**—यह सूत्र दिगम्बर और श्वेताम्बर—दोनों परम्पराओं में मान्य रहा है। पदार्थ या उपकरण परिग्रह नहीं है। परिग्रह व्यक्ति की अपनी मूर्च्छा है। एक निश्चित परिभाषा बन गई—मूर्च्छा करना परिग्रह है।

मुनि के चार रूप

हम इस प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें। आचारांग सूत्र में मुनि के लिए चार रूपों की परिकल्पना की गई—

एक मुनि तीन वस्त्र और एक पात्र रखने वाला है।

एक मुनि दो वस्त्र और एक पात्र रखने वाला है।

एक मुनि एक वस्त्र और एक पात्र रखने वाला है।

एक मुनि अचेल है और एक पात्र रखने वाला है।

मुनि के ये चार रूप हैं। तीन कपड़ा रखने वाला भी साधु है, दो और एक वस्त्र रखने वाला भी साधु है, अचेल रहने वाला भी साधु है। इन सबके साथ पात्र का प्रावधान जुड़ा हुआ है।

एक प्रश्न

वस्त्र परिग्रह है और पात्र परिग्रह नहीं है, यह तर्क समझ में आना कठिन है। यदि वस्त्र परिग्रह है तो पात्र भी परिग्रह हो सकता है। यदि पात्र परिग्रह नहीं है तो वस्त्र भी परिग्रह नहीं हो सकता। यदि पात्र के प्रति मूर्च्छा है तो पात्र भी परिग्रह हो सकता है। यदि वस्त्र के प्रति मूर्च्छा नहीं है तो वस्त्र भी परिग्रह नहीं बनता। पात्र के प्रति मूर्च्छा न हो तो पात्र अपरिग्रह है। वस्त्र के प्रति मूर्च्छा न हो तो वस्त्र अपरिग्रह है। वस्त्र और पात्र—दोनों को समान कोटि में ही रखा जा सकता है।

बौद्ध साहित्य का उल्लेख

मुनि के लिए वस्त्र का जो विधमन किया गया, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध साहित्य में जैन निग्रन्थों का चित्रण एक साधक रूप में होता रहा है और उनमें जैन मुनि के लिए एक वस्त्र का उल्लेख मिलता है। जैन मुनि चोलपट्टा नहीं रखते थे किन्तु अपने कंधे पर एक वस्त्र डाल लेते थे। भगवान् महावीर जब प्रव्रजित हुए तब उनके कंधे पर एक वस्त्र था यह श्वेताम्बर परम्परा में मान्य है। वस्तुतः मुनि के लिए ये तीन रूप मान्य रहे हैं—दो वस्त्र रखने वाला, एक वस्त्र रखने वाला और अचेल रहने वाला।

अलगाव का कारण

वस्त्र के साथ पात्र भी जुड़ा हुआ है। हम वस्त्र और पात्र को अलग-अलग नहीं बांट सकते। अगर हम सापेक्षदृष्टि से विचार करें तो ऐसा नहीं लगता कि इस आधार पर श्वेताम्बर और दिगम्बर—इन दोनों विशाल और महान् परम्पराओं में अलगाव हुआ है। इस बात को समझने में आज भी बड़ी कठिनाई होती है। यदि तटस्थदृष्टि से सोचा जाए तो कहा जा सकता है—व्यक्तियों का टकराव अलगाव का मुख्य कारण बनता है। जब व्यक्तित्व का टकराव होता है तब बहाने बहुत मिल जाते हैं। सामान्य-सा भेद भी सघन अलगाव को जन्म दे देता है।

वेश का महत्त्व

वेश का भी महत्त्व होता है। श्वेताम्बर आगमों और ग्रंथों में कहा गया—जो व्यक्ति असोच्चा केवली या प्रत्येक-बुद्ध बन जाता है, वह भी बिना वेश-परिवर्तन किए किसी दूसरे व्यक्ति को दीक्षा नहीं दे सकता। “समणोऽहं” यह अनुभूति वेश के आधार पर ही हो सकती है। इस दृष्टि में वेश के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। भगवान् महावीर ने समन्वय का जो एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया, यदि उस पर ध्यान केन्द्रित किया जाता तो दो परम्पराओं में इतना बड़ा भेद और अलगाव नहीं होता।

चार प्रकार के लोग

भगवान् महावीर ने कहा—चार प्रकार के लोग होते हैं—

एक व्यक्ति वेश को छोड़ देता है, धर्म को नहीं छोड़ता।

एक व्यक्ति धर्म को छोड़ देता है, वेश को नहीं छोड़ता।

एक व्यक्ति न धर्म को छोड़ता है, न वेश को छोड़ता है।

एक व्यक्ति धर्म को भी छोड़ देता है, वेश को भी छोड़ देता है।

बहुत सारे ऐसे लोग हैं, जो वेश को छोड़ दें तो उन्हें पैसा मिलना बंद हो जाए। वेश के साथ भी मूल्य का बोध जुड़ा हुआ है।

वर्दी का मूल्य

उदयपुर महाराणा के समय की घटना है। किसी व्यक्ति ने महाराणा के सिपाही को पीट दिया। मामला आगे बढ़ा, महाराणा के पास पहुँचा। महाराणा ने उस व्यक्ति को बुलाकर पूछा—तुमने मेरे सिपाही को क्यों पीटा ?

मैंने आपके सिपाही को नहीं पीटा।

कैसे नहीं पीटा ? तुम्हारी फरियाद आई है। बात क्या है ?

महाराज साहब ! बात यह है। उसके साथ मेरा भगड़ा हो गया। मैंने कहा—तुमने यह पुलिस की चपरास पहन रखी है इसलिए तुम्हें नहीं मार रहा हूँ अन्यथा तुम्हारी अवश्य पीटाई कर देता। उसने कहा—मुझे कमजोर मत समझना। मैंने कहा—तुम चपरास उतार कर देखो। उसने चपरास (पुलिस का चिह्न) को उतार कर एक ओर रखते हुए कहा—तुम क्या कर सकते हो ? महाराणा साहब ? मैंने उसके बाद जो करना था, कर दिया।

महाराणा बोले—जाओ ! तुम्हारा कोई गुनाह नहीं है।

सिपाही की वर्दी और बन्धा हुआ पट्टा सिपाही का चिह्न है। उस अवस्था में पीटना ही मुसीबत का कारण बनता है।

वेश का अपना मूल्य होता है, अपनी मर्यादा होती है।

समन्वय मंच का निर्माण हो

हमने तीसरे विकल्प को स्वीकार किया है, धर्म और वेश—दोनों का चुनाव किया है। हम रूप और धर्म—इन दोनों को साथ लेकर चलें, यह आवश्यक है। यह समन्वय का सूत्र है। अगर यह समन्वय का सूत्र साधा जाता तो इतना अलगाव नहीं होता। आज हमारे सामने चितन का एक अवसर प्रस्तुत हुआ है, वर्धमान और अनेकान्त को समझने का क्षण प्राप्त हुआ है। वस्त्र के आधार पर जो खाई गहरी होती चली गई थी, उसे पाटा जा सकता है, दोनों संप्रदायों को सापेक्षता के मंच पर लाकर एक अखण्ड जैन शासन का स्वप्न देखा जा सकता है। उस स्वप्न को साकार करने की दिशा में एक काम हो सकता है—समन्वय मंच का निर्माण। श्वेताम्बर और दिगम्बर—सबका एक संयुक्त मंच बने, जो जैन शासन के सामूहिक हितों का क्रियान्वन करे। आज अपेक्षा है—हम राग और द्वेष की मुद्रा को छोड़कर अनेकांत और सापेक्षता के द्वारा जैन शासन की अखण्डता में अपना योग समर्पित करें। यदि ऐसा होता है तो एक अखण्ड जैन शासन का स्वप्न साकार हो सकता है।

तेरापंथ : उद्भवकालीन स्थितियाँ

तेरापंथ में जीना, उस कल्पतरु की छांव में बैठे रहना, उसी से निकलने वाली प्राणवायु में श्वास लेना और उसके बारे में कुछ कहना बहुत कठिन है। जो रग-रग में, कण-कण और तस-नस में व्याप्त है, वह अनुभूति का विषय बन सकता है। उसे अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती। तेरापंथ का नाम अपने आप में एक अपूर्व और अद्भुत नाम है। पंथ को कभी बांधा नहीं जा सकता। तेरापंथ को भी कभी बांधा नहीं गया। यही अगर तेरापंथ होता तो स्थिति कुछ दूसरी होती। तेरापंथ का मतलब है—जो किसी का नहीं है। जो किसी का नहीं होता, वह सबका होता है। जो किसी एक का होता है वह सबका नहीं हो सकता।

सामंतशाही युग

तेरापंथ का उद्भव इतिहास की एक विशिष्ट घटना है। तब कोई संघ या संप्रदाय जन्म लेता है, जब कुछ विशेष परिस्थितियाँ प्रस्तुत हो जाती हैं। व्यक्ति के सामने तीन पहलू होते हैं—समाज, राज्य और धर्म। मनुष्य इन तीन आयामों में जीता है। तेरापंथ के उद्भव काल में समाज, राज्य और धर्म की क्या स्थितियाँ थीं? तेरापंथ को समझने के लिए उन्हें जानना आवश्यक है। इन तीनों के संदर्भ में ही तेरापंथ के उद्भव को समझा जा सकता है।

उस समय इस प्रान्त का नाम राजस्थान नहीं था। यह राजपूताना राज्य कहलाता था। इसमें अलग-अलग रियासतें और अलग-अलग राज्य थे। आचार्य भिक्षु का जन्म मारवाड़ रियासत—जोधपुर राज्य में हुआ। उसके एक ओर था बीकानेर राज्य तथा दूसरी ओर था मेवाड़ राज्य। बीकानेर, उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, डूँड़ाड़, शेखावटी आदि अनेक रियासतें थीं। वे छोटे-छोटे राज्य थे किंतु उनकी प्रभुसत्ता और उनके अधिकार बहुत थे। उस युग को सामन्तशाही का युग कहा जाता था, जागीरदारी और जमींदारी का युग कहा जाता था। बड़े-बड़े जमींदार, जागीरदार और राजा शासन करते थे। उनकी सत्ता सर्वमान्य थी। जनता को भी काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी पर राजाओं का निरंकुश शासन चलता था। कोई लोकसभा और विधानसभा नहीं थी। राजा ही न्यायालय था, विधान बनाने वाला था

और उन्हें क्रियान्वित करने वाला था। राजा कालस्य कारणम्—यह धारणा सर्वत्र परिव्याप्त थी।

सामाजिक और धार्मिक स्थिति

समाज के क्षेत्र में पंचायतों का बड़ा महत्त्व था। उनका समाज पर पूरा नियंत्रण था। कोई भी व्यक्ति निरंकुश नहीं था। कोई भी व्यक्ति मनमाना काम नहीं कर सकता था। विवाह, मृत्यु आदि के सारे कार्य समाज द्वारा नियंत्रित थे। समाज का पूरा अनुशासन था, कहीं खुलापन नहीं था।

उस समय धर्म की स्थिति कुछ दूसरे प्रकार की थी। एक ओर राजा का शासन था दूसरी ओर समाज के मुखिया का अनुशासन था। लोग समाज के मुखिया को बहुत महत्त्व देते थे, उसकी बात टालते नहीं थे। धर्म की स्थिति इसके विपरीत थी। महावीर का जो शासन चला आ रहा था, उसमें अनुशासन और नेतृत्व श्लथ होता चला गया।

शक्ति-साधना की ओर

महावीर निर्वाण के हजार वर्ष बाद जैन धर्म अनुशासन और नेतृत्व के संकट से गुजरने लगा। पहले जैनों पर शैवों का आक्रमण हुआ। उसके बाद शकों के आक्रमण हुए। बौद्धों ने भी उस पर अनेक प्रहार किए। अनेक संप्रदायों के आक्रमण सहते-सहते जैन समाज अस्त-व्यस्त हो गया। उसकी शक्ति क्षीण होने लगी। इस स्थिति में जैन साधुओं का ध्यान शक्ति-साधना की ओर गया। उन्होंने देखा—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की बात बहुत अच्छी है, पर शक्ति की साधना के बिना काम चलना संभव नहीं है। इसके बिना जैन शासन की रक्षा करना भी सम्भव नहीं है। उन्होंने मन्त्र-साधना की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। मन्त्र-सिद्धि के साथ-साथ यंत्र-तंत्र का विकास भी गति पाने लगा। जैन आचार्यों ने इन तीनों शक्तियों की साधना की और वे इनमें बहुत शक्तिशाली बन गए। इस क्षेत्र में अनेक ग्रन्थों की रचना भी की गई।

अस्तित्व का दीप जलता रहा

हम लोग सुनते हैं, जानते हैं—अनेक जैन आचार्यों ने तत्कालीन शासकों के सामने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। हीरविजय सूरी का उदाहरण हमारे सामने है। जैन आचार्य शक्ति के मामले में कभी पीछे नहीं रहे। इसका परिणाम है—जैन यति या जैन मुनि अपने अस्तित्व को बनाए रखने में सफल हो गए। जैन परम्परा के अस्तित्व का दीप बुझ नहीं पाया। बौद्ध परम्परा हिन्दुस्तान में एक बार समाप्त प्रायः हो गई। जैन परम्परा की वैसी स्थिति कभी नहीं बन पाई। जैन आचार्य हर स्थिति में डटे रहे, अड़े रहे, खड़े रहे। कहा जाता है—दिल्ली दरबार में बादशाह के काजी ने

मंत्रशक्ति के प्रयोगों से जैन आचार्य पर अनेक प्रहार किए। उन्होंने भी अपनी मंत्रशक्ति से उन प्रहारों का समुचित प्रतिवाद कर अपनी श्रेष्ठता प्रस्थापित की। इसका अर्थ है—बादशाही युग में भी जैन आचार्यों ने काजी से बराबर की टक्कर ली।

सुविधावाद की ओर

मंत्र साधना की ओर ध्यान केन्द्रित होने से एक नई स्थिति पैदा हो गई और यह स्वाभाविक ही था। शक्ति की साधना जरूरी है किन्तु जब उसका अतिरेक हो जाता है, वह मात्र परिधि नहीं, केन्द्र बन जाता है तब ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में शिथिलता आ जाती है। जैन धर्म के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। सिद्धसेन और समन्तभद्र से लेकर उपाध्याय यशोविजय जी (१७ वीं शताब्दी) तक ज्ञान का वर्चस्व बहुत कम हो गया। इधर ज्ञान की आराधना कम हुई और उधर चारित्र्य की आराधना में बहुत अन्तर आ गया। इस स्थिति में जैन शासन में सुविधावाद पनपने लगा। साधु संस्था का झुकाव सुख-सुविधा की ओर बढ़ता चला गया, चारित्र्य की आराधना गौण हो गई।

साधु संस्था की स्थिति

साधु-संस्था की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं थी। आहार लाना, व्याख्यान सुना देना और आराम करना—यही मुख्य धंधा बन गया। साधु को कमाने की जरूरत नहीं होती। उसके लिए रोटी की बहुत सुविधा है। एक गृहस्थ को दिन उगते ही रोटी जुटाने की चिन्ता लग जाती है। हिन्दुस्तान में कुछ लोग ऐसे हैं, जिनके यहां भोजन बेकार बहुत जाता है और करोड़ों लोग ऐसे भी हैं, जिन्हें दो समय खाने को भी पूरा नहीं मिलता पर साधुओं के लिए यह चिन्ता का विषय नहीं है। आगमों में पाप-श्रमणों की जिस स्थिति का उल्लेख मिलता है, उसे इस संदर्भ में देखा जा सकता है। कहा गया—

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।

उच्छोलाणापहोइस्स, दुलहा सुगई तारिसगस्स ॥

जो श्रमण सुख का रसिक, सात के लिए आकुल, अकाल में सोने वाला और हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला होता है, उसके लिए सुगति दुर्लभ है।

आचार्य भिक्षु ने तत्कालीन साधुओं की स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा—

खाय पीय सुख सोई रहे, डीला में बणरया लूँठा रे ।

गोबरी विहार करे जणा, राबलां कोतल छूटा रे ॥

कलिकाल का बहाना

जो आराम से रहता है, उसके लिए साधु-मार्ग अच्छा नहीं होता। तेरापन्थ के उद्भव काल में साधु समाज की जो स्थिति थी, वह बहुत सुखद नहीं थी। एक बहाना और सामने था—यह पांचवां आरा है, कलिकाल है, इसमें शुद्ध साधुपन नहीं पल सकता। यह भी एक बहाना था—संहनन कमजोर है। शरीर की स्थिति बहुत सुदृढ़ नहीं है। साधुत्व का पूर्णता से पालन होना संभव नहीं है। कहा गया—महावीर के समय आचार की जो स्थिति थी, वह आज कैसे रह सकती है? ये सारी स्थितियां और बहाने तेरापन्थ के उद्भव-काल से जुड़े हुए हैं।

मूल्य परख का

आचार्य भिक्षु ने इन सारी स्थितियों को देखा। उन्होंने इस बात पर बल दिया—अंधश्रद्धा काम की नहीं होती, परीक्षा का विकास होना चाहिए। तेरापन्थ का सबसे बड़ा सूत्र है—परीक्षा का विकास। बुद्ध ने कहा—भिक्षुओ? मैं जो कह रहा हूं, उसकी जांच करो, परीक्षा करो। उसे सीधे मत मानो। ऐसा लगता है—मध्यकाल में यह परीक्षा की बात गौण हो गई। आचार्य भिक्षु ने एक प्रसंग में कहा—जब आदमी घड़ा खरीदने जाता है, तब उसे बजाता है, ठोला मारकर देखता है—घड़ा कैसा है। वह उसकी परीक्षा करता है। यह एक सामान्य प्रवृत्ति है। उस स्थिति में यदि कोई गुह बनाए, धर्म को स्वीकार करे और उसकी परीक्षा न करे, यह कैसे संभव है। इसलिए उन्होंने परख को बहुत मूल्य दिया।

एक निष्कर्ष

तेरापंथ की उद्भवकालीन स्थितियों का अध्ययन करते समय यह निष्कर्ष सामने आता है—उस युग में 'बाबावाक्य प्रमाणम्' का महत्व अधिक था। आचार्य भिक्षु ने इस अंधकार को तोड़ा। उन्होंने कहा—प्रत्येक तथ्य की जांच करो। केवल मानकर मत चलो। आचार्य भिक्षु ने उदाहरण की भाषा में कहा—एक आदमी की आंख खराब हो गई, मोतियाबिंद हो गया। वैद्य ने उस आंख की कारी कर दी। आंख ठीक हो गई। वैद्य ने पूछा—कैसे है? बीमार बोला—मैं अपने मित्रों से पूछूंगा। यदि वे कहेंगे—तुम्हारी आंख ठीक हो गई है तो मैं मान लूंगा—आंख ठीक हुई है, अन्यथा नहीं मानूंगा।

अंधश्रद्धा का युग

ऐसे आदमी भी होते हैं, जो अपनी बुद्धि से काम नहीं लेते। जो दूसरों की बैसाखी के सहारे चलते हैं, वे कभी समाज का भला नहीं कर सकते, उनसे कभी समाज का भला नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षु ने अपने

हाथों, पैरों और अपनी आंखों पर भरोसा करना सिखाया। यह बहुत बड़ी बात थी। जो केवल परम्परा को मानकर चलने वाले थे, उन पर प्रहार करते हुए आचार्य भिक्षु ने लिखा—**बाप तलाई जाण न खावै गार गिवार।**

कहा जा सकता है—वह एक प्रकार से अंध-श्रद्धा का युग था। व्यक्ति की अपनी कोई शक्ति नहीं थी, अपना कोई मानदण्ड नहीं था, अपना कोई तर्क नहीं था, अपनी कोई कसौटी नहीं थी। उस युग को अंधकार का युग माना जा सकता है। जिस समाज में स्वयं अपनी सोच न हो, समझ-बूझ न हो, वह कभी उन्नत और स्वस्थ समाज नहीं बन सकता।

महान् क्रांति

आचार्य भिक्षु की यह महान् क्रांति है। उन्होंने एक दृष्टि से समाज को अंधकार से उबारा, एक नया चक्षु प्रदान किया, दृष्टिदान दिया। उन्होंने कहा—

काच तणो देखी मिणकला अण समझ्यां हो जाणें रतन अमोल।

ते निजर पड़्या सराफ री, कर दीधो हो त्यांरो कोड्या मोल॥

उनका यह स्वर रहा—ओलखो, जानो, मानकर मत चलो, अंध-विश्वास में मत जाओ। आग्रह में मत फंसो। इन तथ्यों के संदर्भ में उन्होंने समाज का मार्गदर्शन किया। वह कोई समय था, जब एक ओर ब्रह्म-समाज के संस्थापक राजा राममोहनराय क्रांति कर रहे थे, दूसरी ओर स्वामी दयानंद अपने मिशन को गति दे रहे थे। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी क्रांति के स्वर फूट रहे थे।

क्रांति का परिणाम

आचार्य भिक्षु ने धर्म के क्षेत्र में क्रांति का शंखनाद किया, व्यक्ति की धर्मचेतना में प्राण फूँके। उसका परिणाम है—तेरापन्थ एक परीक्षक समाज बन गया। आज तेरापंथ का साधु-साध्वी सामान्य-सी गलती कर लेता है तो उंगली उठ जाती है। आचार्य भिक्षु ने पूरे समाज को परीक्षा की कसौटियां और मानदंड दे दिए। उन्होंने समाज को परखने का अधिकार भी प्रदान कर दिया। उन्होंने साधु-समाज को ही नहीं, श्रावक-समाज को भी बहुत जगाया। जैसे साधु-साधवियों के हाथ में परीक्षा का दीप जलता रहे, वैसे ही श्रावक-समाज के हाथ में भी वह दीप दे दिया, जिसके प्रकाश में वह परख करता रहे।

सौहार्द का अभाव

तेरापंथ जिन स्थितियों में जन्मा, वे विशेष स्थितियां थीं। उस समय के साधुओं में परस्पर सौहार्द बहुत कम था। वे एक-दूसरे की निंदा में लगे रहते थे। एक मुनि दूसरे के शिष्य को उससे दूर कर देता, उसका मन फटा-

कर उसे अपने साथ मिलाने की कोशिश करता और दूसरा मुनि उसके शिष्यों को अपनी ओर खींचने में लगा रहता। उन्हें एक दूसरे की निंदा में संतोष मिलता था। आचार्य भिक्षु ने इस स्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया है—

परनिंदा में राता-माता, चित्त में नहीं संतोष।

शिष्यों की लोलुपता

उस समय शिष्यों की लोलुपता भी बहुत बढ़ी हुई थी। जैसे एक गृहस्थ में धन कमाने की लालसा प्रबल होती है, वैसे ही मुनियों में शिष्य बनाने की लालसा प्रबल बनी हुई थी। तत्कालीन साधुओं को कोई वैरागी—दीक्षार्थी दिखाई देता तो वे उससे कहते—दीक्षा लेना हो तो मेरे पास ही लेना। तुम्हें दूसरों के पास दीक्षा लेने का त्याग है—

दीक्षा ले तो मो आगे लीज, और कने दे पाल।

कुगुरु एहवां सूस करावै, ऐ चौड़े ऊंधी चाल ॥

दिशा-निर्देश

तेरापन्थ के उद्भव काल में ऐसी अनेक स्थितियां साधु समाज में पनप गई थी। अनुशासन-हीनता, बिखराव आदि को इसी संदर्भ में देखा जा सकता है। उन्होंने जीवन भर इन सबके विरुद्ध संघर्ष का संकल्प किया। अपनी अंतिम शिक्षा में आचार्य भिक्षु ने कहा—

सगलां रे साध साधवी, राखज्यो हेत विशेष।

जिण तिण ने मत मूंडज्यो रे दीक्षा दीज्यो देख देख ॥

इस महत्वपूर्ण शिक्षा में तत्कालीन साधु समाज की परिस्थिति का दिशा-निर्देश है।

एक ज्योति : तेरापन्थ

आचार्य भिक्षु ने कहा—आज कोई अपने आपको नहीं देख रहा है। साधु का पहला काम है—अपने आपको देखना। दृष्टांत की भाषा में उन्होंने कहा—दो महिलाएं जब भी आपस में मिलतीं, अपने-अपने पति के बारे में चर्चा कर लेती। एक ने कहा—मेरा पति बड़ा विचित्र है। वह जो लिखता है, उसे दूसरा पढ़ ही नहीं पाता। दूसरी बोली—यह कोई विचित्र बात नहीं है। मेरे पति की कथा सुनो—मेरा पति अपना लिखा हुआ भी पढ़ नहीं सकता।

उस समय के समाज की यह स्थिति थी। उस अज्ञानपूर्ण अन्ध वातावरण में आचार्य भिक्षु ने एक ज्योति जलाई और उसी ज्योति का नाम है—तेरापन्थ।

तेरापंथ की पृष्ठभूमि

तेरापंथ की पृष्ठभूमि एक त्रिपदी पर आधारित है। वैदिक या पौराणिक धर्म में विश्व व्यवस्था का आधार है त्रिपदी—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जैन दर्शन में तत्त्व व्यवस्था का आधार है त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। मोक्षमार्ग की त्रिपदी है—देव, गुरु और धर्म। तेरापंथ की पृष्ठभूमि भी त्रिपदी पर अवस्थित है। आचार-क्रांति, विचार-क्रांति और अनुशासन-क्रांति—यह एक त्रिपदी है।

अपेक्षा की पूर्ति

आचार्य भिक्षु को राजनगर के श्रावकों से आचार की प्रेरणा मिली, अध्ययन और मनन से विचार की प्रेरणा मिली, वर्तमान साधु-संघ की व्यवस्था से अनुशासन की प्रेरणा मिली। उस समय एक संघ, सदैव संतों में विभक्त हो गया। आचार्य भिक्षु ने तत्कालीन साधु समाज की स्थितियों का अपने साहित्य में चित्रण किया है। उस समय साधु समाज की स्थिति कैसी थी और किस प्रकार साधु-समाज अनुशासन विहीन होकर आचरण कर रहा था। इन सारे संदर्भों में एक क्रांति की अपेक्षा थी और उसकी पूर्ति आचार्य भिक्षु ने की।

राजनगर के श्रावकों का निर्णय

सेवाड, उदयपुर जिले का एक अच्छा कस्बा है राजसमन्द। वह अपनी झील के कारण प्रसिद्ध है। राजसमन्द की झील अपनी कोटि की एक विश्रुत झील है। वह बहुत कलापूर्ण है। केवल झील ही नहीं है किन्तु उसके परिपार्श्व में नौ चौकियां हैं। वे कलापूर्ण और मजबूत बनाई गई हैं इसीलिए चार सौ वर्ष बाद भी अपना विशिष्ट अस्तित्व बनाए हुए हैं। राजनगर के श्रावकों के मन में एक प्रश्न पैदा हुआ और उन्होंने साधुओं को वंदना करना छोड़ दिया। यह स्थिति आचार्य रुघनाथजी के पास पहुंची। उन्होंने सोचा—श्रावकों को समझाना है। यह कार्य किसे सौंपा जाए? उन्होंने इस कार्य के लिए आचार्य भिक्षु का चयन किया।

आचार्य भिक्षु का बुद्धि-कौशल

आचार्य भिक्षु बहुत बुद्धिमान थे। आचार्य रुघनाथजी ने उनसे कहा—तुम राजनगर जाओ और वहां के श्रावकों को समझाओ। आचार्य

रुघनाथजी के निर्देश को स्वीकृत कर आचार्य भिक्षु राजनगर पधारे । राजनगर के श्रावकों के प्रश्न आचार से संबंधित थे । ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता—उन्होंने विचार या सिद्धांत का कोई प्रश्न प्रस्तुत किया हो । उनके प्रश्न आचार से जुड़े हुए थे—आजकल साधु आचार में शिथिल हो गए हैं, आचार का विधिवत् पालन नहीं कर रहे हैं । आचार्य भिक्षु ने जैसे-तैसे उन्हें समझा दिया । श्रावक मौन हो गए । उन्होंने आचार्य भिक्षु के कथन पर विश्वास कर विधिवत् वन्दना की । आचार्य भिक्षु के बुद्धि-कौशल से समस्या को एक समाधान मिल गया ।

अन्तर्द्वन्द्व और प्रेरणा

श्रावक आश्वस्त बन गए किन्तु आचार्य भिक्षु के मन में एक अन्तर्द्वन्द्व पैदा हो गया । उनके मन में प्रकम्पन पैदा हो गया—मैंने श्रावकों को अपने बुद्धि-कौशल से समझा दिया है पर उनका कथन ही वस्तुतः सही था । उनका यह अन्तर्द्वन्द्व, मन का ताप शरीर का ताप बन गया, वे ज्वर से ग्रस्त हो गए । उस अन्तर्द्वन्द्व ने एक प्रेरणा दी । आचार्य भिक्षु ने सोचा—मुझे क्या करना चाहिए ? इस अन्तर्द्वन्द्व से उबरने के लिए उन्होंने आगमों के अध्ययन का निर्णय लिया । सारे आगम ग्रन्थों को गंभीरता से पढ़कर उचित निष्कर्ष पर पहुंचने का संकल्प किया । आश्चर्य मानना चाहिए—उन्होंने चार मास की अवधि में बत्तीस आगमों को दो-दो बार पढ़ लिया ।

ओ दूधारो खांडो अछै, एहवी मन में धार ।

दोय-दोय वार सूत्रां तणी, वांच्या धर अतिप्यार ॥

मनन के बिना ज्ञान का विकास नहीं

‘लघु भिक्षु जस रसायन’ ग्रन्थ में जयाचार्य ने लिखा है—आचार्य भिक्षु ने आगमों को बार-बार पढ़ा । इसका अर्थ है—उन्होंने आगमों को केवल पढ़ा ही नहीं, उनका गंभीर अध्ययन और मनन किया । हम किसी बात को पचास बार पढ़ जाएं, कोई खास निष्पत्ति नहीं आएगी । जब मंथन होता है तब निष्कर्ष निकलता है, नवनीत निकलता है । चिन्तन-मनन के बिना ज्ञान का कोई नया विकास नहीं होता । जब चिन्तन और मनन का विकास होता है तब ज्ञान का नया आयाम उद्घाटित होता है । मनन से अर्थ का विस्तार होता है, ज्ञान का विस्तार होता है । आज यही समस्या है—व्यक्ति बहुत कम पढ़ पाता है और जो पढ़ता है, उस पर मनन नहीं करता । जब तक मनन की प्रवृत्ति विकसित नहीं होगी, ज्ञान के क्षेत्र में नई बात उपलब्ध नहीं हो पाएगी ।

मनन का महत्त्व

एक पश्चिमी विचारक ने लिखा—हम जो खाते हैं, उससे शरीर नहीं

बनता । हम जो पचाते हैं, उससे शरीर बनता है, भोजन खाना एक बात है, और भोजन पचाना बिल्कुल दूसरी बात है । अगर भोजन पचता नहीं है और खाते ही चले जाते हैं तो शरीर बन नहीं पाएगा । बहुत लौंग ऐसे होते हैं, जिन्हें भस्मक-व्याधि हो जाती है । वे इतना भोजन खा लेते हैं, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । इतना खाने पर भी उनका शरीर बनता नहीं है । जिन लोगों के पेट की बीमारी होती है, पक्वाशय ठीक काम नहीं करता, आंते ठीक काम नहीं करतीं, वे खाते हैं पर अपना शरीर नहीं बना पाते । जैसे शरीर के लिए खाने से अधिक पचाने का महत्त्व है वैसे ही ज्ञान के लिए पढ़ने से अधिक मनन का महत्त्व है ।

आगम : विचार-क्रान्ति की प्रेरणा

आचार्य भिक्षु ने आगमों को पढ़ा, उन पर मनन किया, निदिध्यासन किया । उपनिषद् की भाषा में श्रवण, मनन और निदिध्यासन—अध्ययन का एक समग्र क्रम है । जैन दृष्टि के अनुसार श्रवण, ज्ञान और विज्ञान—अध्ययन का सर्वांग दर्शन है । आचार्य भिक्षु ने अध्ययन और मनन के साथ-साथ विज्ञान—विवेक किया । उन्होंने विवेक-चक्षु से देखा—बेवल आचार में ही नहीं, विचार और सिद्धांत में भी बहुत अन्तर है—

शुद्ध सरधा हाथ न आई श्रीकार, असल नहीं आचार ।

थाप दीसै घणा दोष री ॥

आगम अध्ययन उनकी विचार-क्रांति की प्रेरणा बन गया ।

एक पक्षीय बात

तेरापंथ का उद्भव क्यों हुआ ? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है—आचार शिथिलता के विरोध में तेरापंथ का जन्म हुआ । यह एक पक्षीय बात है ।

एक आदमी बाजार में घूम रहा था और जोर-जोर से चिल्ला रहा था—मांचा—खाट लो, खाट लो । लोग इकट्ठे हो गए । उन्होंने पूछा—खाट कहां है ? उसने अपने हाथ में पकड़े हुए खाट के एक पाए को दिखाते हुए कहा—यह खाट है । लोगों ने कहा—एक पाया कभी खाट होता है ? उसने तपाक से कहा—

आड नहीं है, ईस नहीं है, तीन नहीं है पाया ।

बिचलो क्षामर-क्षोल नहीं है, मांचो ल्यो रे भाया ॥

आचार्य भिक्षु का निष्कर्ष

एक पाए से कभी मांचा—खाट नहीं बनता । केवल आचार के आधार पर कोई सम्प्रदाय गतिशील नहीं होता । आचार-क्रांति के साथ विचार-क्रांति का होना जरूरी है । आचार्य भिक्षु ने केवल आचार को नहीं, विचार

को भी सामने रखा। गंभीर अध्ययन और विचार मंथन के बाद आचार्य भिक्षु इस निष्कर्ष पर पहुंचे—आचार और सम्यक्त्व—श्रद्धा—दोनों ही सही नहीं हैं—

सूत्र विविध निरणय करी, गाढी मन में धार।

समकित चारित बिहु नहीं, एहवो कियो विचार ॥

आज्ञा बाहर धर्म

राजनगर चातुर्मास के पश्चात् आचार्य भिक्षु आचार्य रुघनाथजी के पास पहुंचे। उन्होंने आचार्य रुघनाथजी के सामने सिद्धांत और आचार विषयक प्रश्नों को प्रस्तुत किया। आचार्य भिक्षु ने मुख्यतः चार सैद्धांतिक विसंगतियों की ओर उनका ध्यान केन्द्रित करना चाहा।

पहली विसंगति थी—आज्ञा बाहर धर्म मानना। आचार्य भिक्षु ने कहा—जहां भगवान् की आज्ञा है, वहां धर्म है। जहां भगवान् की आज्ञा नहीं है, वहां धर्म नहीं है। हमारी समस्या यह है—जिस कार्य में भगवान् की आज्ञा नहीं है, हम उसमें भी धर्म मान लेते हैं।

साची सरघा जाणो तंत सार, पामें तिण सू पार।

आज्ञा बारे धर्म को नहीं ॥

आज्ञा के दो अर्थ

आचार्य भिक्षु ने आज्ञा को दो अर्थों में स्वीकार किया। उन्होंने आज्ञा के महत्त्व को अनुशासन और धर्म विचार के अर्थ में प्रस्तुत किया। उनके सामने प्रश्न आया—हम जो भी आचरण कर रहे हैं, उसमें कौनसा आचरण मान्य होगा? हमारे आचरण का कोई मानदण्ड होना चाहिए। हमारा कौन-सा आचरण प्रमाण होगा और कौन-सा आचरण अप्रमाण? कौन-सा आचरण मान्य होगा और कौन-सा आचरण अमान्य? प्रमाण और अप्रमाण का आधार क्या है? आचार्य भिक्षु ने एक कसौटी का निर्धारण किया। उन्होंने कहा—जो आचार तीर्थंकर की आज्ञा में है, वह धर्म है। जो तीर्थंकर की आज्ञा में नहीं है, वह अधर्म है।

मिश्र-धर्म

आचार्य भिक्षु ने दूसरी विसंगति प्रस्तुत की—हम मिश्र धर्म को मान रहे हैं। एक ही क्रिया या प्रवृत्ति के द्वारा पुण्य का भी बंध होता है, पाप का भी बंध होता है। एक ही क्रिया से पुण्य और पाप—दोनों कैसे हो सकते हैं? पुण्य और पाप—दोनों को मिलाया कैसे जा सकता है? इस मिश्र धर्म की मान्यता को सही कैसे माना जाए?

और वस्तु में भेल पड़े जो आय, तो रुड़ी पिण बिगडाय।

तो पुण्य पाप भेला किम हुवे ॥

असुम जोगां सू पाप बंधे एकन्त, सुम स्यूं पुण्य बंधंत ।

पुण्य पाप भेला कसा जोग सू ॥

एके करणी बंधे पुण्य के पाप, तिण में मिश्र म आप ।

करणी तीजो जिन ना कही ॥

तत्कालीन मान्यता

यह मिश्र-धर्म की बात बहुत पुरानी है। हजारों वर्ष पहले दर्शन के क्षेत्र में मिश्र-धर्म की बात चर्चित होती रही है। विशेषतः जब से यज्ञ आदि प्रवृत्तियां चल रही हैं तब से मिश्र धर्म की बात यज्ञ आदि के साथ जुड़ी हुई है। प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों में इस बात का बहुत उल्लेख मिलता है। आचार्य भिक्षु ने इस सचाई को पकड़ा—एक योग के द्वारा दो काम नहीं हो सकते, शुभ और अशुभ—दोनों प्रवृत्तियां नहीं हो सकतीं—

सावज करणी पाप री, निरवद पुन री होय ।

पिण एकण करणी मझे, पुण्य पाप नहीं दोय ॥

उस समय माना जाता था—कोई हिंसा करे और किसी को सुख देने के लिए करे तो हिंसा करना पाप है और उससे जो सुख मिले, वह धर्म है। आचार्य भिक्षु गंभीर अध्ययन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे—मोक्ष मार्ग के संदर्भ में मिश्र धर्म की मान्यता सही नहीं है।

असंयति दान

आचार्य भिक्षु ने तीसरी विसंगति असंयति के दान को प्रस्तुत की। उन्होंने भगवती सूत्र के आधार पर असंयति के दान को उचित नहीं माना—

असंजती ने दान दे, जिन कह्यो एकंत पाप ।

शतक आठमें भगवती, स्थिर चित्त सेती थाप ॥

असंयति का जीना

चौथा विसंगति थी—असंयति के जीने की इच्छा करने का। आचार्य भिक्षु की यह त्रिपदी प्रसिद्ध है—‘असंजति रो जीणो बांछणो राग, मरणो बांछणो द्वेष और संसार समुद्र स्यूं तरणो बांछणो वीतराग देव रो धर्म ।’

असंजती रो जीवणों, बंछया सावज जोग ।

सावज अनुकंपा कही, देखो दे उपयोग ॥

संदर्भ आचार-शिथिलता का

सिद्धान्त के साथ आचार के प्रश्न भी जुड़े हुए थे। साधुओं के लिए स्थानक बनाना, आधाकर्मों आहार लेना आदि-आदि प्रश्न आचार शिथिलता के संदर्भ में थे। आचार्य भिक्षु ने आचार्य रुघनाथजी के सामने आचार और सिद्धांत के अनेक प्रश्न प्रस्तुत किए, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु

उन्होंने अनुशासनहीनता का प्रश्न भी रखा था, ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। ऐसा लगता है—आचार्य भिक्षु को अनुशासन क्रांति की प्रेरणा तत्कालीन साधु समाज की स्थिति से प्राप्त हुई। आचार्य भिक्षु के साहित्य में साधु-संस्था की स्थिति का जो चित्रण मिलता है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है—अनुशासनहीनता ने उनके मन को उत्पीड़ित किया और एक अनुशासन-क्रांति घटित हो गई। आचार्य भिक्षु का यह पद्य बहुत प्रसिद्ध है—

जिन सासन में आज्ञा बड़ी, आ तो बांधी हो भगवंता पाल।

सहु सज्जन असज्जन भेला रहे, छांदो रुंधे हो जिन वचन संभाल ॥

अनुशासन का संदर्भ

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन पर बहुत अधिक बल दिया। अनुशासन-हीनता से उनके मन में जो उद्वेलन हुआ और अनुशासन की दृष्टि से उनका जो चिन्तन रहा, वह सचमुच अद्भुत था। किसी भी धर्म-सम्प्रदाय में अनुशासन के बारे में इतना सोचा गया हो, लिखा गया हो, ऐसा ज्ञात नहीं है। आचार्य भिक्षु ने अनुशासन के संदर्भ में जो व्यवस्थाएं दीं, वे उनकी अद्भुत सूक्ष्मता का परिणाम हैं। संघ में एक आचार्य हो, सब साधु-साधवियां उनके अनुशासन में चले। आचार्य की आज्ञा का उल्लंघन न हो। व्यवहार स्वच्छन्द न हो।

अनुशासन का महत्त्व

छंद-स्वच्छंदता पर नियंत्रण के लिए आचार्य भिक्षु ने अनुशासन और व्यवस्था को नया आयाम दिया। आचार्य भिक्षु के अनुशासन पक्ष का विश्लेषण करें तो एक दृष्टि से कहा जा सकता है—उन्होंने आचार और सिद्धांत—दोनों से अधिक महत्त्व अनुशासन को दिया। इसका अर्थ है—अनुशासन होगा तो आचार और सिद्धांत—दोनों ठीक चलेंगे। अगर अनुशासन नहीं होगा तो दोनों बिखर जाएंगे।

तेरापंथ की त्रिपदी

तेरापंथ की पृष्ठभूमि पर विचार करते समय आचार, सिद्धांत और अनुशासन—तीनों पर विचार करना जरूरी है। यदि तेरापंथ को समझना है, आचार्य भिक्षु और उनके कर्तृत्व को समझना है तो आचार पर विचार करना होगा, सिद्धांत और अनुशासन पर विचार करना होगा। हमारा आचार क्या हीना चाहिए, यह जानना आवश्यक है। आचार सिद्धांत की निष्पत्ति है। इसलिए सिद्धांत और मान्यता को गौण नहीं किया जा सकता। तेरापंथ की मान्यता क्या है? श्रद्धा क्या है? तेरापंथ का बहु प्रचलित शब्द है—“श्रद्धा रो मुंह ममथो कोनी” श्रद्धा के न मुंह होता है, न माथा होता है।

दिमाग किसे चाहिए

कुछ दिन पहले मैंने एक व्यंग्य पढ़ा। एक राजनेता ऑपरेशन कराने के लिए हॉस्पिटल में भर्ती हुआ। सिर का ऑपरेशन था। सर्जन ने उसका सिर निकालकर एक ओर रख दिया और उसे चौक करने लगा। उसी समय एक कार्यकर्त्ता दौड़ा-दौड़ा आया। उसने सूचना दी—महाशय ! आप प्रधानमंत्री चुन लिये गये हैं। राजनेता यह सुनते ही बिस्तर से उठकर चलने लगा। डॉक्टर बोला—आप कहां जा रहे हैं। आपका सिर तो यहीं पड़ा है। राजनेता बोला—मैं प्रधानमंत्री बन गया हूं अब मुझे दिमाग की जरूरत नहीं है।

समस्या है दर्शन की

सिद्धांत बाहर पड़ा रहे तो आचार बहुत काम नहीं देता। आचार और सिद्धांत—दोनों की युति होनी चाहिए, समन्वय होना चाहिए। किन्तु इन दोनों की क्रियान्विति अनुशासन के बिना संभव नहीं बनती। हम वर्तमान की स्थिति को देखें। समाज, राजनीति और धर्म के क्षेत्र में जिस संगठन, दल और पार्टी में अनुशासन का अभाव है, वह संगठन, दल और पार्टी निष्प्राण बन जाती है। यह पहली समस्या है। आज बहुत सारे ऐसे संगठन चल रहे हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में दर्शन नहीं है। आज भारतीय राजनीति के क्षेत्र में अनेक दल हैं, अनेक नए दल बनते चले जा रहे हैं। किसी से पूछा जाए—तुम्हारी पार्टी का दर्शन क्या है, तो कोई उचित समाधान प्राप्त नहीं होगा।

ज्वलन्त प्रश्न

जो राजनैतिक दल इतने बड़े देश पर शासन कर रहे हैं, इतने बड़े देश की बागडोर अपने हाथ में संभाले हुए हैं और उनकी पृष्ठभूमि में कोई स्पष्ट दर्शन नहीं है। क्या इसे देश का सौभाग्य माना जाए ? कहा जा सकता है—साम्यवाद के सामने एक स्पष्ट दर्शन रहा है और उसका प्रशिक्षण भी चलता रहा है किन्तु आज भी उसकी वही स्थिति है, यह नहीं कहा जा सकता। भारत में बहुत सारे राजनैतिक दल हैं किन्तु किसी के पास स्पष्ट दर्शन नहीं है। वे किस दर्शन के आधार पर राष्ट्र या समाज की व्यवस्था करना चाहते हैं, इसे उस दल के कार्यकर्त्ता भी नहीं जानते। यह एक विडम्बना है। यह ज्वलन्त प्रश्न है—बिना किसी स्पष्ट दर्शन के राष्ट्र और राज्य के भाग्य का संचालन और निर्माण कैसा होगा ?

दर्शन का होना जरूरी है

सबसे पहली आवश्यकता है स्पष्ट दर्शन की। आचार्य भिक्षु ने एक व्यवस्थित सिद्धांत और दर्शन प्रस्थापित किया। जैन धर्म के बहुत सारे

संप्रदाय हैं। एक मूर्तिपूजक समाज है, स्थानकवासी समाज है, तेरापंथ समाज है। इनका दर्शन क्या है? मान्यता क्या है? ये तीनों अलग-अलग क्यों हुए? जैन दर्शन इन सबकी पृष्ठभूमि में है और वह सबके लिए है। इस दृष्टि से उन्हें एक ही होना चाहिए था। इनका अलग-अलग अस्तित्व क्यों पनपा? तीन होने की जरूरत क्या थी? दिगम्बर संप्रदाय अलग क्यों है? ये सब अलग-अलग हैं इसलिए इनका अपना दर्शन और अपनी मान्यता होनी चाहिए, जो अलग संगठन की विशिष्टता और अर्थवत्ता को प्रमाणित करे। इस अर्थ में आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ दर्शन को जितना व्यवस्थित रूप प्रदान किया, श्रीमज्जयाचार्य ने उसे जो आकार और विस्तार दिया, आचार्य श्री तुलसी ने उसे आधुनिक रूप में प्रस्तुत कर जो नया आयाम दिया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

तेरापंथ का अनुशासन

दर्शन और आचार के साथ-साथ व्यवस्थाओं का निर्धारण भी तेरापंथ की पृष्ठभूमि से जुड़ा हुआ है। तेरापंथ का व्यवस्था पक्ष भी बहुत अनुशासित रहा है। ऐसा लगता है—सारा काम स्वतः चल रहा है। अपने आप स्वतः संचालित नाड़ीतंत्र काम कर रहा है। सारा काम व्यवस्था-तंत्र के आधार पर चल रहा है। न आचार्य को कोई सिरदर्द है, न साधु संस्था को किसी प्रकार की दिक्कत है। एक ऐसी व्यवस्था का सूत्रपात हुआ है, जिसमें किसी को न कुछ करने की जरूरत है, न कुछ सुनने की जरूरत है। सारे सदस्य अपने दायित्व, अनुशासन और कर्तव्य-बोध से अभिप्रेरित हैं। तेरापंथ का अनुशासन प्रत्येक व्यक्ति का आत्मानुशासन है।

यह तेरापंथ की पृष्ठभूमि का संक्षिप्त विश्लेषण है। तेरापंथ का दर्शन, तेरापंथ का आचार और तेरापंथ का अनुशासन—इन तीनों को समझना तेरापंथ की पृष्ठभूमि को समझना है और इसी त्रिपदी के आधार पर तेरापंथ धर्मसंघ अपने उज्ज्वल भविष्य के निर्माण के लिए कटिबद्ध रहा है और सदा रहेगा।

तेरापंथ की स्थापना

तेरापंथ की स्थापना किसने की, इसका मुझे पता नहीं है। शायद आचार्य भिक्षु को भी यह पता नहीं था—तेरापंथ की स्थापना किसने की और कब की? आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की स्थापना ही नहीं की। उन्होंने आत्मा की स्थापना की, सिद्धांत की स्थापना की, आत्मानुशासन की स्थापना की।

समझौता सिद्धांत के साथ

आश्चर्य होता है—अवसरवादी लोग समझौता करते हैं, मिलकर संघ बनाते हैं और बिखर भी जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने कभी अवसरवादी समझौता नहीं किया। प्रसंग प्रस्तुत हुआ—तेरह साथी इकट्ठे हो गए। चतुर्मास का काल निकट था, सबका एक साथ रहना संभव नहीं था। आचार्य भिक्षु ने कुछ साधुओं को अलग-अलग स्थानों पर चतुर्मास करने का निर्देश देते हुए कहा—तुम लोग अमुक-अमुक स्थान पर चतुर्मास करो। आषाढ़ी पूर्णिमा को नई दीक्षा स्वीकार करनी है। इसके साथ ही एक शत जोड़ दी—हम चतुर्मास के बाद पुनः मिलेंगे। हमने कुछ बोलों—प्रश्नों की चर्चा कर ली है। कुछ प्रश्न, जो अभी शेष रह गए हैं, उन पर चतुर्मास के बाद चर्चा करेंगे। यदि उन पर सहमति होगी तो साथ रहेंगे। यदि सहमति नहीं हुई तो अपना-अपना स्वतंत्र मार्ग चुनेंगे।

प्रमुख है सिद्धांत

आचार्य भिक्षु ने केवल सिद्धांत की सहमति के आधार पर साथ रहने का निर्णय लिया। उनके सामने सिद्धांत प्रमुख था, साथ रहना गौण। यदि सिद्धांत पर सहमति नहीं हुई तो अकेले रहना है, अकेले जीना है। इस स्थिति में तेरापंथ की स्थापना कहां से होती। जो व्यक्ति इस निर्णय के साथ चलता है—मुझे अपनी आत्मा का कल्याण करना है और उसके लिए अकेला रहना भी स्वीकार है, वह आत्मानुशासन की स्थापना कर सकता है, संघ की स्थापना नहीं कर सकता।

भिक्षु का उद्देश्य

आचार्य भिक्षु ने आत्मानुशासन की स्थापना, संयम और दर्शन की स्थापना की। उससे जो उपजा, प्रसूत हुआ, वह था तेरापंथ। आचार्य

भिक्षु तेरापंथ की स्थापना के लिए नहीं चले। उन्हें यह भरोसा ही नहीं था—हमारा संघ चलेगा। उन्होंने स्वयं अपने उद्गार इन शब्दों में व्यक्त किए—

आहार पानी जांचकर सर्व साध उजाड़ में परहा जावता। खंडा रा छाया आहार पानी मेलन आतापना लेता। आथण रा पाछा गांव में आवता। इण रीते कष्ट भोगवता कर्म काटता। म्हें या न जाणता—म्हारो मार्ग जमसी न यूं दीक्षा लेसी, यूं श्रावक श्राविका हुंसी। म्हें तो विचारता—आत्मा रा कारज सारस्यां, मर पूरा देस्यां, इम धार विचार ने तपस्या करता।

आचार्य भिक्षु का लक्ष्य

आचार्य भिक्षु को यह कल्पना नहीं थी कि संघ चलेगा, साधु-साधवियां, श्रावक और श्राविकाएं होंगे। उनका एक ही लक्ष्य था—जिस उद्देश्य से घर को छोड़ा है, जिस श्रद्धा के साथ अभिनिष्क्रमण किया है, उसी श्रद्धा के साथ जीवन-यात्रा को चलाना है।

यह आगम वाक्य उनका संकल्प बन गया—

जाए सद्धाए निक्खंतो परियायट्ठाणमुत्तमं।

तमेव अणुपालेज्जा, गुणे आयिरयसम्मए ॥

इस पवित्र संकल्प के साथ आचार्य भिक्षु मेवाड़ पधारे। उन्होंने सब साधुओं को अपना निर्णय बताते हुए कहा—आज हम तेरह साधु हैं। यह जरूरी नहीं कि हम तेरह साथ ही रहेंगे। हमारी श्रद्धा और मान्यता मिलेगी तो हम साथ रहेंगे अन्यथा साथ नहीं रहेंगे।

नई दीक्षा

आचार्य भिक्षु ने निश्चित संकल्प के अनुसार आषाढी पूर्णिमा को दीक्षा स्वीकार की। जिस समय उन्होंने दीक्षा ली, वह अत्यन्त शुभ बेला थी। दीक्षा लेने से पूर्व आचार्य भिक्षु ने मुहूर्त देखा था, ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं होता किन्तु उन्होंने दीक्षा के लिए जिस समय का चुनाव किया, उससे ऐसा लगता है—आचार्य भिक्षु ने मुहूर्त जरूर देखा या नियति ने उन्हें अच्छा मुहूर्त दिखा दिया। प्रश्न होता है—उन्होंने दीक्षा के लिए संध्या का समय क्यों चुना? सूर्योदय का समय और सूर्यास्त का समय ज्योतिष की दृष्टि से अच्छा माना जाता है।

तेरापंथ का भविष्य

आज तेरापंथ की कुण्डली बन गई है। आचार्य भिक्षु ने जिस समय दीक्षा ली, उस समय की कुण्डली भी बन गई है और उसका फल भी हमारे सामने आ गया है। अनेक ज्योतिषियों के सामने मैंने तेरापंथ की कुण्डली को प्रस्तुत किया। उन्होंने उसे देखकर कहा—यह कुण्डली बहुत शक्तिशाली है। यह किसकी कुण्डली है? मैंने कहा—यह कुण्डली किसी व्यक्ति की नहीं है,

हमारे संघ की है। जिस दिन तेरापंथ की स्थापना हुई, उस दिन की कुण्डली है। अनेक ज्योतिर्विदों का अभिमत रहा—इस कुण्डली में जो योग बने हैं, वे अत्यन्त शक्तिशाली हैं। दो हजार वर्ष तक इस संघ का कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता। यह धर्म-संघ विकास की अनेक ऊँचाइयों को छुएगा, नई-नई शक्तियों का प्रादुर्भाव करेगा। हमें यह जानकर संतोष की अनुभूति हुई।
आचार्य भिक्षु ज्योतिषी थे ?

तेरापंथ की कुण्डली के फलादेश को जानने के बाद लगा—आचार्य भिक्षु महान् ज्योतिषी थे। आचार्य भिक्षु ज्योतिष के जानकार थे, स्वरोदय के जानकार थे और शकुन-शास्त्र के भी अच्छे वेत्ता थे। स्वामीजी ने एक बार किसी ग्राम से विहार किया, मार्ग में शकुन अच्छे नहीं हुए, वे मार्ग से ही पुनः लौट आए। आचार्य भिक्षु मारवाड़ में जन्मे थे। मारवाड़ के लोग शकुनों के अच्छे ज्ञाता होते हैं।

आचार्य भिक्षु और रामचरणजी

आचार्य भिक्षु को जिस व्यक्ति का योग मिला, जो उनके मित्र थे, वे भी इन विषयों में दक्ष थे। रामचरणजी आचार्य भिक्षु के मित्र थे, साथी थे। आचार्य भिक्षु और रामचरणजी—दोनों दीक्षित होना चाहते थे। उन्होंने यह निर्णय नहीं लिया था—रामस्नेही संप्रदाय में दीक्षा लें या जैन मुनि बनें। कुछ ऐसी घटनाएं घटीं, दोनों साथ नहीं रह सके। रामचरणजी रामस्नेही संप्रदाय में साधु बन गए और आचार्य भिक्षु जैन मुनि बन गए, किन्तु उनमें सद्भाव निरन्तर बना रहा। इसीलिए रामस्नेही संप्रदाय के साथ तेरापंथ का गाढ़ संबंध रहा है। ऐसा क्रम बना हुआ था—कोई भी तेरापंथी साधु आए, रामद्वारा उनके लिए सदा खुला रहता। सब लोग जानते थे—आचार्य भिक्षु और रामस्नेही—दोनों मित्र थे। रामस्नेही संप्रदाय की पुस्तक में आज भी आचार्य भिक्षु का उल्लेख मिलता है, उनके साथ सघन परिचय का संकेत मिलता है। तेरापंथ के इतिहास में भी इस विषय पर काफी लिखा गया है।

महान् साधक

आचार्य भिक्षु का अपने श्वास पर भी नियंत्रण था। आचार्य रुघनाथजी ने चर्चा के प्रसंग में कहा—यह कलिकाल है। इसमें दो घड़ी शुद्ध साधुपन पालने से मुक्ति हो सकती है—

द्रव्य गुरु कहै भिक्खू भणी, दोय घड़ी शुभ ध्यान ।

चोखो चारित पालियां, पामं केवलग्यान ॥

आचार्य भिक्षु बोले—यदि दो घड़ी शुद्ध साधुपन पालने से मुक्ति हो जाए तो मैं दो घड़ी श्वास रोक कर रह सकता हूँ—

भिक्षु कहै इणविध लहै बेघड़ी केवलग्यांन ।

तो दोय घड़ी ताई रहूं, सांस रूंधो घरूं ध्यान ॥

यह बात एक उत्कृष्ट साधक ही कह सकता है। सामान्य व्यक्ति पांच मिनट श्वास रोकने में भी समर्थ नहीं होता। एक मिनट श्वास रोकना भी बहुत कठिन होता है। ऐसी स्थिति में दो घड़ी तक श्वास का संयम करना कितना कठिन है ! बिना साधना के ऐसा होना संभव ही नहीं है।

दीक्षा अरिहंत की आज्ञा से

आचार्य भिक्षु महान् साधक थे। उनके जो साधना-सूत्र खो गए हैं, उन्हें आज पुनः खोजने की जरूरत है। वे तपे हुए व्यक्ति थे। दृढ़ मनोबली पुरुष थे। उन्होंने जिन परिस्थितियों में अभिनिष्क्रमण किया, दीक्षा ली, उससे उनके मनोबल का प्रमाण मिलता है।

जयाचार्य ने लिखा—

अरिहंत नी लेह आगन्या, पचख्या पाप अट्ठार ।

सिद्ध साखे करी स्वामजी, लीधो संजम भार ॥

भगवान् महावीर ने सिद्धों को नमस्कार कर दीक्षा स्वीकार की। आचार्य भिक्षु ने दीक्षा से पहले अर्हत् की आज्ञा ली। उन्होंने अर्हत् की आज्ञा और सिद्ध की साक्षी से अट्ठारह पाप का त्याग कर दीक्षा स्वीकार की। जो प्रत्येक-बुद्ध या स्वयं-बुद्ध मुनि होता है, उसके कोई गुरु नहीं होता है। आचार्य भिक्षु की दीक्षा की तुलना स्वयं-बुद्ध या प्रत्येक-बुद्ध मुनि की दीक्षा से की जा सकती है। आचार्य भिक्षु ने अठारह पाप का त्याग किया, वे मुनि बन गए और तेरापंथ को स्थापना हो गई।

असांप्रदायिक दृष्टिकोण

तेरापंथ की स्थापना का एक अर्थ है—असांप्रदायिक दृष्टिकोण की स्थापना। पूरे धार्मिक जगत् के इतिहास की समीक्षा करें तो निष्कर्ष आएगा—जितना असांप्रदायिक दृष्टिकोण आचार्य भिक्षु ने प्रस्तुत किया, उतना किसी विरल जैन आचार्य ने प्रस्तुत किया है। भगवान् महावीर ने सार्वभौम धर्म का उपदेश दिया था। उन्होंने इस सचाई को स्वीकार किया था—धर्म को न सुनने वाला व्यक्ति भी केवली हो सकता है। एक मिथ्यादृष्टि भी देश-आराधक हो सकता है। यह महावीर की महान् प्रस्थापना रही है। किन्तु उत्तरकाल में ऐसा माना जाने लगा—मिथ्यादृष्टि की करणी—तपस्या अच्छी नहीं है।

शुद्ध आध्यात्मिक धर्म की स्थापना

जैन साहित्य में भी इस तथ्य को स्वीकृति मिलने लगी। आचार्य

भिक्षु ने इस अवधारणा पर कड़ा प्रहार किया। उन्होंने उदात्त स्वरों में कहा—“किसी भी धर्म या संप्रदाय को मानने वाले व्यक्ति की निरवद्य करणी धर्म है। उसका पवित्र आचरण मोक्ष का मार्ग है। इस घोषणा ने तेरापंथ की स्थापना को एक असांप्रदायिक दृष्टिकोण की स्थापना बना दिया। एक ऐसा दृष्टिकोण विकसित हुआ—कोई संप्रदाय में आए या न आए किन्तु यदि उसका मन, वचन और शरीर शुद्ध है, आत्मा का परिणाम निर्मल है तो वह सही अर्थ में धार्मिक है। इसे दृष्टि से तेरापंथ की स्थापना को शुद्ध आध्यात्मिक धर्म की स्थापना कहा जा सकता है।

रचनात्मक दृष्टिकोण

तेरापंथ की स्थापना का दूसरा अर्थ है—रचनात्मक दृष्टिकोण की स्थापना। आज तेरापंथ की स्थापना हुए दो सौ तीस वर्ष हो रहे हैं। इतनी लम्बी अवधि में तेरापंथ धर्मसंघ की ओर से किसी के विरोध में दो पंक्तियाँ भी नहीं लिखी गईं। हम विभिन्न धर्म संप्रदायों के इतिहास को देखें। उनमें एक दूसरे के विरुद्ध इतने आरोप-प्रत्यारोप लगे हैं, एक दूसरे के विरुद्ध ऐसी पुस्तकें छपी हैं, पेम्पलेट छपे हैं, जिनका शीर्षक और विषय बताने में भी सज्जा आ सकती है। जैन समाज में भी अनेक संप्रदाय हैं। उनमें भी इतने निंदात्मक गाली-गलोच हुए हैं, जिन्हें देख-पढ़कर शर्म से सिर झुक जाए।

मंडनात्मक नीति

तेरापंथ के विरोध में भी बहुत कुछ लिखा गया है, छापा गया है। किन्तु तेरापंथ ने किसी संप्रदाय-विशेष का उल्लेख कर कुछ लिखा हो, ऐसा कहीं प्राप्त नहीं होता। यह तेरापंथ की मंडनात्मक नीति का परिणाम है, रचनात्मक दृष्टिकोण की फलश्रुति है। यदि तेरापंथ की शक्ति खंडन में लगती, विरोध और आरोप-प्रत्यारोप में लगती तो तेरापंथ का रूप कुछ दूसरा ही होता। जब-जब व्यक्ति निषेधात्मक भाव में जीता है, दूसरों के विरोध में अपनी शक्ति का नियोजन करता है तब-तब वह अपना अहित करता है, अपने पैरों पर ही कुल्हाड़ी चलाता है। तेरापंथ ने अपनी शक्ति का नियोजन रचनात्मक कार्यों में किया है, कर रहा है इसीलिए वह गतिशील बना हुआ है।

कष्ट सहिष्णुता

आचार्य भिक्षु की सहिष्णुता अप्रतिम थी। उन्होंने अपने रचनात्मक दृष्टिकोण से प्रत्येक समस्या को सुलझा लिया। उनके सामने विरोध के बहुत प्रसंग आए, उन्हें गालियाँ दी गईं, मुक्का मारा गया, रहने के लिए आवास नहीं दिया गया, एक दिन में अनेक स्थानों को बदलना पड़ा। गांव से निकाल दिया गया। ऐसे अनेक कष्ट उनके जीवन में आए किन्तु वे सदा अप्रभावित

बने रहे। हम संत तुकाराम की बात जानते हैं। हमने सूफी संतों के जीवन के कष्ट सहिष्णुता के प्रसंगों को पढ़ा है। यदि हम आचार्य भिक्षु के जीवन में आए कष्टों का विश्लेषण करें, उनकी सहिष्णुता का मूल्यांकन करें तो कहा जा सकता है—कष्ट सहिष्णुता के संदर्भ में आचार्य भिक्षु का जीवन एक आदर्श जीवन है। बाहरी जगत् में उनका पूरा जीवन कष्टों में बीता किन्तु आन्तरिक जगत् में उनका जीवन आनन्द से परिपूर्ण रहा। उनका जीवन इतना आनन्दमय था, चित्त इतना समाधिस्थ था, बाहरी कष्ट उन्हें छू ही नहीं पाए। यह उनके सृजनात्मक दृष्टिकोण का परिणाम था। उन्हें किस तरह कष्ट देने के प्रयत्न किए गए, इसकी झलक भिक्षु दृष्टांत में प्राप्त होती है।

हम ऐसा अन्याय नहीं करें

स्वामीजी ने पाली में चातुर्मास किया। उस समय बावेचाजी ने दूकान के मालिक से कहा—“तुम्हें दुगुना किराया देंगे, तुम यह दूकान हमें दे दो।” दूकान के मालिक ने कहा—अभी तो वहां स्वामीजी ठहरे हुए हैं यदि तुम पूरी दूकान को रुपयों से पाट दो तो भी वह तुम्हें नहीं दूंगा। स्वामीजी के विहार कर जाने के बाद भले तुम ले लेना। फिर बावेचाजी ने हाकिम जेठमलजी के पास जा अपने-अपने घर की चाबियां उनके सामने डाल दी और कहा—या तो यहां भीखणजी रहेंगे या हम रहेंगे।

हाकिम बोले—‘ऐसा अन्याय तो हम नहीं करेंगे। बस्ती में वेश्या और कसाई भी रहते हैं, उन्हें भी हम नहीं निकालते तो फिर भीखणजी को हम कैसे निकालेंगे?’

हाकिम ने दृष्टांत दिया—विजयसिंह के राज्य में मोती नाम का बनजारा था। उसके एक लाख बैल थे, इसलिए वह ‘लक्खी बनजारा’ कहलाता था। वह नमक लेने के लिए मारवाड़ में आता था। वह लोगों के खेतों को उजाड़ देता। जाटों ने राजा विजयसिंहजी के सामने पुकार की—मोती बनजारा हमारे खेतों को उजाड़ देता है। राजाजी ने मोती बनजारे से कहा—‘जाटों के खेतों को मत उजाड़ो।’

मोती बोला—‘मैं तो आऊंगा तब ऐसे ही होगा।’

राजाजी ने कहा—‘ऐसे ही होगा तो फिर हमारे देश में मत आना। यदि हमारे पास नमक है तो दूसरे बहुत बनजारे आएंगे। हम किसी को अन्याय नहीं करने देंगे।’

इस दृष्टांत के आधार पर जेठमलजी ने कहा—तुम चले जाओगे तो दूसरे व्यापारियों को लाकर बसा देंगे किन्तु साधुओं को निकालने का अन्याय हम नहीं करेंगे।

हाकिम का दो टुक उत्तर सुनकर बावेचाजी अपनी-अपनी चाबियां ले अपने-अपने घर चले गए ।

परीक्षात्मक दृष्टिकोण

आचार्य भिक्षु की सहिष्णुता ऐसे अनेक दबावों और संघर्षों के बीच भी अविचल बनी रही । आजकल राजनीति में कहा जाता है कि या साम्यवाद रहेगा या पूंजीवाद रहेगा । साम्यवाद और पूंजीवाद—दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते और इसी स्वर की ध्वनि हम पाली की घटना में देख सकते हैं । आचार्य भिक्षु के रचनात्मक दृष्टिकोण को इसकी पृष्ठभूमि में देखा जा सकता है ।

तेरापंथ की स्थापना का एक अर्थ है—परीक्षात्मक दृष्टिकोण की स्थापना । आचार्य भिक्षु ने धर्म के क्षेत्र में परीक्षा की जो कसौटियां प्रस्तुत की, जो मानदण्ड प्रस्तुत किए वे धार्मिक जगत् में आज भी मूल्यवान् बने हुए हैं । तेरापंथ की स्थापना का धार्मिक जगत् में अनेक दृष्टियों से मूल्य रहा है और उन दृष्टियों से उसका अंकन आवश्यक है । केवल तेरापंथ धर्मसंघ के गौरव के लिए ही नहीं, किन्तु उसके पीछे जो दर्शन रहा है, जो व्याख्या और दृष्टियां रही हैं, उन्हें समझने के लिए भी तेरापंथ की स्थापना को समझना जरूरी है ।

कृतज्ञता : प्रगति का आधार

आज तेरापंथ विकास के पथ पर बढ़ रहा है । वह नए-नए आयामों के उद्घाटन की दिशा में अग्रणी बना हुआ है । उनकी ये उपलब्धियां और ये अर्हताएं एक दिन में संभव नहीं बनी हैं । उनके पीछे अनेक शताब्दियों की तपस्या बोल रही है । आचार्य भिक्षु से लेकर आचार्य तुलसी तक तेरापंथ के साधु-साध्वियों और आचार्यों की तपस्या का परिणाम आज हमें प्राप्त हो रहा है । आचार्यश्री बहुत बार कहते हैं—हमने जो किया है, उसमें पूर्वजों का कितना बलिदान है, कितनी तपस्या है । उनकी तपस्या और बलिदान के प्रति हमारा अहोभाव है । उनकी तपस्या का फल आज हमें मिल रहा है । हम जानते हैं—आचार्यवर बहुत शक्तिशाली है, बहुत पुरुषार्थी हैं किन्तु आचार्यवर कभी यह स्वीकार नहीं करते—मैं ही सब कुछ कर रहा हूं । अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता का यह भाव तेरापंथ की प्रगति का मुख्य आधार बना है ।

धर्मसंघ का योगदान

आचार्य भिक्षु से लेकर आचार्य कालूगणी तक जो कुछ प्रगति हुई है उसमें पूरे धर्मसंघ का योगदान रहा है । आचार्यवर आज जो कुछ कर रहे हैं, उसमें भी पूरे धर्मसंघ का योगदान मिल रहा है । पूरे धर्मसंघ के योगदान

से आज तेरापंथ की जो स्थिति बनी है, उससे तेरापंथ की स्थापना के इतिहास को खोजना भी अनिवार्य हो गया है ।

तेरापंथ की स्थापना में ऐसे कौन से घटक तत्त्व थे, उसमें ऐसे कौन से बीज बोए गए, जो आज शतशाखी होकर पल्लवित हो रहे हैं, एक कल्पवृक्ष की भांति सबको शीतल छांव दे रहे हैं और सबकी कामनाओं को पूरा करने में सक्षम बन रहे हैं । तेरापंथ की स्थापना के प्राणतत्त्व को समझकर ही हम इन प्रश्नों का समाधान पा सकते हैं ।

पहली शताब्दी का तेरापंथ

संघर्ष की शताब्दी

तेरापंथ की पहली शताब्दी संघर्ष और स्थापना की शताब्दी है। पहाड़ पर जल बरसता है, नीचे उतरता है, वह नदी का रूप ले लेता है। पहाड़ पर बहने वाला पानी सीधा ही नीचे नहीं आता है। उसके सामने अनेक बाधाएं आती हैं, रुकावटें आती हैं, चट्टानें आती हैं। उन चट्टानों को भेदकर, रुकावटों को मिटाकर ही पानी नीचे आ पाता है। जिस पानी के प्रवाह में वेग होता है, शक्ति होती है, वह चट्टानों और बाधाओं को चीरकर नदी के रूप में परिवर्तित हो जाता है। जिस पानी के प्रवाह का वेग कमजोर हो जाता है, वह अटक जाता है, भटक जाता है। वह चट्टानों को चीरकर नदी का रूप नहीं ले पाता। तेरापंथ के पीछे नियति का बल था, सम्मार्ग का बल था, जिनवाणी का बल था, बुद्धि का बल था, शुद्धि का बल था; आचार्य भिक्षु के पुण्यों का बल था। इन सारे बलों ने एक वेग उत्पन्न किया, एक शक्ति पैदा की और तेरापंथ संघर्षों को चीरकर विकास के मार्ग पर बढ़ता चला गया। वह किसी संघर्ष के सामने झुका नहीं, रुका नहीं, निरंतर गतिशील और विकासशील बना रहा।

प्राकृतिक विपदा

संघर्ष का एक कारण दूसरे लोग बन गए। वे नहीं चाहते थे—तेरापंथ बने, आगे बढ़े, विकसित होता चला जाए। इसीलिए पहले दिन से ही बाधाओं का झंझावात शुरू हो गया। जिस दिन आचार्य भिक्षु ने अभिनिष्क्रमण किया, उसी दिन व्यवधान का क्रम शुरू हो गया। पूरे गांव में एक सामाजिक उद्धोषणा की गई—‘भीखणजी को ठहरने के लिए कोई स्थान नहीं देगा। यह श्रीसंघ की आण है।’ आचार्य भिक्षु ने सोचा—अब इस बगड़ी शहर में स्थान प्राप्त नहीं होगा। अच्छा यही है, हम यहां से प्रस्थान कर जाएं। उन्होंने वहां से विहार कर दिया। इस स्थिति में प्रकृति ने भी अनुग्रह नहीं किया। उसने भी एक बाधा प्रस्तुत कर दी। विहार होते ही एक भयंकर अन्धड़—तूफान आया। आचार्य भिक्षु दूसरे गांव तक पहुंच सके ऐसी स्थिति समाप्त हो गई।

पहला प्रवास

ऐसा होता है—जब कसौटियां होनी शुरू होती हैं तब एक के बाद

एक कसौटी होती चली जाती है। प्रकृति की कसौटी पर भी स्वामीजी खरे उतरे। यदि वे लौटते तो उस गांव में स्थान नहीं मिलता। आगे जाने की परिस्थिति नहीं थी। राजस्थान के मरु-प्रदेश में नदियों की बालू रेत जब तूफान का रूप लेती है तब वह व्यक्ति का चलना मुश्किल बना देती है। आचार्य भिक्षु ने मध्यम मार्ग का चुनाव किया। वे न गांव की ओर लौटे, न अगले गांव की ओर बढ़े। उन्होंने उस दिन का प्रवास श्मशान की छतरियों में करने का निर्णय ले लिया। स्वामीजी ने श्मशान में पहला प्रवास किया। वह अमर स्थान होता है। और सभी मर जाते हैं पर श्मशान अमर रहता है। वहां पहुंचने पर मृत्यु का भय भी समाप्त हो जाता है। व्यक्ति अभय बन जाता है। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने इस स्वर का संगान किया होगा—

मौत से डरता नहीं मैं, मौत मुझसे डर चुकी है।

मौत से मरता नहीं मैं, मौत मुझसे मर चुकी है॥

सिद्धांत और कसौटी

आचार्य भिक्षु ने प्रत्येक संघर्ष से लोहा लिया। प्रसिद्ध कहावत है—
'ऊंखली में सिर दे दिया तो मुसल से क्या डरना।' कहना चाहिए—
तेरापंथ की स्थापना ऊंखली में सिर देकर हुई है, मौत को निमन्त्रण देकर हुई है।

आचार्य भिक्षु के सामने संघर्ष के अनेक स्फुलिंग उछलते रहे हैं।

आचार्य भिक्षु ने सिद्धांत की स्थापना की और उसकी कसौटियां भी निर्धारित की। उन्होंने संयम और असंयम के आधार पर व्रत और अव्रत के आधार पर अपने मार्ग का स्पष्ट निश्चय किया। जिस मार्ग पर चलने का संकल्प लिया, उसका स्वरूप भी निर्धारित कर दिया—

त्याग धर्म है, भोग धर्म नहीं है

व्रत धर्म है, अव्रत धर्म नहीं है

आज्ञा धर्म है, अनाज्ञा धर्म नहीं है

उपदेश धर्म है, बल-प्रयोग धर्म नहीं है

धर्म अनमोल है, वह मूल्य से प्राप्त नहीं होता।

दर्शन की आधार भित्ति

आचार्य भिक्षु के पूरे दर्शन और सिद्धांत को इन शब्दों में समेटा जा सकता है। उनका सारा दर्शन इनमें समाया हुआ है। आज्ञा, व्रत, संयम और त्याग उनके दर्शन की मूल आधार-भित्ति है। इस दर्शन और सिद्धांत की स्थापना में उन्होंने विशाल साहित्य रच डाला। उनकी प्रतिष्ठापना के लिए आचार्य भिक्षु ने युक्ति, हेतु, बुद्धि और तर्क का पूरा प्रयोग किया। आचार्य

भिक्षु कोरे बुद्धिवादी भी नहीं थे और कोरे श्रद्धावादी भी नहीं थे। उनमें श्रद्धा और बुद्धि—दोनों का समन्वय था। जिनवाणी पर उनकी अटट श्रद्धा थी। उनके सामने जो एक मात्र प्रकाश था, वह महावीर वाणी का प्रकाश था। किन्तु इसके साथ-साथ उन्होंने तर्क का भी पूरा प्रयोग किया। आचार्य भिक्षु ने अपने सिद्धांत की स्थापना में जितने तर्क प्रस्तुत किए हैं, यदि उन्हें व्यवस्थित रूप से प्रस्तुति दी जाए तो उनका एक नया रूप निखार पा सकता है। हालांकि इस दिशा में कुछ प्रयत्न हुए हैं किन्तु उन्हें पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

दर्शन का आधुनिकीकरण

आचार्य तुलसी ने विक्रम सम्वत् २००० के आस-पास एक नया उपक्रम शुरू किया, आचार्य भिक्षु की वाणी को आधुनिक दार्शनिक शैली में प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। उनका यह प्रयत्न भी संघर्ष का एक कारण बन गया। कुछ लोगों ने कहा—आचार्यश्री आचार्य भिक्षु के सारे सिद्धांतों को बदल रहे हैं, उनमें परिवर्तन कर रहे हैं और उसे आधार बना कर अपन मनमाने विचार गढ़ रहे हैं। ऐसी अनेक टिप्पणियां की गई, विरोध का वातावरण बनाया गया। वस्तुतः आचार्य भिक्षु ने तर्क-शैली में अपने जो विचार रखे, उन्हें तार्किक रूप में प्रस्तुत करने का एक अवसर आचार्य तुलसी को मिला। आचार्यवर ने इस दृष्टि से अनेक उपक्रम किए। उसी का परिणाम है—आज आचार्य भिक्षु के सिद्धांत दार्शनिक स्तर पर प्रतिष्ठित और व्याख्यात हो गए हैं। कहना चाहिए—आचार्य तुलसी अवसरज्ञ हैं। आचार्य भिक्षु अवसरज्ञ नहीं थे। मैंने इसी संदर्भ को मुख्य बनाते हुए बहुत वर्ष पहले एक कविता लिखी थी—

आचार्य भिक्षु अवसरज्ञ नहीं थे

तुम और सब कुछ थे

पर अवसरज्ञ नहीं थे।

दो सौ वर्ष बाद करने के काम

तुमने पहले ही कर डाले

मुसीबतों के सांप थे

तुमने अपने ही हाथों पाले

तुमने ही की थी

अपने भगवान् की आलोचना

इस युग में जो बंधा हुआ था

अतीत की बेड़ी से

इतना बड़ा दुस्साहस

इसीलिए तुम्हें सहना पड़ा
हजारों-हजारों का आक्रोश
इस स्वतंत्र चिन्तन के युग में
आलोचना करना उचित होता
पर तुम पहले ही कर चुके
इसीलिए मैं कहता हूँ
तुम और सब कुछ थे
पर अवसरज्ञ नहीं थे ।
तुमने ही दिया था
साधन-शुद्धि का सूत्र
तुमने ही उजागर किया था
संप्रदाय से परे
सत्य को देखने का दृष्टिकोण ।
तुम अठारहवीं शताब्दी में जन्में
मरुभूमि में
अनपढ़ लोगों के बीच
यह भूलों का सिलसिला
तुम्हारे जन्म से ही चल रहा है ।
इस बीसवीं शती में जन्म लेते तो
तुम कुछ और होते
इसीलिए मैं कहता हूँ
तुम और सब कुछ थे
पर अवसरज्ञ नहीं थे ।

यदि जर्मनी में जन्म लेते

आचार्य भिक्षु सब कुछ थे किन्तु अवसरज्ञ नहीं थे । जो बातें वर्तमान युग के लिए अनुकूल हैं, उन्हें वे दो सौ वर्ष पहले कह गए । वह युग उनकी इन बातों को नहीं समझ पाया । आचार्य भिक्षु अनेक संघर्ष और समस्याओं से घिर गए । आचार्य भिक्षु मारवाड़ में जन्में । यदि वे जर्मनी जैसे किसी बौद्धिक चेतना वाले देश में जन्म लेते तो उन्हें सिद्धांतों की प्रतिष्ठा के लिए इतना संघर्ष नहीं झेलना पड़ता । काण्ट जर्मनी के प्रख्यात हेतुवादी दार्शनिक हैं । यदि आचार्य भिक्षु काण्ट जैसे दार्शनिक व्यक्तियों की भूमि पर जन्म लेते तो उनका दर्शन काण्ट से भी अधिक प्रभावशाली होता ।

अप्रतिम सहिष्णुता

एक ओर आचार्य भिक्षु ने नई-नई स्थापनाएं और नए-नए हेतु प्रस्तुत

किए किन्तु दूसरी ओर उन्होंने शारीरिक स्तर पर भयंकर कष्ट सहन किए। पांच वर्ष तक उन्हें पूरा आहार-पानी भी नहीं मिला। रहने का स्थान भी सुलभ नहीं होता था। इसके साथ-साथ वाद-विवाद और चर्चा का प्रसंग बना रहता। कोई गालियां दे देता, कोई मुक्का मार जाता और कोई कुछ कर जाता। ऐसी स्थितियों में कच्चा-पक्का या असहिष्णु आदमी पागल बन जाए। आचार्य भिक्षु एक ऐसे हिमालय थे, जो इन सारे प्रभावों से अप्रभावित बने रहे। इन सबके बीच आचार्य भिक्षु ने नए सिद्धांतों को ग्रहण किया, उनका प्रतिपादन और विश्लेषण प्रस्तुत किया।

मस्तिष्कीय प्रशिक्षण

आचार्य भिक्षु के सामने एक महत्त्वपूर्ण कार्य था साधुओं के मस्तिष्क की धुलाई करने का। साधुओं के संस्कार दूसरे प्रकार के थे। उन्हें बदलकर नए संस्कारों का निर्माण करना अत्यन्त कठिन था। अनुशासन और विनय के संस्कारों का वपन कम कठिन नहीं होता। उस समय के साधुओं का स्वामीजी ने जो चित्रण किया है, उसे पढ़कर आदमी हैरान रह जाए। कहा जाता है—मतीरों का भारा बांधना कठिन है किन्तु स्वामीजी ने साधुओं की स्थिति का जो सजीव चित्र प्रस्तुत किया है, उसे पढ़े तो यह कहावत भी उसके सामने हलकी ही प्रतीत होती है। अनुशासनहीनता के वातावरण में अनुशासन का प्रशिक्षण एक महान् संघर्ष जैसा बन गया।

सतकड़ी मुखर्जी का कथन

आचार्य भिक्षु कंटालिया ग्राम में जन्में। वहां के लोग अनपढ़ थे। वहां न कोई स्कूल था, न प्राथमिक विद्यालय था। कॉलेज का तो प्रश्न ही नहीं था। उन लोगों के बीच दर्शन की बात का क्या मूल्य हो सकता था? आचार्यवर कुछ वर्ष पहले शान्ति निकेतन पधारे। स्वागत समारोह में एक प्रोफेसर ने संतों की ओर इशारा करते हुए आचार्यश्री से कहा—महाराज ! ये श्वेत राजहंस इन रेतीले टीलों में क्यों घूम रहे हैं ?

डॉक्टर सतकड़ी मुखर्जी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान् थे। उनके द्वारा जैन धर्म पर अनेकान्त दृष्टि से लिखी गई पुस्तक आज भी विश्व भर में प्रसिद्ध बनी हुई है। आचार्यवर का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जैन सिद्धांत दीपिका। उसका एक अध्याय दया और दान से संबंधित है। सतकड़ी मुखर्जी आचार्यवर की सन्निधि में आए। आचार्यवर ने मुझे कहा—इन्हें जैन सिद्धांत-दीपिका का दया-दान वाला अध्याय सुना दो। सतकड़ी मुखर्जी उस अध्याय को सुनकर आश्चर्य से भर गए। मुखर्जी बोले—मुनिजी ! मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि ऐसा दर्शन किसी ने दिया है। दुर्भाग्य यह है—आचार्य भिक्षु मारवाड़ में जन्में। यदि

वे जर्मनी में जन्में होते तो उनका मूल्य काण्ट से भी ज्यादा होता ।

प्रश्न जोड़—कविता करने का

आचार्य भिक्षु ने रूढ़िवाद के विरुद्ध संघर्ष किया । तत्कालीन साधु-समाज में यह मान्यता थी—एक मुनि को कविता बनाना नहीं कल्पता, रचना करना नहीं कल्पता । आचार्य भिक्षु ने इस मंतव्य का खंडन करते हुए एक ढाल—गीतिका बना डाली । उन्होंने कहा—जो यह कहते हैं—जोड़—कविता करना नहीं कल्पता, वे अज्ञानी हैं और जो यह कहते हैं—जोड़ करने से ज्ञानावरणीय कर्म और पढ़ने से दर्शनावरणीय कर्म का उदय होता है, उनके ज्ञानावरण और दर्शनावरण—दोनों कर्म उदय आए हुए हैं ।

कविता बनाना शिथिलाचार है और कविता नहीं बनाना कठोर आचार है । यह कहना युक्ति-संगत नहीं है ।

समीक्षात्मक दृष्टिकोण

आचार्य भिक्षु तत्त्वज्ञानी थे । उन्होंने कहा—अंधविश्वास शिथिलाचार और कठोर आचार का मानदंड नहीं हो सकता, अपनी मान्यता का आग्रह कठोर आचार या शिथिलाचार का मानक नहीं बन सकता । उन्होंने पूरे विवेक के साथ सिद्धांतों का विवेचन किया । उस समय कहा जाता था—जो मुनि तेरह उपकरणों से ज्यादा रखता है, वह शिथिलाचारी है । आचार्य भिक्षु ने इस मान्यता को भी अज्ञानपूर्ण बताते हुए इसका जोरदार शब्दों में खंडन किया । उन्होंने कहा—जो यह कहते हैं—मुनि को तेरह उपकरणों से ज्यादा रखना नहीं कल्पता, वे जिन-आज्ञा को नहीं जानते । ऐसा कहना जिन-आज्ञा के बाहर है । आचार्य भिक्षु ने अपने विवेक चक्षु से सचाई का उद्घाटन किया । जितने सिद्धांत उन्हें जिनवाणी के प्रतिकूल लगे, उनका उन्होंने खण्डन किया । उन्होंने इन्द्रियवाद का खण्डन किया, कालवाद का खण्डन किया, पर्यायवाद का खंडन किया । और भी न जाने कितने वादों के विरुद्ध उनकी लेखनी चली । उस एक मेधावी दिमाग ने अनेक वादों को अपनी लेखनी का विषय बनाया, उनके गुणावगुण की समीक्षा की और उनके इस समीक्षात्मक दृष्टिकोण से उनकी संघर्ष चेतना को नए-नए आयाम मिलते रहे ।

रूढ़िवाद के विरुद्ध

आचार्य भिक्षु ने सामाजिक मान्यताओं और अंधविश्वासों पर भी कड़ा प्रहार किया । उस समय पर्दा एक सामाजिक रूढ़ि बना हुआ था । आचार्य भिक्षु ने पर्दा-प्रथा पर प्रहार करते हुए लिखा—

नारी लाज करै घणी, न दिखावै मुख न आंख ।

गाल्यां गावण ओसरी जद, कपड़ा दीघा न्हाख ॥

आचार्य भिक्षु रूढ़िवाद के विरुद्ध एक क्रान्ति बन गए । साधु-समाज

में जो रूढ़ियां थीं, अज्ञानपूर्ण मान्यताएं थीं, उन सबका आचार्य भिक्षु ने निरसन किया। उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों से भी लोहा लिया। गृहस्थ अवस्था में ही आचार्य भिक्षु रूढ़िवाद के प्रबल विरोधी थे। एक बार आचार्य भिक्षु अपने ससुराल गए। भोजन करने बैठे। यह परंपरा थी—जब दामाद भोजन करता तब गीत गाए जाते। बहिनों ने गीत गाए। गीत का एक पद्य था—ओ कुण कालो न काबरो।

आचार्य भिक्षु ने इस पद्य को सुना। उन्होंने देखा—यह क्या? मेरा साला विकलांग है, लंगड़ा है। उसे अच्छा बताया जा रहा है, मुझे काला और काबरा बताया जा रहा है। वे तत्काल खड़े हो गए। थाली को छोड़कर चले गए। उन्होंने भोजन करना स्वीकार नहीं किया।

पहली शताब्दी के आचार्य

आचार्य भिक्षु का समय संघर्ष का समय था। उन्होंने अनेक कोणों पर एक साथ संघर्ष करते हुए तेरापंथ की नींव को मजबूत किया, उसे सुदृढ़ आधार दिया। तेरापंथ की पहली शताब्दी में मुख्यतः तीन आचार्यों का युग रहा—आचार्य भिक्षु, आचार्य भारमलजी और आचार्य रायचंदजी। श्रीमज्जयाचार्य पहली शताब्दी के अन्तिम काल में तथा दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तेरापंथ के क्षितिज पर उभरे। मुख्यतः तीन आचार्यों से जुड़ी हुई है तेरापंथ की पहली शताब्दी।

नेतृत्व की नीतिमत्ता

उस समय एक ओर नए-नए साधु बन रहे थे, नए-नए श्रावक बन रहे थे, नए-नए क्षेत्र उद्घाटित हो रहे थे। दूसरी ओर विरोध तथा संघर्ष, नए-नए रूपों में सामने आ रहा था। इस स्थिति में तेरापंथ के नेतृत्व ने नीतिमत्ता से काम लिया। वही देश और समाज सफल होता है, जिसकी नीतियां बुद्धिमत्ता-पूर्ण होती हैं। कल ही दैनिक हिन्दुस्तान में एक लेख पढ़ा। उसमें देश की आर्थिक स्थिति की समीक्षा करते हुए लिखा गया—यदि हिन्दुस्तान आर्थिक मामलों में प्रारंभ से ही नीतिमत्ता से काम लेता तो आज वह जापान और ताईवान से पीछे नहीं होता। किन्तु यह सचाई है—आर्थिक मामलों से बहुत नीतिमत्ता से काम नहीं लिया गया, नीति-निर्माण में समझदारी से काम नहीं लिया गया इसलिए देश आज भी आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है।

सिद्धांत : नया परिवेश

आचार्य भिक्षु ने सिद्धांतों के निर्माण में नीतिमत्ता से काम लिया। उन्होंने जनता के सामने कोरे सिद्धांत नहीं रखे। उन्होंने तेरापंथ के सिद्धांतों को सुन्दर गीतिकाओं में निबद्ध कर जनता के सामने प्रस्तुत किया।

लोकधुनों पर रचे गए गीतों में भरे हुए सिद्धांत जन-जन के मुख पर मुखरित हो उठे। उनकी अनुकम्पा की ढालों, विनीत-अविनीत की ढालों, श्रद्धा की ढालों ने जनता के मानस को उनके रंग में भिगो दिया। वे गीत, वे सिद्धांत जन-जन के हृदय में स्थान बनाते चले गए। आचार्य भिक्षु के बुद्धि-कौशल से तेरापंथ के सिद्धांत जनता के सिद्धांत बन गए और संघर्षों को झेलते हुए भी तेरापंथ विकास की दिशा में अनवरत बढ़ता रहा।

संविधान

संघर्ष के इस युग में ही आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का संविधान लिखा। जब नया संविधान लिखा जाता है तब एक संविधान-परिषद् की स्थापना की जाती है। तेरापंथ में भी ऐसा ही क्रम चलता है। किसी भी नए मुद्दे पर विचार करने के लिए दस-बीस चितनशील साधु-साधवियों की गोष्ठी बुलाई जाती है। वे सब मिलकर उस मुद्दे पर विचार-मंथन करते हैं। उससे जो निष्कर्ष आते हैं, वे आचार्य के सामने प्रस्तुत कर दिये जाते हैं और आचार्य जो निर्णय देते हैं, वह संघ को मान्य होता है। जब आचार्य भिक्षु ने संविधान लिखा तब उन्होंने किसी से परामर्श नहीं किया। उस समय कोई परामर्श देने वाला था ही नहीं। उन्होंने पहला संविधान संवत् १८३२ में लिखा और अन्तिम संविधान संवत् १८५९ में। इस बीच संविधान में परिष्कार होता रहा, नए मुद्दे जुड़ते रहे किंतु संविधान की मूलभूत धाराओं में कोई अन्तर नहीं आया। सवा दो सौ वर्ष पूर्व बनाई गई वे धाराएं आज भी उसी रूप में प्रतिष्ठित बनी हुई हैं।

व्यक्तित्व-निर्माण

आचार्य भिक्षु के सामने एक कार्य था व्यक्तित्व निर्माण का। वे जीवन भर साधु-साधवियों के निर्माण में लगे रहे। उन्होंने अपने सबसे निकट व्यक्ति मुनि भारमलजी का निर्माण किया। भारमलजी स्वामी के जीवन-निर्माण में उन्होंने अनुशासन का प्रयोग किया। जब भारमलजी स्वामी बहुत छोटे थे, तब उन्हें नींद बहुत सताती। स्वाध्याय के समय नींद आने पर आचार्य भिक्षु उन्हें खड़ा कर देते। जयाचार्य ने लिखा—भारमलजी स्वामी ने अनेक बार खड़े-खड़े पूरे उत्तराध्ययन सूत्र का पुनरावर्तन किया है। वे पूरे एक प्रहर तक खड़े-खड़े स्वाध्याय कर लेते। कभी मुनि भारमलजी आचार्य भिक्षु से निवेदन करते—महारम्भ ! यदि खड़े-खड़े नींद आ गई तो मैं गिर जाऊंगा। आचार्य भिक्षु कहते—भारमल ! स्वाध्याय खड़े-खड़े करना है। यदि गिरने की आशंका है तो भीत का सहारा ले लो। आचार्य भारमलजी का जीवन आचार्य भिक्षु के अनुशासन और व्यक्तित्व निर्माण कला का जीवन्त उदाहरण है।

पहली प्रलम्ब यात्रा

आचार्य भिक्षु ने संघर्ष की स्थिति को बहुत भेला। आचार्य भारमलजी के सामने संघर्ष के अवसर कम आए। तेरापंथ के लिए एक सामान्य और स्थिर स्थिति निर्मित हो गई। तेरापंथ की पहली शताब्दी में तीसरे आचार्य हुए आचार्यश्री रायचंदजी। उनके युग में विकास का क्रम शुरू हुआ। तेरापंथ का स्थायित्व सुदृढ़ बना। वह विस्तार पाने लगा। साधु-साधवियों की संख्या काफी बढ़ गई। जब आचार्य रायचंद महाराज देवलोको पधारे तब साधु-साधवियां संख्या की दृष्टि से भी बहुत थे। आचार्य भिक्षु के समय तेरह साधुओं से तेरापंथ का प्रारंभ हुआ था और तीसरे आचार्य के अवसान के समय दो सौ दस साधु-साधवियां थे। श्रावकों की संख्या में भी वृद्धि हुई। क्षेत्रों की संख्या भी विस्तार पाने लगी। संभवतः आचार्य भिक्षु और आचार्य भारमलजी ने राजस्थान से बाहर पैर नहीं रखा किंतु आचार्य रायचंदजी ने लंबी यात्रा का श्रीगणेश किया। वे राजस्थान, सौराष्ट्र, कच्छ, गुजरात पधारे और वहां से पुनः राजस्थान में पधार कर पाली में चौमासा किया। यह तेरापंथ के आचार्यों की पहली प्रलम्ब-यात्रा थी।

पुस्तकों की समस्या

जैसे-जैसे विस्तार बढ़ा, पुस्तकें भी सुलभ होने लगीं। आचार्य भिक्षु के समय में पुस्तकों की उपलब्धि एक समस्या थी। पढ़ने के लिए भी पूरे आगम नहीं मिल रहे थे। उस समय प्रकाशित पुस्तकें तो थीं ही नहीं, हस्तलिखित प्रतियां भी सुलभ नहीं होती थी। आचार्य भिक्षु को पढ़ने के लिए भगवती सूत्र अत्यन्त मुश्किल से मिला। आज पचासों भगवती सूत्र मिल सकते हैं। उस समय आचार्य भिक्षु को जो भगवती सूत्र की पुस्तक मिली, वह बहुत भीमकाय और वजनी थी। उसे एक हाथ से उठाना सहज संभव नहीं था। ऋषिराय के समय में पुस्तकों की समस्या हल होती चली गई, सारी स्थितियां अनुकूल होती चली गईं। इस सारी अनुकूलता के पीछे तेरापंथ के आचार्यों का जुझारूपन बोल रहा है।

पहली शताब्दी की प्राणवत्ता

तेरापंथ की पहली शताब्दी का समग्र विश्लेषण करें तो कहा जा सकता है—तेरापंथ की पहली शताब्दी नए मूल्यों को स्थापित करने एवं पुराने मूल्यों को बदलने की शताब्दी थी। वह संघर्षों और कष्टों की शान्ति से भेलने की शताब्दी थी। वह समता, स्थिरता और धैर्य की शताब्दी थी। अगर ये सारी बातें नहीं होती तो तेरापंथ विकासशील धर्मसंघ नहीं बनता, उसका विकास-पथ अवरुद्ध हो जाता। आचार्य भिक्षु के व्यक्तित्व में इन सारी बातों का विकास था। उस उदात्त और महान् चरित्र ने अनेक स्थापनाएं,

अवधारणाएं प्रस्तुत कीं, जिनसे तेरापंथ की नींव मजबूत बनती चली गई और विकास का मार्ग प्रशस्त बन गया। तेरापंथ की पहली शताब्दी संघर्ष, स्थापना और विकास की पृष्ठभूमि से अनुप्राणित है और वह आज भी संघ के प्रत्येक व्यक्ति के लिए दिशाबोध बनी हुई है।

दूसरी शताब्दी का तेरापंथ

निर्माण की शताब्दी

तेरापंथ की दूसरी शताब्दी का श्रीगणेश श्रीमज्जयाचार्य ने किया और उसकी परिसंपन्नता आचार्यश्री तुलसी ने की। दूसरी शताब्दी के प्रारंभ में कोई आयोजन नहीं हुआ किंतु उसकी संपन्नता पर विशाल आयोजन हुए। तेरापंथ की द्विशताब्दी राजसमंद में मनाई गई और पूरे एक वर्ष तक मनाई गई। जैन समाज में स्मृति-ग्रंथों और अभिनंदनों का एक सिलसिला शुरू हो गया था किंतु इतना बड़ा आयोजन वह पहला ही था। मान लेना चाहिए—वह योगक्षेम वर्ष का लघु संस्करण था। योगक्षेम वर्ष में ३५० साधु-साधवियां एक साथ रह रहे हैं और उस समय राजसमंद में लगभग दो सौ साधु-साधवियां एक साथ रहे थे। इतने साधु-साधवियों का एक साथ रहना उस समय एक महान् घटना थी और योगक्षेम वर्ष में इतने साधु-साधवियों का एक साथ रहना भी एक महान् घटना है।

परिवर्तन : पहला संदर्भ

तेरापंथ की दूसरी शताब्दी निर्माण की शताब्दी है। जयाचार्य ने निर्माण का युग शुरू किया। उन्होंने तेरापंथ को एक नया रूप दिया, आधुनिक रूप दिया। परिवर्तन का पहला बिन्दु बना—वेश-भूषा। आचार्य भिक्षु से लेकर आचार्य रायचंदजी तक तेरापंथ के साधु-साधवियों का वेश दूसरा था, पूर्व परम्परा का था। जिस समाज से क्रांति कर तेरापंथ जन्मा, उस स्थानकवासी समाज का वेश चल रहा था। जयाचार्य ने वेश का परिवर्तन किया। छोटी मुखवस्त्रिका और व्यवस्थित पछेवड़ी बांधने का क्रम शुरू हो गया। रजोहरण और प्रमार्जनी कैसे बनाना, पात्र कैसे बनाना, आदि-आदि बातों में कला और सौन्दर्य का विकास होने लगा। आज पाश्चात्य दर्शन में सौन्दर्य विकास की एक पूरी शाखा है। वस्तुतः दृश्य जगत् में जो आता है, वह सौन्दर्य ही आता है। भद्दापन देखते ही व्यक्ति भड़क जाता है। जयाचार्य ने कला और सौन्दर्य को परिष्कृत रूप प्रदान किया।

मर्यादा : ध्यावहारिक रूप

आचार्य भिक्षु ने संघ व्यवस्था को एक नया रूप दिया था। उन्होंने कहा था—मैं न्याय, संविभाग और समभाव की वृद्धि के लिए मर्यादाएं बना रहा हूं। जयाचार्य ने आचार्य भिक्षु कृत मर्यादाओं को प्रायोगिक और

व्यावहारिक रूप प्रदान किया। पहले संविभाग की बात विधान में थी पर व्यवहार में नहीं थी। व्यवहार में पुरुष-प्रधान व्यवस्था होती थी। पहले साधु-साधवियों जो गोचरी लाते, उसमें से साधु अपने लिए रख लेते और बचा-खुचा साधवियों को दे देते। ऐसा व्यवस्था और संस्कार बना हुआ था। जयाचार्य ने इस व्यवस्था को बदला और उसे संविभाग एवं समत्व प्रधान बना दिया।

नई व्यवस्था

उस समय साधु-साधवियों का भी कोई व्यवस्थित क्रम नहीं था। किसी के पास पांच साधवियां थीं, किसी के पास दस साधवियां थीं और किसी के पास उससे भी ज्यादा साधवियां थीं। आचार्य भिक्षु ने यह विधान बना दिया—कोई साधु-साध्वी अपनी चेला-चेली न बनाए। पर शिष्य-शिष्या न बनाने का रूप नहीं बना था। आचार्य के नाम से दीक्षा दी जा सकती थी, आचार्य की आज्ञा से दीक्षा दी जा सकती थी और दीक्षा देकर आचार्य का शिष्यत्व भी स्वीकार करवा दिया जाता किन्तु दीक्षित व्यक्ति पर अधिकार दीक्षा देने वाले का ही रहता। जिसने जिसके पास दीक्षा ली थी, वह उसी के पास रहता। जयाचार्य ने एक समीकरण कर दिया। आज प्रत्येक सिंघाड़े में चार या पांच साधवियां हैं, दो, तीन या चार संत हैं और वे आचार्य द्वारा प्रदत्त या स्वीकृत हैं। उस समय ऐसा नहीं था। एक-एक व्यक्ति के पास दस-दस साधु और साधवियां थे। जयाचार्य ने इस परम्परा को बदल डाला।

किसी भी जमी हुई व्यवस्था को बदलना कितना कठिन होता है, इसे हम सब जानते हैं। उन्होंने मनोवैज्ञानिक ढंग से इस व्यवस्था-परिवर्तन के मुद्दे को सहजता से समाहित कर लिया। हमारे सामने प्रश्न है—जयाचार्य का शासन कठोर था या मृदु। ऐसा लगता है—उनका अनुशासन इन दोनों से परे किसी तीसरे तत्त्व से अनुप्राणित था। वे इतने प्रयोगात्मक ढंग से काम करते थे कि काम भी हो जाता और स्थितियां भी उग्र नहीं बन पातीं।

पुस्तकों का संघीकरण

हम पुस्तकों के संघीकरण का उदाहरण लें। जयाचार्य ने साधु-साधवियों से कहा—किसी सिंघाड़े (ग्रुप) के पास पुस्तकें बहुत हैं, किसी के पास बहुत कम हैं और किसी के पास है ही नहीं। पुस्तकें सबको चाहिए और वे सबके पास होनी चाहिए। सब अपनी पुस्तकें समर्पित करें तो यह समस्या हल हो सकती है।

साधु-साधवियों ने कहा—पुस्तकें हमारे नेत्राय में हैं। हम उन्हें कैसे दे सकते हैं ?

साधु-साध्वियां किसकी नेश्राय में हैं ?

वे आपकी नेश्राय में हैं ।

हमारे साधु-साध्वियां आपकी पुस्तकों का भार क्यों उठाएंगे ?

जयाचार्य के इस कथन से सब उलझन में फंस गए । वे सब अपनी-अपनी पुस्तकें लाए और जयाचार्य को समर्पित करते चले गए । जयाचार्य को यह आदेश नहीं देना पड़ा—पुस्तकें समर्पित करनी होंगी । उन सारी हस्त-लिखित पुस्तकों पर लिख दिया गया—‘यह पुस्तक भिक्षु, भारीमल आदि वर्तमान आचार्य की नेश्राय में छै ।’ अपने आप पुस्तकों का संघीकरण हो गया । राष्ट्रीयकरण हो गया । अगर यही काम आग्रहपूर्वक होता तो जबर्दस्त प्रतिक्रिया हो सकती थी ।

व्यवस्थित ढंग से, सहजता से सारा कार्य सम्पन्न हो गया । जिनके पास पुस्तकें नहीं थीं उन्हें पुस्तकें दे दी गईं और जिन्होंने पुस्तकें समर्पित की थीं, उन्हें भी आवश्यक पुस्तकें प्राप्त हो गईं ।

स्वामित्व का समीकरण

जयाचार्य ने व्यक्तिगत स्वामित्व को नियंत्रित बना दिया । साम्यवादी प्रणाली में भी व्यक्तिगत स्वामित्व को मिटाया गया पर उसमें एक समस्या पैदा हो गई । साम्यवादी देश आर्थिक मामलों में पूंजीवादी राष्ट्रों से पिछड़ गए, गरीब राष्ट्र बन गए । आज साम्यवादी देशों में पुनः व्यक्तिगत स्वामित्व की छूट दी जा रही है । जयाचार्य ने व्यक्तिगत स्वामित्व को मिटाया और उसे सुरक्षा भी प्रदान की । इसीलिए संघ में किसी प्रकार की विपन्नता नहीं आई । संघ के सदस्यों के मन में यह भाव नहीं जागा—मैं संघ के लिए क्यों करूँ ? जहाँ व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं होता है, वहाँ प्रोत्साहन और प्रेरणा की कमी हो जाती है । जहाँ सामूहिक खेती होती है, सामूहिक फार्म बनते हैं, वहाँ कोई किसी का मालिक नहीं होता । अपने आप एक आलस्य व्यक्ति के मानस पर छा जाता है । प्रत्येक व्यक्ति सोचता है—अमुक काम यह कर लेगा, अमुक काम वह कर लेगा । और ऐसी स्थिति में कोई भी कार्य सफल नहीं बनता । प्रसिद्ध कथा है—राजा ने तालाब में एक-एक लोटा दूध डालने का निर्देश दिया । प्रत्येक व्यक्ति ने सोचा—मैं एक लोटा पानी डाल दूंगा तो क्या फर्क पड़ेगा । परिणाम यह आया—सारा तालाब दूध के स्थान पर पानी से भर गया । कहा जाता है—सोलह हजार देवता चक्रवर्ती के रथ को ले जा रहे थे । एक देवता ने सोचा—यदि एक मैं नहीं उठाऊंगा तो क्या फर्क पड़ेगा । यह चिंतन सबमें संक्रांत हो गया, चक्रवर्ती का रथ समुद्र में जा गिरा ।

सिक्का-प्रणाली

जहां व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं होता वहां भावना बदल जाती है, प्रेरणा बदल जाती है। यह एक महान् कार्य है—व्यक्तिगत स्वामित्व को सीमित करना किन्तु उसके साथ प्रेरणा को न मरने देना। जयाचार्य इस कार्य में बहुत सफल हुए। उन्होंने इतना प्रोत्साहन न दिया होता तो साम्यवाद की जो स्थिति आज है वही स्थिति तेरापंथ धर्म संघ की होती।

जयाचार्य ने अपने समय में सिक्का-प्रणाली का प्रचलन कर अद्भुत कार्य किया। इधर अपरिग्रह का सिद्धांत और उधर सिक्का-प्रणाली। आजकल जो नोट चलते हैं, वे क्या हैं? वे कागज ही हैं किन्तु उनके पीछे सरकार की शक्ति है। जयाचार्य के सिक्के का नाम था 'गाथा'। गाथा-प्रणाली का बहुत उपयोग होता रहा है।

सिक्का विनिमय का साधन है। एक चीज दो और दूसरी चीज ले लो, यही विनिमय है। किसी संत को ग्रन्थ की जरूरत होती और उसके गाथा जमा है तो वह गाथा देकर उस ग्रन्थ की प्रति प्राप्त कर लेता। कोई संत स्वयं पछेवड़ी सीना नहीं जानता, वह एक निश्चित 'गाथा' का विसर्जन कर साध्वियों से पछेवड़ी सिलवा लेता। किसी वृद्ध साधु को समुच्चय का काम करवाना है तो वह उस कार्य के लिए निर्धारित गाथाओं का विसर्जन कर देता, उसका कार्य संपादित हो जाता।

जयाचार्य ने अग्रगण्य पर कर लगा दिया—तुम मुखिया बने हो, तुम्हें सम्मान और प्रतिष्ठा मिली है इसलिए तुम्हें नौ हजार गाथाएं प्रतिवर्ष लिखनी होंगी। एक दिन में पच्चीस गाथा कर-अदायगी के रूप में लिखना अनिवार्य हो गया। अग्रगण्य प्रतिवर्ष नौ हजार गाथाएं जयाचार्य को समर्पित करते। जो साध्वियां रंगाई सिलाई का काम करतीं, उन्हें वे गाथाएं यथानियम वितरित कर दी जातीं। प्रतिवर्ष सर्दी के दिनों में गाथाओं का लेखा-जोखा होता। मैंने देखा है—मंत्री मुनि मगनलालजी और मुनिश्री चौथमलजी खाता खोल कर बैठ जाते और उसका पूरा हिसाब-किताब रखते। किसको कितनी गाथाएं देना है, किससे कितनी गाथाएं लेना है आदि-आदि गाथा-संबंधी कार्यों में पूरा एक मंहीना लग जाता।

गुणोत्कीर्तन : प्रोत्साहन

जयाचार्य ने प्रोत्साहन देने के लिए गाथा-प्रणाली का प्रचलन किया। अहंकार न आए, इस हेतु उन्होंने उसका संघीकरण किया। प्रत्येक व्यक्ति को संघ को सेवा देनी है और उसे अपना काम भी चलाना है। संघीय अपेक्षा की पूर्ति होती रहे, इस दृष्टि से ये कदम महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। प्रोत्साहन का दूसरा रूप था—साधु-साध्वियों का गुणोत्कीर्तन। जब बहिविहारी साधु-

साध्वियां चातुर्मास के बाद गुरुदर्शन के लिए आते, तब जयाचार्य उनकी विशेषताओं की गीतिकाओं, ढालों द्वारा प्रस्तुति देते। उस उपक्रम से गुरु-शिष्य संबंध सुदृढ़ हुए। इससे संघ के विकास को नया आयाम मिला। व्यक्तिगत स्वामित्व न होते हुए भी, अपना-अपना शिष्य-शिष्याएं न होते हुए भी किसी को यह अनुभव नहीं हुआ—मैं अकेला हूं, असहाय हूं। मुझे कौन पूछेगा ? और यही संघ-वृद्धि का एक सुदृढ़ आधार बना।

मर्यादा महोत्सव

जयाचार्य ने मर्यादा महोत्सव की स्थापना की। एक क्रम बन गया—चातुर्मास समाप्त होते ही सारे साधु-साध्वियां उस दिशा में प्रस्थान कर देते, जिस दिशा में आचार्य होते। आचार्य का दर्शन कर सबसे पहले समर्पण युक्त शब्दावली का उच्चारण करते—‘गुरुदेव ! मैं हाजिर हूँ, साधु-साध्वियां और पुस्तक-पन्ने आपके चरणों में हाजिर हैं। आप जहां रखाएं वहां रहने का भाव है।’ चातुर्मास की घोषणाओं का क्रम भी उसी समय शुरू हुआ होगा।

कहना चाहिए—जयाचार्य ने एक प्रकार से संघ का कायाकल्प कर दिया। उनका विवेकपूर्ण श्रम संघ के लिए वरदान बन गया।

ध्वनि : प्रतिध्वनि

प्रसिद्ध कहावत है—यथा राजा तथा प्रजा। इसका अर्थ है—राजा ध्वनि है और प्रजा प्रतिध्वनि है। आचार्य ध्वनि है, संघ प्रतिध्वनि है। ध्वनि अच्छी है तो प्रतिध्वनि अच्छी होगी। हमारा सारा जीवन ध्वनि की प्रतिध्वनि है, बिम्ब का प्रतिबिम्ब है। अगर बिम्ब ठीक नहीं है तो प्रतिबिम्ब ठीक कैसे होगा ? आचार्य की ध्वनि ठीक होती है तो पूरा संघ प्रतिध्वनित हो जाता है। जयाचार्य की ध्वनि पूरे धर्मसंघ में प्रतिध्वनित हुई और तेरापंथ में एक नए युग का सूत्रपात हो गया। यह क्रम आगे बढ़ता चला गया। दूसरी शताब्दी के अनेक आचार्यों—मधवागणी, माणकगणी और डालगणी के समय यह क्रम एक संस्कार जैसा बना। उन्होंने तेरापंथ की परम्पराओं के व्यवस्थापन और उसके विकास में अपना समग्र जीवन नियोजित कर दिया।

विकास की पृष्ठभूमि

दूसरी शताब्दी के पांचवें आचार्य हैं—आचार्य कालूगणी। पूज्य कालूगणी आचार्य तुलसी के निर्माता हैं, मेरे भाग्य-विधाता हैं। तेरापंथ की इस आधुनिक युग में जो स्थिति बनी है, उसकी पृष्ठभूमि के निर्माता पूज्य कालूगणी हैं। कहना चाहिए—पूज्य कालूगणी ने भूमि को ऊर्वरा बना दिया और आचार्य तुलसी पर बीज बोने का दायित्व ढाल दिया। संस्कृत,

प्राकृत आदि विद्याओं का विकास, प्रलम्ब यात्राओं और क्षेत्रों का विकास आदि-आदि की पृष्ठभूमि में कालूगणी का अप्रतिम योगदान रहा है ।

दूसरी शताब्दी के दो दशक

आचार्य तुलसी के पहले दो दशक तेरापंथ की दूसरी शताब्दी से जुड़े हुए हैं । विकास का एक नया और आधुनिक युग तेरापंथ की दूसरी शताब्दी में शुरू हो गया । तीसरी शताब्दी में उसका रूप विराट् बन गया । विक्रम संवत् २००० में विकास का स्पंदन शुरू हो गया । उसने २००५ में आकार लेना शुरू किया, विकास के आधुनिक युग का सूत्रपात हो गया । यह चार दशकों का युग तेरापंथ का नया और आधुनिक युग है । तेरापंथ ने जितनी प्राचीन अर्हताएं अर्जित कीं, संगठन, एकता और व्यवस्था से जो बल पाया, प्रोत्साहन-प्रेरणा का जो संबल मिला, आचार-शुद्धि और विचार शुद्धि का जो अभियान मिला—इन सबको चार दशकों में प्रस्फुटन मिला । इन चार दशकों में तेरापंथ ने जो कुछ किया, उसके हम प्रत्यक्षदर्शी हैं । जिन विकास के चरणों को हमने देखा है, हम उनका अनुभव कर सकते हैं । उनकी व्याख्या और अंकन करना बहुत कठिन है । तेरापंथ का विकास किस प्रकार हुआ ? कैसे हुआ ? इसकी समग्र जानकारी के लिए दो पुस्तकों को गहराई से पढ़ना अपेक्षित है—‘धर्मचक्र का प्रवर्तन’ और ‘प्रज्ञापुरुष जयाचार्य’ । इन दो पुस्तकों में संघ के समग्र विकास का विश्लेषण है ।

विकास के चरण

इन चार दशकों में आचार्य श्री ने तेरापंथ को जो वैज्ञानिक रूप दिया है, बौद्धिक और आध्यात्मिक रूप दिया है, वह अदभुत है । अगर केवल बौद्धिक दृष्टि से विकास होता तो तेरापंथ के साधु-साध्वियां उसके लिए खतरा बन जाते । अनेक व्यक्तियों ने आचार्य श्री से कहा—आप साधु-साध्वियों को पढ़ाकर खतरा मोल क्यों ले रहे हैं ? आचार्यश्री उन लोगों की भी बात सुनते रहे । आचार्यश्री इस सचाई से परिचित भी थे । वे जानते थे—केवल बौद्धिक विकास खतरनाक बन सकता है इसीलिए उसके साथ आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया को बल दिया । उसका परिणाम था—बौद्धिक विकास खतरा नहीं बना किन्तु विकास की गति में तीव्रता का कारण बना । जो इस सचाई को नहीं जानता, उसके लिए बौद्धिक विकास खतरा बन सकता है और जो इस सचाई को जानता है, उसके लिए बौद्धिक विकास वरदान बन जाता है । यही कारण है—बौद्धिक विकास तेरापंथ के लिए कभी खतरा नहीं बन सकता ।

परिवर्तन और विकास का चक्र

आचार्यश्री के युग में परिवर्तन का एक चक्र सा शुरू हो गया । बहुत लम्बा है परिवर्तन का इतिहास—बदलना बड़ा खतरनाक होता है । रुढ़ि पर

चलते चलें, कोई खतरा नहीं होगा। जहाँ भी बदलने की बात आती है, सबसे पहले आस-पास की आस्थाएँ हिलने लग जाती हैं। आचार्यश्री ने परिवर्तन के साथ-साथ अध्यात्म की भावना को मजबूत बनाया। अगर अध्यात्म का विकास नहीं होता तो बाहरी परिवर्तन खतरनाक बन जाता। अध्यात्म के विकास को उपेक्षित कर जो परिवर्तन होता है, वह सचमुच एक खतरा बन जाता है। आचार्यश्री ने इस सचाई के संदर्भ में ही परिवर्तन की नई दिशाएँ उन्मुक्त की। अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात, पारमाथिक शिक्षण संस्था और आदर्श साहित्य संघ के उदय ने परिवर्तन को रचनात्मक भूमिका प्रदान की। अध्यात्म के प्रयोग भी विकसित हुए। भावितात्मा, कुशल, प्रणिधान आदि उपक्रम अध्यात्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। प्राकृतिक-चिकित्सा, आसन-प्राणायाम आदि के प्रयोग भी चलते रहे। व्यक्तिगत साधना का क्रम भी गतिशील बना। प्रेक्षाध्यान का व्यवस्थित रूप सामने आया। उसके साथ-साथ जीवन-विज्ञान का एक नया उपक्रम विकास पा रहा है। ये सारे नए उपक्रम तेरापंथ के आधुनिक युग की उपलब्धियाँ हैं। और भी न जाने कितनी उपलब्धियाँ इस आधुनिक युग में तेरापंथ ने अर्जित की हैं। उन सबका लेखा-जोखा तेरापंथ के गौरवमय इतिहास का स्वर्णपृष्ठ बन सकता है। हमारा विश्वास है—तेरापंथ विकास की दिशा में निरन्तर कदम बढ़ाता हुआ मानव जाति के कल्याण में अग्रणी बना रहेगा।

तीसरी शताब्दी का तेरापंथ

विकास की शताब्दी

तेरापंथ की तीसरी शताब्दी विकास की शताब्दी है। संघर्ष और निर्माण ने विकास को गति दी। तेरापंथ विकास की अनेक दिशाओं में आगे बढ़ता चला गया। तीसरी शताब्दी के तीन दशक बीते हैं। इन तीनों दशकों में जो विकास हुआ है, वह सबके सामने है। उसकी ज्यादा चर्चा करना आवश्यक नहीं लगता पर वह कैसे हुआ ? इसकी चर्चा करना अपेक्षित है।

प्रश्न है अध्यवसाय का

विकास के लिए, सफलता के लिए एक अध्यवसाय की जरूरत होती है। सफलता का मिलना मुश्किल नहीं है। वह प्रत्येक व्यक्ति को मिल सकती है। एक पश्चिमी विचारक ने लिखा—‘सफलता खले बाजार में बिकती है। उसको खरीदने वाला चाहिए, उसका मूल्य चुकाने वाला चाहिए।’ उसका मूल्य है अध्यवसाय। जिस व्यक्ति का संकल्प और अध्यवसाय दृढ़ है, वह जीवन में सफल हो जाता है। जिसका अध्यवसाय दृढ़ नहीं है, वह कभी सफलता को नहीं पा सकता। प्रश्न है अध्यवसाय का। सफलता के लिए प्रथम आवश्यकता है आस्था की। जिस व्यक्ति में आस्था नहीं है, वह कभी सफल नहीं हो सकता।

सफलता का सूत्र : आस्था

आचार्यश्री ने सदा सफलता का जीवन जिया है, ये तीन दशक और अधिक सफलता के बीते हैं। इसका कारण है गहरी आस्था। आचार्यश्री जब भी यात्रा शुरू करेंगे तो दो मिनट रुककर ध्यान करेंगे। कोई नया काम शुरू करेंगे तो दो मिनट रुककर ध्यान करेंगे। आचार्यश्री बहुत बार कहते हैं—मेरे जीवन का एक भी काम ऐसा नहीं है, जिसके पूर्व में कालुगणि की स्मृति न हो। अपने इष्ट के प्रति गहरी आस्था होनी चाहिए। जिस व्यक्ति के पास आस्था की डोर नहीं है, वह पतंग को कभी थाम नहीं सकता। सफलता का पहला सूत्र है—आस्था का गहरा होना।

आत्मविश्वास और संकल्प

दूसरी बात है—आत्मविश्वास, अपने आप पर भरोसा। जिसे अपने आप पर भरोसा नहीं है, वह कभी सफल नहीं हो सकता। मैंने देखा है—

आचार्यश्री का अपने आप पर पूर्ण भरोसा है। वे कोई भी काम संदेह में नहीं करते।

सफलता का तीसरा सूत्र है—संकल्प। जिसमें संकल्प की शक्ति नहीं होती, वह कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। दुनिया में जिन-जिन लोगों ने जितने भी बड़े-बड़े काम किए हैं, वे काम संकल्प के भरोसे पर किए हैं। प्राचीन काल में कहा गया—सत्त्व-सिद्धि। यह सत्त्व-सिद्धि है। अकेला व्यक्ति संकल्प के सहारे बड़े-बड़े काम कर लेता है। हम रोमायण में पढ़ते हैं—अत्यन्त साहसी काम संकल्प के सहारे अकेले हनुमान और जामबंत ने किये। उनका एक मात्र साथी था संकल्प। संकल्प जितना बड़ा साथी है, उतना बड़ा साथी दूसरा कोई नहीं है। आचार्यश्री में संकल्प की बड़ी दृढ़ता है। वे जिस संकल्प को कर लेते हैं, उसे पूरा करके ही विराम लेते हैं।

पुरुषार्थ और भाग्य

सफलता का चौथा सूत्र है—पुरुषार्थ। संकल्प सिद्धि के लिए विवेक-पूर्ण पुरुषार्थ का होना जरूरी है।

सफलता का पांचवां सूत्र है—व्यक्ति का भाग्य।

अध्यवसाय, आत्मविश्वास, संकल्प, पुरुषार्थ और भाग्य—ये सारी बातें प्राप्त होती हैं तब सफलता मिलती है। आचार्यश्री का जीवन इन पांचों समवायों की सफलता का जीवन है। अपने जीवन में सफलता पाना कोई बड़ी बात नहीं है पर पूरे संघ को साथ लेकर सफलता का जीवन जीना बहुत बड़ी बात है। अकेला चमकना कोई बड़ी बात नहीं है। स्वयं चमकना और दूसरों को चमकाना सबसे बड़ी बात है। सचमुच आचार्य वह होता है, जो अकेला नहीं चमकता। कहा जाता है—अकेला दीपक सैकड़ों दीपों को प्रकाशित कर देता है। आचार्य को सभी को साथ लेकर चलना होता है। आचार्यश्री इन तीन दशकों में सदा इस प्रयत्न में लगे रहे हैं।

प्रेरणास्रोत

आचार्यवर ने संघ के लिए इन तीनों दशकों में जो काम किया है, वह सदा अविस्मरणीय रहेगा। आचार्यवर ने इस दौरान कितना कष्ट सहा है! कितनी यात्राएं की हैं! कितना श्रम किया है! प्रश्न हो सकता है—आचार्यश्री इस अवस्था में इतना श्रम क्यों करें? इसके पीछे एक सहज प्रेरणा है और वह है स्वयं के जागरण के साथ-साथ दूसरों को जगाने की। इन तीन दशकों के इतिहास को एक शब्द में बांधा जाए तो वह शब्द होगा—प्रेरणास्रोत।

आगम-संपादन

आचार्यवर प्रेरणा के स्रोत हैं। आचार्यवर की कुछ प्रेरणाएं संघ के

विकास को नया आयाम देने वाली सिद्ध हुई हैं। आगम-संपादन हमारे संघ के भाग्योदय का बहुत बड़ा निमित्त बना। विचार-विकास, व्यक्तित्व-विकास और चिंतन-विकास—इन सबमें आगम-संपादन का कार्य महान् निमित्त बना। आचार्यवर ने धर्मदूत (बौद्ध-पत्र) पत्रिका को पढ़ा और एक प्रेरणा मन में जाग गई। तत्काल मुझे बुलाया और कहा—देखो! बौद्धों का इतना साहित्य प्रकाश में आ चुका है और बुद्ध जयंति के अवसर पर इतनी बड़ी योजना और है। जैनों में ऐसा कोई काम नहीं हो रहा है। इस दिशा में अपने को कुछ कार्य करना चाहिए। यह प्रेरणा आगम-सम्पादन जैसे महान् कार्य का मूल आधार बन गई।

अज्ञात प्रेरणा से ही कोई बड़ा काम हो सकता है। हमारे सामने जितने बड़े काम आए हैं, वे अज्ञात प्रेरणा से आए हैं, चिन्तन से कभी नहीं आए। प्रो० हिरालालजी जबलपुर विश्वविद्यालय के बहुत बड़े विद्वान् थे। उन्होंने आगम-संपादन के संदर्भ में लिखा—‘आज तक जैन-बौद्ध और वैदिक-तीनों के साहित्य का संपादन हुआ है पर इतना समीक्षापूर्वक और सुनिश्चित टिप्पणियों से युक्त प्रकाशन किसी भी ग्रंथ का नहीं हुआ। मैं इसे सम्पादन का कीर्तिमान मानता हूँ।’ यह सम्पत्ति सैकड़ों-सैकड़ों विद्वानों की है।

प्रेक्षाध्यान

आज हम देखते हैं—प्रेक्षाध्यान का कार्य बहुत व्यापक बन गया है। पर यह हुआ कैसे? विक्रम संवत् २०१९ के उदयपुर चतुर्मास में उत्तराध्ययन का सम्पादन कार्य चल रहा था। उस समय हमारा क्रम था—दिन में जो काम होता, सायं प्रतिक्रमण के बाद आचार्यवर को हम उसकी जानकारी दे देते। उस समय २९ वें अध्ययन का संपादन चल रहा था। उसमें एक प्रसंग था ध्यान का। मैंने कहा—ध्यान पर हमारे यहां सामग्री बहुत है। आचार्यवर ने तत्काल कहा—जैन धर्म में ध्यान की परम्परा छूट गई है। इसे पुनः जोड़ना चाहिए। इस प्रेरणा ने प्रेक्षाध्यान का बीज-वपन कर दिया। आचार्यवर ने जिस क्षण यह प्रेरणा दी, उसी क्षण प्रेक्षाध्यान ने जन्म ले लिया।

जैन विद्या पाठ्यक्रम

छापर में पट्ट महोत्सव का कार्यक्रम चल रहा था। आचार्यश्री के हाथ में एक पत्रिका थी। आचार्यवर ने कहा—इसमें रूस का एक पाठ्यक्रम छपा है। यह बहुत अच्छा पाठ्यक्रम लगता है, इसे पढ़ो। मैंने उसे पढ़ा। चिंतन आया—क्या अपने यहां भी ऐसा पाठ्यक्रम नहीं होना चाहिए? इस एक प्रेरणा से सप्ताह भर में सात वर्ष का पाठ्यक्रम तैयार हो गया। योग्य, योग्यतर और योग्यतम की पढ़ाई शुरू हो गई। आज तेरापंथ में जो

साधु-साध्वियां लिखने वाले हैं; लेखक और साहित्यकार हैं, वे सब उन्हीं पाठ्यक्रमों में से निष्णात होकर आए हैं।

अणुव्रत

आचार्यवर के मन में प्रेरणा जागी—हमारे पास श्रावक आते हैं, उपासना करते हैं, सेवा करते हैं और चले जाते हैं। वे इतनी श्रद्धा देते हैं। हम उन्हें वापस क्या देते हैं? यह एक प्रेरणा जागी और इसका परिणाम अणुव्रत आंदोलन के रूप में सामने आया। पहले यही सोचा गया था—श्रावकों के लिए कुछ बनाना चाहिए। चिंतन-मंथन के पश्चात् श्रावकों के लिए कुछ व्रत बने। धीरे-धीरे एक विस्तृत आचार-संहिता बन गई। उसे अणुव्रत की आधार-भूत संहिता कहा जा सकता है। छोटी-सी प्रेरणा मिली और अणुव्रत आंदोलन सामने आ गया।

समण श्रेणी

समण श्रेणी की प्रेरणा भी ऐसे ही हुई। बात छोटी-सी थी। आज के युग की बड़ी समस्याएं हैं और हमारी अपेक्षाएं बहुत बढ़ गई हैं। साधु-साध्वियां अपनी सीमा में हैं। इसका क्या विकल्प होना चाहिए? एक उपासक संघ बनाया गया किन्तु उससे उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। ऐसी अनुभूति हुई—गृहस्थ पूरा काम नहीं कर सकते। कल्पना आगे बढ़ी—कुछ गृहस्थ संन्यासी बनें। वे पदयात्रा, भोजन आदि के नियम से बंधे हुए न हों। एक नये संन्यास की कल्पना प्रस्तुत हो गई, समण श्रेणी का सूत्रपात हो गया। समण श्रेणी में दीक्षित होने वाले गृहस्थ नहीं हैं, उनका न घर से संबंध है, न परिग्रह से संबंध है। इसे मानना चाहिए—नया संन्यास। इस कार्य में भी बहुत अवरोध आए किंतु आचार्यवर के संकल्प को पूरा होना था, समणियों की विलक्षण दीक्षा हो गई।

प्रेरणा और क्रियान्विति का युग

यह तीन दशक का युग प्रेरणा और क्रियान्विति का युग रहा है। नई-नई प्रेरणाएं उठीं, नए-नए विकल्प उठे और उनकी पूर्ति के उपक्रम चलते रहे। इन तीन दशकों में तेरापथ का कायाकल्प हुआ है पर वह मूल आधार को सुरक्षित रखते हुए हुआ है। एक दिन भी आचार्यवर के मन में यह नहीं आया—अपनी मौलिकता को कहीं छोड़ दें। जो भी परिवर्तन करना है, वह मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए करना है। मूल बात को छोड़े बिना बदलना ही बदलना कहलाता है। मूल बात को छोड़ कर बदलने का मतलब है—विनाश। मूल आधार को सुरक्षित रखते हुए बदलने का अर्थ है विकास। तेरापथ का मूल आधार सदा सुरक्षित रहा है इसीलिए विकास उसकी नियति बना हुआ है।

इक्कीसवीं शताब्दी का तेरापंथ

वर्तमान का दर्पण

आचार्य भिक्षु का एक सूत्र मुझे याद है कि हमें कार्तिक का ज्योतिषी होना चाहिए, आषाढ का ज्योतिषी नहीं। आषाढ के ज्योतिषी से पूछा जाए—फसल कैसी होगी? वह इसका सही उत्तर नहीं दे सकता। प्रश्न बंधर में लटक जाता है। कार्तिक का ज्योतिषी निश्चय की भाषा में फसल के विषय में बता सकता है, क्योंकि सारी स्थिति उसके सामने प्रत्यक्ष होती है।

प्रश्न है—‘इक्कीसवीं शताब्दी का तेरापन्थ संघ कैसा होगा?’ मैं इसकी भविष्यवाणी नहीं करूंगा, क्योंकि मैंने भविष्य का पथ नहीं चुना है। अतीत और भविष्य से दूर रहकर मैंने अपने वर्तमान के दर्पण को स्वच्छ बनाने का प्रयत्न किया है, इसलिए भविष्य का चित्र बनाने की कोई जरूरत ही नहीं है। वर्तमान का दर्पण निर्मल होता है तो अतीत का चित्र उसमें प्रतिबिम्बित होता है और भविष्य भी उसमें से भांकता है। सबसे बड़ा काम है वर्तमान के दर्पण को निर्मल बनाना। वर्तमान के निर्मल दर्पण में जो कोई देखेगा उसे स्वयं ही दिख जाएगा कि ‘इक्कीसवीं शताब्दी का तेरापंथ संघ कैसा होगा।’

धर्म और संघ

धर्म और संघ—ये दो तथ्य हैं। मेरे दाएं हाथ की ओर धर्म है, बाएं हाथ की ओर संघ है। आचार्य तुलसी दो वाहनों पर सवारी कर रहे हैं। एक ओर संघ के वाहन पर चढ़कर यात्रा कर रहे हैं, दूसरी ओर धर्म के वाहन पर चढ़कर यात्रा कर रहे हैं। वे प्रशासक हैं, संघ के अधिनायक हैं। वे संघ की यात्रा कर रहे हैं अतः उन्हें प्रशासक होना आवश्यक है, शिक्षक होना आवश्यक है, शिक्षा देना आवश्यक है, सारणा-वारणा करना आवश्यक है। जो कुछ घटित हुआ है, हो रहा है, वह संघ की यात्रा के कारण हो रहा है। संघ के लिए ये बातें जरूरी हैं। संघ का होना बहुत ही खतरनाक काम है। जहां संघ है वहां समस्याएं हैं। संघ और समस्या—दोनों अन्योन्याश्रित हैं। संघ का मतलब ही है समस्याओं को जन्म देना। दो व्यक्तियों के होने का अर्थ ही है समस्या को उत्पन्न करना। अकेले में कोई समस्या नहीं होती। जहां दो हुए कि समस्या का बीज भी साथ-साथ पैदा हो गया।

संघ से जुड़ी समस्या

महाराज दधिवाहन एक यात्रा पर गए। मार्ग में एक आदमी मिला। उसने राजा को एक आमफल उपहृत किया। आम का इतना बड़ा फल राजा ने पहले नहीं देखा था। वह सुंदर, मधुर और सुवासित था। उस व्यक्ति ने कहा—राजन् ! यह दिव्य फल है, दिव्य आम है। ऐसा फल मनुष्य लोक में नहीं होता। राजा ने आम चखा बहुत स्वादिष्ट आम था। राजा ने अपने माली को बुलाया और गुठली देते हुए कहा—इसे उगाओ। इन पौधे को दूध से सींचो, सुरक्षा करो, इसका पालन-पोषण करो।

तीन वर्ष बीत गए। वृक्ष फल देने लगा। राजा ने चखा। बहुत मीठा, बहुत स्वादिष्ट। राजा ने अपने मित्र राजाओं के पास एक-एक फल भेजा किन्तु जहाँ से अंकुर फूटता है उसे काट डाला। एक राजा ने फल देखा। उसके रूप-रंग से प्रभावित हुआ किन्तु यह देख कर सन्न रह गया कि उसके अंकुर को तोड़ डाला गया है। उसके मन में एक भावना जागी। उसने अपने विश्वस्त माली को बुलाकर कहा—क्या तुम महाराज दधिवाहन के आम की बाड़ी को नष्ट कर सकते हो ? उसने कहा—हां, कर सकता हूं। राजा ने उसे हजार दीनार दिए। माली वहां से सीधा दधिवाहन के पास पहुंचा। अपनी विशेषताएं बताईं। राजा प्रसन्न हुआ। राजा ने अपने माली के साथ उसे काम में लगा दिया। उसने काम प्रारम्भ किया। राजा प्रसन्न हुआ। पुराने माली को दूसरी बाड़ी की देखभाल के लिए भेज दिया। उस आगन्तुक माली ने आम के वृक्ष के चारों ओर नीम के वृक्ष लगा दिए। जो आम दूध और सुगंधित जलों से सींचा जाता था, उसके चारों ओर नीम के पेड़ लग गए। नीम की जड़ें बढ़ने लगीं, गहरी होती चलीं गईं। उन जड़ों ने आम की जड़ों को आक्रान्त कर दिया। आम के वृक्ष पर आम लगे। माली आम ले आया। राजा चखते ही बोल उठा—यह क्या ? इतना दिव्य और स्वादिष्ट आम कड़वा कैसे हो गया ? राजा नहीं जानता था—बढ़िया और खुशबूदार आम के आसपास दुनिया नीम भी उगा डालती है।

कोई भी संघ प्रगति करेगा, अपूर्व आम उत्पन्न करेगा तो निश्चित मानिए—उसके आस-पास नीम उगाने वाले भी मिलेंगे। जहाँ संघ है वहाँ निश्चित ही समस्या पैदा होगी। समस्याओं को रोका नहीं जा सकता। यह विश्व का शाश्वत नियम है। इसे झुठलाया नहीं जा सकता।

अध्यात्म का पक्ष

हम दूसरे पक्ष पर विचार करें। यदि कोरा संघ होता, आचार्यश्री कोरे प्रशास्ता होते तो शायद मेरे जैसा आदमी गांव की अपेक्षा जंगल में रहने वाला होता। मैं न संघ-जगत् के कम काम का हूं और न किसी जगत् के लिए

अधिक काम का हूं। इस स्थिति में मैं आचार्य तुलसी के पास कभी नहीं रहता। एक बार मूर्धन्य-साहित्यकारों ने मुझसे पूछा—आप एक संप्रदाय में रहते हैं। क्या आपको कभी कठिनाई मालूम नहीं होती। दिनकरजी और लोहियाजी ने भी यह प्रश्न पूछा। मैंने कहा—कभी कठिनाई नहीं हुई। यदि आचार्य तुलसी कोरे संघ के प्रशास्ता ही होते तो कठिनाई होती। वे प्रशास्ता के साथ-साथ धार्मिक भी हैं, धर्म के नेता भी हैं। जहां धर्म की दृष्टि होती है, धर्म की उपलब्धि होती है वहां आम को कड़वा बनाने वाली नीम की जड़ों को उखाड़ दिया जाता है। धर्मनेता आम को कड़वा बनाने वाली जड़ों को काटना जानता है, नीमों को हटाना जानता है, आम को अकेला बनाना भी जानता है। राजा दधिवाहन ने वैसा ही किया। नीम की सारी जड़ें काट दीं। आम पुनः मीठा हो गया। यह है अध्यात्म या धर्म का पक्ष।

नई संभावना : अणुव्रत

आजकल यह कल्पना की जा रही है कि ऐसा युग आए, जिसमें कोरा आदमी हो, वह न स्पृश्य हो और न अस्पृश्य। यह बहुत अच्छी कल्पना है; सुन्दर स्वप्न है। आचार्य श्री ने यह संभावना पैदा की है। अणुव्रत का स्वर सामने आया। उसका घोष रहा—मनुष्य मनुष्य है। वह मनुष्य बना रहे। बस, इतना ही काम्य है। हम कन्याकुमारी गए। वहां भी यह घोष गूंज उठा। लोगों ने कहा—अनेक आचार्य आते हैं किंतु किसी सम्प्रदाय की चर्चा न करने वाले आचार्य तुलसी प्रथम आचार्य हैं। हमने इनसे मानव को मानव बनाने का स्वर सुना है। हमारे सामने एक प्रश्न था—क्या उपदेश मात्र से मानव मानव बन जाएगा? हजार बार हम कान में गुंजार करें कि तुम मानव बन जाओ, नैतिक बन जाओ, प्रामाणिक बन जाओ, क्या ये सब घटित हो जाएंगे? क्या मानव मानव बन जाएगा? केवल उपदेश से ऐसा होना संभव नहीं लगता।

नौकरानी ने मालकिन के बढ़िया कपड़े चुरा लिया। मालकिन ने कहा—तुमने कपड़े चुराए हैं? उसने कहा—नहीं, नहीं, मैंने नहीं चुराए। मेरे पास वे शब्द नहीं हैं जिनसे मैं आपको विश्वास दिला सकूं कि मैंने चोरी नहीं की है। मालकिन बोली—तुम्हें शब्द चाहिए विश्वास दिलाने के लिए किन्तु मुझे मेरे कपड़े चाहिए, शब्द नहीं चाहिए।

केवल शब्दों से कुछ नहीं होता। ऐसा मानव बनना चाहिए, जहां विषमता समाप्त हो जाए, मानव सच्चा मानव बन जाए। यह कैसे हो? यह एक प्रश्न है। ऐसा अध्यात्म के द्वारा ही हो सकता है।

भविष्य की वर्तमान संदर्भ में देखें

अणुव्रत के द्वारा प्रसारित होने वाली नैतिकता का मूल राष्ट्रीयता

नहीं है, उस का मूल है अध्यात्म । हमने प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति के माध्यम से अणुव्रत की नैतिकता को अध्यात्म के शाश्वत स्वर के साथ जोड़ दिया । अब कहने की जरूरत नहीं है, उपदेश देने की जरूरत नहीं है । तेरापंथ का प्रत्येक व्यक्ति को आह्वान है—आओ, बैठो, करो । मत बोलो, मत सोचो, मत करो । आंखें बंद करो । भीतर देखो । बिना कहे, बिना सुने भी आदमी बदल जाता है । जब आदमी भीतर में देखना प्रारम्भ करता है तब ऐसा रासायनिक परिवर्तन होता है, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । विचित्र घटनाएं घटित होती हैं । हम भीतर देखने का अभ्यास करें । जीवन की दिशा को बदल दें । देखने की दिशा बदलते ही जीवन की दिशा बदल जाती है ।

जिस व्यक्ति ने अपने वर्तमान के दर्पण को निर्मल बनाने का प्रयत्न किया है, उस दर्पण में क्या प्रतिबिम्बित नहीं होगा ? अपेक्षित है—इक्कीसवीं शताब्दी का तेरापंथ कैसा होगा, इसको वर्तमान की संचयी उपलब्धियों और गतिविधियों के निर्मल दर्पण में देखें, सब कुछ प्रतिभासित हो जाएगा ।

तेरापंथ की भावी कल्पनाएं, आयाम और योजनाएं

एक रूसी कहावत है—तुम्हारे पास एक वर्ष का समय हो तो बाजरा बोओ, दस वर्ष का समय हो तो पेड़ लगाओ और सौ वर्ष का समय हो तो आदमी को शिक्षित करो। सबसे जटिल काम है आदमी को शिक्षित करना, व्यक्तित्व का निर्माण करना। योगक्षेम वर्ष का एक लक्ष्य बना आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण। यह नया लगता है पर वास्तव में नया नहीं है। राणावास चातुर्मास में एक योजना बनी थी। उस योजना का लक्ष्य था व्यक्तित्व का निर्माण। उस समय कुछ साधु-साधवियों और समणियों का चुनाव किया गया। वह कार्य इस योगक्षेम वर्ष की पृष्ठभूमि बना।

प्रश्न है प्रारंभ का

हम इस कहावत की याद रखें—व्यक्तित्व निर्माण के लिए सौ वर्ष का समय चाहिए। ऐसा कोई भी काम एक वर्ष या पांच वर्ष में पूरा नहीं हो सकता। हम कल्पना करें—आज ही सारी मान्यताएं, रूढ़ विचार, गलत धारणाएं—सब कुछ बदल जाएं और सारे प्रशिक्षक १०० टंच का सोना बन जाए। यह कल्पना यथार्थ की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। यह समय सापेक्ष प्रयत्न है। प्रश्न है प्रारंभ बिन्दु का। यदि आचार्य भिक्षु संविधान नहीं लिखते तो आज तेरापंथ का यह रूप नहीं बनता। उन्होंने संविधान को एक रूप दे दिया। उसे विकसित होने में शताब्दियां लगी हैं। आचार्यवर ने व्यक्तित्व निर्माण की जो कल्पना की है, उसके लिए जो क्रम शुरू किया है यदि वह क्रम १०-२० वर्ष अनन्तर चलता रहे तो हमारे सामने बहुत से व्यक्तित्व आ जाएंगे।

विशेषज्ञ सामने आएँ

विकास का एक नया आयाम है—संघ में विशेषज्ञ होने चाहिए। विद्या की जितनी शाखाएं हैं—संस्कृत, प्राकृत आदि के विशेषज्ञ विद्वान् सामने आएँ। जैन दर्शन, अणुव्रत आदि विषयों के विशेषज्ञ व्यक्ति निर्मित हों। इन क्षेत्रों में पांच-दस ऐसे व्यक्तित्व हों, जो केवल तेरापंथ समाज के लिए ही नहीं किन्तु पूरे हिन्दुस्तान के लोगों के लिए हों। जिसको जिस विषय में जानना हो वह उन्हीं के पास जाए। ऐसे विशेषज्ञ तैयार हों तो संघ का बहुत बड़ा विकास हो सकता है। यह सबसे जटिल कार्य है। आदमी सबसे ज्यादा

जटिल प्राणी है। उसका निर्माण अत्यन्त श्रम-साध्य है। जब श्रम जीवनगत बनता है तब निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है। लुई पाश्चर कहते थे—‘जिस दिन मैं श्रम नहीं करता, मुझे ऐसा महसूस होता है जैसे मैंने कोई चोरी की हो।’ चुप बैठने और मनसूबा बनाने से कोई कार्य नहीं बन सकता। बादल बरसता है पर बीज तो व्यक्ति को ही बोना होगा। अगर बीज नहीं बोएगा तो कुछ नहीं होगा।

ईसा और मार्क्स

योगक्षेम वर्ष में एक प्रारूप सामने आया—आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण का। इस सूत्र की आज सारी दुनिया को जरूरत है। आज वैज्ञानिक और आध्यात्मिक—दोनों अलग-अलग हैं, इसलिए समस्याओं से परेशान हैं। आज संसार को दोनों का समन्वित रूप चाहिए।

रूस के लोगों ने बहुत वर्ष पहले एक आन्दोलन किया। उसका उद्देश्य था—हमें मार्क्स नहीं चाहिए और हमें ईसा भी नहीं चाहिए, हमें चाहिए एक ऐसा व्यक्तित्व, जो ईसा भी हो और मार्क्स भी हो।

अनेकांत का सूत्र

इसी सूत्र को सौभाग्य से तेरापंथ ने पकड़ा है। योगक्षेम वर्ष के कार्यक्रम का आधारभूत सूत्र यही रहा है—ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण, जिसमें पूरी आध्यात्मिक चेतना का विकास हो और साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी विकास हो। यदि व्यक्ति आध्यात्मिक बनने के बाद भी रूढ़िवादी बन गया तो खतरनाक बन जाएगा। वैज्ञानिक बन गया और आध्यात्मिक नहीं बना तो भी उसका खतरनाक होना स्पष्ट है। इन दोनों को मिलाएँ तो खतरनाक नहीं होगा।

यह सूत्र अनेकांत का सूत्र है। कोरा आध्यात्मिक होना एकांगी दृष्टिकोण है। कोरा वैज्ञानिक होना भी एकांगी दृष्टिकोण है। दोनों को मिलाने का मतलब है—अनेकांत।

जैन जीवन शैली

तेरापंथ की एक कल्पना है—जैन जीवन शैली का विकास। श्रावक समाज का तेरापंथ के विकास में बहुत बड़ा योगदान रहा है। अतीत और वर्तमान—दोनों को देखें। अतीत में श्रावकों ने धर्म-संघ को आगे बढ़ाने में बहुत योगदान दिया। चाहे साधु-साध्वियों की यात्राएं हुईं, आचार्यों की यात्राएं हुईं, चाहे संघ की विभिन्न प्रवृत्तियों—अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान आदि का इतना काम आगे बढ़ा। इन सबमें श्रावकों का बहुत बड़ा योग रहा है। श्रावकों के योग के बिना कोई काम सफल हो नहीं सकता। उनके लिए एक जीवन शैली का विकास करना अनिवार्य है, किससे छीना-भपटी के वर्तमान

युग में श्रावक शान्तिपूर्ण और अच्छा जीवन जी सकें। ऐसी शैली का विकास करना हमारी भावी योजना का महत्त्वपूर्ण अंग है।

जैन विद्या

तीसरा बिन्दु है जैन विद्या। इस क्षेत्र में भविष्य में बहुत काम करने की जरूरत है। बौद्ध धर्म की विद्याओं का काफी विकास हुआ पर जैन विद्याएं उपेक्षित रहीं। जैन लोगों ने विशेष प्रयत्न नहीं किया। इसका एक कारण बना—पुरानी धारणाएं और दूसरा कारण रहा—जैन समाज इसका मूल्यांकन नहीं कर सका। व्यापारी समाज धन कमाने की जितनी चिन्ता करता है, विद्या की उतनी चिन्ता नहीं करता। सचाई यह है—जो भी संघ विश्वव्यापी शक्ति बनता है, वह विद्या और विचार के द्वारा ही बनता है। संसार में किसी धर्म के अनुयायी उसी के द्वारा बनते हैं। कला, विद्या आदि के द्वारा बड़े-बड़े काम होते हैं।

जैन विश्व भारती

जैन विश्व भारती विद्या का महत्त्वपूर्ण संस्थान है। अभी भी समाज इसका ठीक मूल्यांकन नहीं कर रहा है। लोग यही समझ रहे हैं—मकान बन जाएंगे, एक स्थान बन जायेगा। पर इसके माध्यम से इन १५-२० वर्षों में विश्व के कोने-कोने में जैन विद्या का जो स्वर गूँजा है और जो संपर्क हुआ है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। अनेक लोग जैन धर्म को जानने के लिए जैन विश्व भारती में आना चाहते हैं। आज जरूरी है जैन विद्याओं को विश्व-व्यापी बनाना और उनका सही मूल्यांकन कराना। हमारा विश्वास है—जिस विद्या के पास अनेकांत जैसा विश्वव्यापी सिद्धांत है, वह अवश्य ही शक्तिशाली बन जाएगी। आज विज्ञान, जीवन व्यवहार और दर्शन के क्षेत्र में जो ब्रह्मास्त्र जैसा शक्तिशाली अस्त्र है, उस अनेकान्त का कोई उपयोग नहीं हो रहा है। अगर इसका ठीक उपयोग किया जाये तो बहुत सारी समस्याओं का समाधान मिल सकता है। जैन धर्म के पास अहिंसा और अपरिग्रह का सुन्दर दर्शन है पर उसका भी उपयोग नहीं हो रहा है। जैन विद्या के विकास के क्षेत्र में हमारी निरन्तरता चले और समर्पण भाव से कुछ साधु-साध्वियां, कुछ श्रावक-श्राविकाएं अपना योगदान दें तो शायद जैन विश्व भारती जैन विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र बन जाए। पुराने जमाने में नालन्दा, तक्षशिला आदि विश्वविद्यालयों का जो रूप था, वह रूप जैन विश्व भारती का भी बन सकता है।

यह जैन शासन की सेवा है

इसमें किसी का व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है, न आचार्यश्री का स्वार्थ है न हमारा स्वार्थ है। यह किसी व्यक्ति-विशेष का काम नहीं है, यह जैन शासन की सेवा है। हजारों वर्षों की परम्परा में जैनाचार्यों ने हर क्षेत्र में

बहुत बड़ा अवदान दिया पर आज हमारी बहुत सारी विद्याएं ऐसे हा पड़ी हैं। यदि हम उन सबको संसार के सामने रख सकें तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित हो सकता है। जैन विद्या के लिए आज जैसा स्वर्ण युग फिर नहीं आएगा। आज व्यक्ति का मानस कुछ ऐसा बना हुआ है, जहां भी अच्छाई दिखे उसे ग्रहण करने को तैयार है। जैन विद्या के विकास का माध्यम बन सकता है जैन विश्व भारती। यह भ्रांति भी दूर होनी आवश्यक है कि जैन विश्व भारती में बने हुए मकान ही जैन विश्व भारती हैं। जैन विश्व भारती का लक्ष्य है जैन विद्याओं की सेवा करना, उन्हें इतना आगे बढ़ाना, जिससे जैन धर्म के प्रति लोगों का आकर्षण जागे, लोग जैन धर्म को पढ़ें और उसके द्वारा जीवन को उन्नत बनाएं।

जैन एकता का प्रश्न

चौथा बिन्दु है जैन शासन की एकता। आचार्यवर ने इस दिशा में काम किया है—पर लगता है, इन वर्षों में यह कार्य कुछ मंद पड़ गया है। जैन समन्वय मंच—इसका एक माध्यम बन सकता है। डॉ० दयानन्द भागव ने एक बार कहा था—हजारों वर्षों में जैन आचार्यों ने सब दर्शनों का खंडन किया। इस अवधि में हरिभद्र सूरि, यशोविजय, सिद्धसेन आदि आचार्यों ने समन्वय की बात भी कही। जैन विश्व भारती को इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। इसमें सब दर्शनों पर काम होना चाहिए, क्योंकि अनेकांत के पास वे चाबियां हैं, जो समन्वय कर सकती हैं। इस कार्य में नयी स्थापना और नया प्रस्थान संभव हो पायेगा।

समन्वय मंच

एक ऐसे समन्वय मंच पर जैन शासन एकत्र हो, जहां अपने संप्रदायों का अस्तित्व बनाये रखते हुए भी जैन शासन की अखंडता का दर्शन हो सके। अमृत महोत्सव के अवसर पर आचार्यवर ने ऐसा प्रयत्न किया था। आचार्यवर का संदेश लेकर हमारे श्रावकों ने इस दृष्टि से यात्राएं भी की थीं किन्तु कार्य अभी भी पूरा नहीं हुआ है। यह भी तेरापंथ की भावी योजना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है—जैन शासन की एकता और समन्वय मंच की स्थापना। यदि अनेकांत का अनुयायी भी यह काम नहीं कर सके तो उसे अनेकांत का बोझ ढोना भी बन्द कर देना चाहिए।

अहिंसा और विश्व शान्ति के प्रयत्न

पांचवा बिन्दु है अन्तर्राष्ट्रीय मंच का निर्माण, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अहिंसा और विश्व शान्ति के प्रयत्न। आज बड़ी समस्या है हिंसा और युद्ध की। उसके निवारण में हमारी शक्ति लगनी चाहिए। जहां अहिंसा का प्रश्न आएगा, सबसे पहले जैनों का नाम आएगा। जितनी सूक्ष्मता के साथ जैन

धर्म ने अहिंसा का प्रतिपादन किया है उतनी सूक्ष्मता से किसी ने नहीं किया। यह मान लेना चाहिए—अहिंसा जैन धर्म की बपौती बनी हुई है। यदि जैन धर्म के लोग हिंसा और युद्ध की समस्याओं के संदर्भ में काम न करें तो उससे बड़ी कोई चिन्ता की बात नहीं हो सकती। इस उद्देश्य से कल्पना की गई थी अहिंसा सार्वभौम की। इसी संदर्भ में गत वर्ष विश्वशान्ति और अहिंसा पर अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस हुई थी। इस कार्य को विकसित करना है। विश्व में जितने भी संस्थान अहिंसा के लिए, युद्धवर्जना के लिए कार्य कर रहे हैं उनके साथ संपर्क कर इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाना तेरापंथ समाज का एक मुख्य दायित्व होना चाहिए।

पांच बिन्दु नहीं, पांच सिन्धु हैं

ये पांच कार्यक्रम पांच बिन्दु नहीं, पांच सिन्धु हैं। विशेषज्ञ व्यक्तियों का निर्माण, जैन जीवन शैली का विकास, जैन विद्या, जैन एकता और अहिंसा एवं विश्व शांति—इन पांच बिन्दुओं को मिलाते-मिलाते पांच सिन्धु बना दें तो एक महान अवदान का सृजन हो सकता है। व्यक्ति अनन्त नहीं हो सकता पर संतति अनन्त होती है। हमें इस कार्य के प्रति निरन्तरता को बनाए रखना है। यदि कल्पना, योजना और संकल्प हमारे साथ रहे तो हम निश्चित ही लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे। इन पांचों दिशाओं में हमारे समाज की शक्ति लगे तो ये कल्पनाएं मूर्तरूप लेंगी। आशा करनी चाहिए—समाज के लिए, संसार के लिए ये पांच बिन्दु कल्याणकारी और मंगलकारी सिद्ध होंगे।

शासन-अनुशासन

तेरापंथ की तीन विशेषताएं

विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में एक विचार-क्रांति घटित हुई। फलस्वरूप आचार्य भिक्षु की प्रतिभा ने तेरापंथ को जन्म दिया। उस समय पूज्य रुघनाथजी स्थानकवासी परंपरा के सुप्रसिद्ध आचार्य थे। संत भीखणजी उनके पास दीक्षित हुए। कुछ विचार-भेद के कारण वे उस परंपरा से मुक्त हो गए। उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति, अनासक्ति, विरक्ति, तपस्या और चतुर्मुखी प्रतिभा से जनता आकर्षित हुई। तेरापंथ का उद्भव हो गया।

जैन धर्म की दो मुख्य धाराएं — श्वेताम्बर और दिगम्बर पहले से प्रचलित थीं। श्वेताम्बर शाखा में संवेगी और स्थानकवासी, ये दो प्रशाखाएं थीं। तेरापंथ के उद्भव के बाद तीन प्रशाखाएं हो गईं। शाखा-प्रशाखा का होना विकास का स्वाभाविक क्रम है। मेरी दृष्टि में शतशाखी वृक्ष विशाल और रमणीय होता है। तेरापंथ ने जैन परम्परा की विशालता और रमणीयता में वृद्धि की है। आचार्य भिक्षु ने जिस संगठन की स्थाना की, उसकी अपनी कुछ मौलिक विशेषताएं हैं। उसकी तीन मुख्य आधारशिलाएं हैं—

(१) निष्कर्म, (२) हृदय-परिवर्तन और (३) सापेक्षता।

निष्कर्म

शरीर-धारण के लिए कर्म की अनिवार्यता है। शुद्ध चेतना के जागरण के लिए निष्कर्म की अनिवार्यता है। कर्म और निष्कर्म का संतुलन ही धर्म का मर्म है। जहां कोरा कर्म होता है, वहां स्पर्धा और संघर्ष के स्फुलिंग उछलते हैं। कोरा निष्कर्म होता है, वहां संघ नहीं होता, परंपरा नहीं होती। परंपरा, संघ और साधना — तीनों की समन्विति के लिए कर्म और निष्कर्म — दोनों की समन्विति अपेक्षित है। आचार्य भिक्षु ने स्पर्धा और संघर्ष के वातावरण को देख निष्कर्म को प्रधानता दी। इसीलिए उनके अध्यात्मवादी या निवृत्तिपरक विचारों को समझने में कुछ कठिनाइयां हुई थीं। आचार्य भिक्षु ने आचार्य कुंदकुंद की आध्यात्मिक परंपरा को नए संदर्भ में उज्जीवित किया।

पद प्रतिष्ठा के लिए नहीं है

स्थूल व्यवहार के स्तर पर चलने वाले लोग उसकी गहराई तक नहीं पहुंच सके। उन्हें वह धारा व्यवहार का उन्मूलन करने वाली लगी। इसलिए उसका विरोध भी हुआ। किन्तु सचाई यह है कि आचार्य भिक्षु तेरापंथ के

माध्यम से अध्यात्म की तर्कशुद्ध पद्धति प्रस्तुत की।

आचार्य भिक्षु ने निष्कर्म को केवल सैद्धांतिक रूप में ही प्रतिष्ठित नहीं किया, उसे व्यवस्था के स्तर पर भी प्रतिष्ठा दी। कर्म की बहुलता कामना की बहुलता से जुड़ी रहती है। निष्काम और निष्कर्म अलग-अलग नहीं होते। निष्कर्म होगा वहां निष्काम होगा और निष्काम होगा वहां निष्कर्म होगा। पद के लिए उम्मीदवार नहीं बन्गूँगा—यह व्यवस्था-सूत्र निष्कर्म और निष्काम—दोनों की फलश्रुति है। पद कार्य के लिए है, सेवा के लिए है, प्रतिष्ठा के लिए नहीं है—इस सिद्धांत के आधार पर तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीजयाचार्य ने पद के समर्पण की व्यवस्था की। अग्रणी साधु-साध्वी चातुर्मास के बाद आचार्य के पास आए, तब पद का समर्पण कर दे। इस व्यवस्था के अनुसार लगभग सवा सौ अग्रणी साधु-साध्वियां आचार्य के पास उपस्थित होते ही इस व्यवस्था को दोहराते हैं—‘मैं, मेरे सहगामी साधु (या साध्वी) तथा पुस्तकें आपके चरणों में प्रस्तुत हैं, आप जहां रखेंगे, वहीं हम रहेंगे।’ यह समर्पण या ममकार-विसर्जन की अन्तःप्रेरणा तेरापंथ को नई शक्ति और नई स्फूर्ति प्रदान करती है।

हृदय-परिवर्तन

आचार्य भिक्षु ने यह स्वीकार किया कि साध्य और साधन—दोनों की शुद्धि हुए बिना धर्म नहीं हो सकता। इस सिद्धांत की व्याख्या में हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत विकसित हुआ। हृदय-परिवर्तन के लिए विराट् प्रेम का होना जरूरी है। जिसके हृदय में क्रूरता छिपी रहती है, वह हृदय-परिवर्तन करने में सफल नहीं होता। गोकुलदास नानजी भाई गांधी ने लिखा है कि आचार्य भिक्षु का साध्य-साधन की शुद्धि और हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत-बीज श्रीमद् रायचन्द्र के पास पहुंचा और श्रीमद् के माध्यम से वह महात्मा गांधी तक पहुंचा। मेरी दृष्टि में साधन-शुद्धि पर आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी ने जितना विशद चिन्तन किया है, उतना अन्य चिन्तकों ने नहीं किया।

आचार्य भिक्षु ने संघ का विधि-पत्र लिख साधुओं की स्वीकृति के लिए उनके सामने प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने कहा—‘जिन्हें इन मर्यादाओं में विश्वास हो, वे इस विधि-पत्र को अपनी स्वीकृति दें और जिन्हें विश्वास न हो, वे संकोचवश इसे स्वीकार न करें।’ यह हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत सर्वत्र मान्यता प्राप्त कर चुका है। वैचारिक परिवर्तन राजनीतिक परिवर्तन से अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

सापेक्षता

जैन धर्म में सामुदायिक साधना की पद्धति बहुत पहले मान्य है। इसीलिए जैन परम्परा में संघ का बहुत महत्त्व रहा है। आचार्य भिक्षु ने इस महत्त्व का मूल्यांकन किया और सापेक्षता के आधार पर संघ की व्यवस्था

की। तेरापंथ की साधुसंस्था ने सेवा के क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित किए। समता और सापेक्षता एक-दूसरे के पूरक हैं। तेरापंथ ने अपनी व्यवस्था में समता को इतना विकसित किया कि उसे जानकर श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा—‘तेरापंथ की संघ-व्यवस्था में सवा सोलह आना समाजवाद है।’ धर्म का मूल समता है। भगवान् महावीर ने इसे सर्वाधिक महत्त्व दिया था। यह कटु सत्य है कि श्रावक समाज ने इस व्यवस्था का अनुगमन नहीं किया।

साहित्य-साधना

आचार्य भिक्षु की वाणी अनुभव की वाणी थी। उन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे। वे राजस्थानी साहित्य के गौरव-ग्रंथ हैं। उनके चतुर्थ उत्तराधिकारी जयाचार्य ने लाखों पद्य लिखे। उनका गद्य साहित्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। आचार्य तुलसी और उनके शिष्य-मंडल ने अनेक रचनाएं की हैं। उन्होंने साहित्य जगत् को प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी में अनेक ग्रन्थ दिए हैं। एक साथ इतनी बड़ी संख्या में साधु-साधवियों की साहित्यिक प्रतिभा का विकसित होना कोई नियति का योग ही है।

अणुव्रत आंदोलन

आचार्य भिक्षु ने धर्म की व्यापकता स्वीकार की। भगवान् महावीर की वाणी के आधार पर उन्होंने कहा—‘धर्म देशातीत और सम्प्रदायातीत है।’ इस स्वीकृति ने तेरापंथ के नवम आचार्य को अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तन की प्रेरणा दी। अणुव्रत आन्दोलन किसी सम्प्रदाय और उपासना पद्धति से आबद्ध नहीं है। यह शुद्ध अर्थ में धर्म की आचार-संहिता है। वह सार्वकालिक और सार्वदेशिक है। इस आंदोलन ने धर्म-समन्वय के मंच की भूमिका निभाई है और सब सम्प्रदायों के लोगों ने इसे अपनाया है।

अनुशासन का प्रतीक—मर्यादा महोत्सव

तेरापंथ के आचार्य अनुशासन को अत्यधिक महत्त्व देते रहे हैं। उनके अनुसार अनुशासनयुक्त संघ ही वास्तव में संघ होता है। जो अनुशासन युक्त नहीं होता वह कोरा अस्थियों का ढेर मात्र होता है। तेरापंथ के श्रमण-श्रमणी संघ ने भी अपनी अनुशासन-प्रियता के द्वारा संघ को शक्तिशाली बनाया है। प्रतिवर्ष चातुर्मास के बाद आचार्य के पास आना, मर्यादाओं का पुनरावर्तन करना और आचार्य के निर्देशानुसार पुनः विहार करना—समर्पण के सजीव चित्र हैं, जो भाग्य से ही किसी विरल संगठन की भित्ति पर आलेखित होते हैं। तेरापंथ विक्रम संवत् १९२० से प्रतिवर्ष मर्यादा का महोत्सव मना रहा है।

अध्यात्म-उद्योति

अनुशासन यंत्र है। वह व्यक्ति की चेतना को नियन्त्रित कर अन्तर

की ज्योति को आवृत कर देता है। व्यवहार की भूमिका में उसका मूल्य हो सकता है पर सत्य की भूमिका पर उसे मूल्य प्राप्त नहीं होता। वहाँ मूल्य होता है अंतर्मुखी वृत्ति का, जो अनुशासन को आंतरिकता प्रदान करती है। आचार्यश्री तुलसी ने अध्यात्म-साधना के विकास की दिशा में कुछ विशिष्ट प्रयत्न किए हैं। जैन परम्परा में ध्यान के नए उन्मेष लाने में ये प्रयत्न बहुत मूल्यवान् सिद्ध हुए हैं।

कला-कौशल

‘सत्य’ हमारे अन्तर में होता है, ‘शिव’ हमारे परिपार्श्व में होता है और ‘सुन्दर’ हमारे कार्य में अभिव्यक्त होता है। कोई भी संगठन परिपूर्ण नहीं होता, विश्व की कोई भी रचना पूर्ण नहीं होती। अपूर्णता से पूर्णता की दिशा में बढ़ने का प्रयत्न ही ‘सत्य शिव सुन्दर’ की उपलब्धि है। तेरापंथ के साधु-साध्वी समाज ने कला के क्षेत्र में विशेष प्रगति की है। सूक्ष्माक्षर की लिपि, सिलाई, रंगाई, घर्मोपकरण का निर्माण—इन्हें आध्यात्मिक मूल्य न दिया जाए, फिर भी एकाग्रता और कौशल का मूल्य अवश्य दिया जाएगा।

हमने सत्य के पक्ष में आध्यात्मिक और संगठन के पक्ष में व्यावहारिक जीवन जीना स्वीकार किया है, इसलिए हमारे संघ ने दोनों क्षेत्रों में समन्वित गति की है। तेरापंथ का विकास राजस्थान के लिए गौरव और जैन परंपरा के लिए महत्वानुभूति का विषय है। कोई भी तटस्थ इतिहासकार इस वास्तविकता पर स्वीकृति दिए बिना नहीं रहता।

संघ की अखंडता का सूत्र

संघ और साधना—इन दोनों का योग एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। संघ यदि साधना-शून्य हो तो वह धर्मसंघ नहीं हो सकता और यदि साधना अकेले में हो तो धर्मसंघ नहीं हो सकता। धर्मसंघ तभी हो सकता है जब अनेक साधु समूह में रहकर साधना कर सकें और करते हों। तेरापथ एक धर्मसंघ है। उसमें संगठन और साधना—दोनों संभावनाएं एक साथ कार्य कर रही हैं। आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि साधना के लिए अनुशासन जरूरी है। कोई भी साधु गुरु के अनुशासन या मार्ग-दर्शन के बिना साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, सही मार्ग पर चल नहीं सकता। योग की विशिष्ट साधना में समर्पण का बहुत मूल्य है। जो साधु अपने गुरु और साधना-पद्धति के प्रति सर्वात्मना समर्पित नहीं होता, वह सिद्धि तक नहीं पहुंच पाता। यह समर्पण गुरु के लिए जरूरी नहीं है, किन्तु यह साधु की अपनी प्रगति के लिए जरूरी है। समर्पण का अर्थ है—सब संदेहों से मुक्त होकर गुरु द्वारा बताए गए अभ्यास में लग जाना। यदि मन में किंचित भी संदेह शेष रहता है तो साधक गुरु-निर्दिष्ट अभ्यास-क्रम में सर्वात्मना लग नहीं सकता और इसमें लगे बिना सफलता तक नहीं पहुंच सकता। यह समर्पण साधना के क्षेत्र में ही नहीं, किसी भी विशिष्ट कला, शिल्प और विद्या के क्षेत्र में भी उपयोगी होता है।

विशिष्ट व्यवस्था

साधना करने वाले समूह का समर्पण एकीभूत और घनीभूत होकर संघ बनता है। उसका केन्द्र संघपति या आचार्य होता है। पथ-दर्शन की क्षमता के कारण आचार्य संघ के सूत्रधार, पालक और पोषक होते हैं।

आचार्य भिक्षु ने एक संघ और एक संघपति की विशिष्ट व्यवस्था की। अनेक संघ और अनेक संघपति की व्यवस्था यद्यपि पुरानी है, फिर भी एक संघ और एक संघपति की जो विशेषता है, वह अनेकता की व्यवस्था में कभी उपलब्ध नहीं होती। जब साधुओं की संख्या बहुत अधिक हो, एक संघ में उनकी शिक्षा और साधना की व्यवस्था सम्यक् नहीं बन पाती हो तब अनेक संघों की प्रणाली अपने आप जन्म लेती है, किंतु सामूहिक शिक्षा और साधना की व्यवस्था में कठिनाई न आए, उस स्थिति में एक प्रकार का मार्ग-दर्शन अधिक उपयोगी हो सकता है, एक संघ अधिक सफलता से साधना

का संचालन कर सकता है ।

सफलता का मानदंड

साधु जीवन की सफलता का मानदण्ड है—साधना । साधु संघ में रहकर व्यवस्था उपलब्ध करता है, यह उसके सामूहिक जीवन की प्रक्रिया है और मार्ग-दर्शन उपलब्ध करता है, यह उसके जीवन की सफलता का मौलिक आधार है । समूह का जीवन जीने वालों के लिए व्यवस्था स्वाभाविक है । आचार्य भिक्षु कुशल व्यवस्थाकार थे । उन्होंने धर्मसंघ को अनुत्तर व्यवस्था दी । उस व्यवस्था की अपनी विशेषता है कि लगभग सात सौ साधु साध्वियों का धर्मसंघ सामूहिक जीवन जीने में आनन्द का अनुभव कर रहा है । साधना के क्षेत्र में परस्पर सहयोग और स्वानुभव—दोनों एक साथ जरूरी होते हैं । परस्पर सहयोग का अर्थ होता है—संघ और स्वानुभव का अर्थ होता है—व्यक्ति, अकेलापन । अकेलेपन का अनुभव हुए बिना साधना नहीं हो सकती और पारस्परिक सहयोग की अनुभूति हुए बिना संघ नहीं हो सकता । संघ और साधना—दोनों का साथ हो, उसके लिए आचार्य भिक्षु ने एक महत्वपूर्ण मार्ग-दर्शन दिया कि साधु गण में रहता हुआ भी अकेला रहे । जो साधु दलबंदी नहीं करता, न अपना दल बनाता है और न किसी दूसरे दल में शामिल होता है, वह समूचे संघ को ही अपना आश्रयदाता मानता है । पारस्परिक सहयोग का आदान-प्रदान करते हुए भी साधना की दृष्टि से जो सदा अपने को अकेला अनुभव करता है, वह संघ में रहते हुए भी अकेला होता है । ऐसा साधु ही वास्तव में साधना का उपयुक्त पात्र है ।

निष्ठा विभक्त न हो

आचार्य भिक्षु ने एक मर्यादा का विधान किया—संघ से पृथक् होने वाला साधु या साध्वी किसी दूसरे साधु या साध्वी को अपने साथ न ले जाए, कोई आना चाहे तो भी न ले जाए । यह मर्यादा धर्मसंघ की एक अनुपम मर्यादा है । इसका मूल्यांकन संघ के सन्दर्भ में नहीं किन्तु साधना के सदर्भ में करना बहुत जरूरी है । धर्मसंघ में दीक्षित होने वाला साधु साधना के प्रति समर्पित होकर मार्ग-दर्शन के लिए संघ या संघपति के प्रति समर्पित होता है, किसी व्यक्ति विशेष के प्रति समर्पित नहीं होता । यदि वह किसी व्यक्ति विशेष से अनुबंधित होकर धर्मसंघ को छोड़ता है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह संघ के प्रति किए गए समर्पण के प्रति निष्ठावान् नहीं है, किसी व्यक्ति विशेष के प्रति निष्ठावान् है । यह निष्ठा का अभाव ही उसकी साधना के प्रति निष्ठा नहीं है—इस बात का सूचक है । संगठन के लिए जरूरी है कि निष्ठा विभक्त न हो । हमारे धर्मसंघ में आचार्य को बहुत सम्मान दिया जाता है । उनके प्रति बहुत ही आदरपूर्ण और विनम्र

व्यवहार किया जाता है। यह सब अहेतुक नहीं है। इसके पीछे एक गहरा हेतु है और वह है निष्ठा का केन्द्रीकरण। एक केन्द्र में केन्द्रित निष्ठा ही संगठन को चिरजीवी बना सकती है। दूसरे साधुओं के प्रति निष्ठा न हो, इसका यह फलित नहीं है किन्तु सर्वोपरि निष्ठा आचार्य के प्रति हो, यह इसका सहज फलित है। इसी फलित के आधार पर तेरापंथ धर्मसंघ दो शताब्दियों से अधिक समय की अवधि में अपनी एकता को सुरक्षित रख पाया है और भविष्य में भी रख पाएगा।

आकर्षण का केन्द्र

तेरापंथ धर्मसंघ के मर्यादा-पत्र (संविधान) की जानकारी प्रत्येक श्रावक के लिए जरूरी है। पुराने जमाने में मर्यादा-पत्र का सामूहिक वाचन सप्ताह में दो बार होता था। आजकल पक्ष में एक बार होता है। पहले बचपन से ही मर्यादा-पत्र को सुनने का मौका मिल जाता था। जिस दिन मर्यादा-पत्र का वाचन होता, हाजरी होती, उस दिन बहुत लोग एकत्रित होते और बच्चों के लिए वह विशेष आकर्षण का केन्द्र होता। उनके आकर्षण का मुख्य विषय होता, साधुओं अथवा कभी-कभी साधु-साध्वियों की पंक्ति। मर्यादा-पत्र के वाचन के उपरांत साधु पंक्तिबद्ध खड़े होकर मर्यादाओं को दोहराते, यह सबके लिए आकर्षण का केन्द्र बनता। बच्चों के लिए यह दृश्य विशेष आकर्षण का केन्द्र बनता। जब पंक्ति देखने को आते तब अनायास ही मर्यादा-पत्र के व्यवस्था-सूत्र सुनने को मिल जाते और बचपन से ही उनके मन में एक विशेष महत्व का भाव निर्मित हो जाता।

गंभीर प्रश्न

आजकल स्कूली जीवन की व्यवस्था के कारण न उतना सम्पर्क होता पाता है और न ही मर्यादा-पत्र को सुनने का अवसर मिलता है। इसलिए बहुत सारे युवक भी संघ की मौलिक मर्यादाओं से अपरिचित होते हैं। वे संगठन के प्रति अपने दायित्व और कर्तव्य से परिचित नहीं होते और साथ-साथ संगठन की अक्षुण्णता के मौलिक अचार से भी परिचित नहीं होते। फलतः कभी-कभी कुछ व्यक्ति संघ से पृथक् होने वाले व्यक्तियों से जुड़ जाते हैं और संगठन के विपक्ष में खड़े हो जाते हैं। यह एक गंभीर प्रश्न है और इस प्रश्न पर गंभीरता से चिन्तन करना जरूरी है। धर्म-संघ की अक्षुण्णता के लिए आचार्य उत्तरदायी होते हैं। साथ-साथ समूचा संघ भी उत्तरदायी होता है। यह सामूहिक उत्तरदायित्व है। इसमें आचार्य का बहुत बड़ा भाग है किन्तु कुछ न कुछ दायित्व संघ के प्रत्येक सदस्य का भी होता है। यह अपेक्षित है—कोई भी व्यक्ति अपने दायित्व को न भूले। सामूहिक साधना के लिए धर्मसंघ की प्रेरणा और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए अपने दायित्व के प्रति विशेष जागरूक बने और वैसा आचरण करे, जिससे संघ की अखंडता को और अधिक सिंचन मिले।

संगठन का आधार

जिसकी जड़ें मजबूत नहीं होतीं, उसका कोई मूल्य नहीं होता। जो पेड़ फल नहीं देता, उस वृक्ष का भी कोई मूल्य नहीं होता। हम मजबूत जड़ों को चाहते हैं और फल को भी चाहते हैं। तेरापन्थ के मर्यादा महोत्सव की जड़ें मजबूत हैं। इस अवसर पर हम अतीत का स्मरण करते हैं और आचार्य भिक्षु के प्रति सहज ही प्रणत हो जाते हैं। किन्तु कोरे अतीत के गीत-गाने मात्र से कुछ नहीं होगा।

दुनिया स्वप्न लेने से नहीं बदलती

एक मंत्री ने सम्राट् से कहा—महाराज ! एक बहुत सुन्दर फार्मूला मुझे मिल गया है। अब राज्य में कोई गरीब नहीं रहेगा, सब अमीर बन जाएंगे। सम्राट् ने कहा—बहुत अच्छी बात है। बताओ, वह फार्मूला क्या है ? मंत्री ने कहा—कल से हमारी घोषणा हो जाएगी कि समूचे देश में गरीब श्रीखण्ड खाया करेंगे तथा अमीर छाछ पिया करेंगे। सम्राट् ने कहा—यह कैसे संभव होगा ? मंत्री बोला—बहुत सरल बात है। हमारी घोषणा होगी—कल से श्रीखंड को छाछ कहना होगा तथा छाछ को श्रीखंड कहना होगा। सम्राट् स्तब्ध रह गया। बहुत अच्छा फार्मूला है गरीब को अमीर बनाने का और अमीर को गरीब बनाने का।

यदि इस प्रकार शब्दों की हेरफेर और कल्पना से परिवर्तन होता तो आज सारी दुनियाँ बदल जाती, सारी दुनिया का नक्शा बदल जाता। किन्तु यह सचाई है—केवल स्वप्न लेने वाले, स्वप्न को साकार नहीं करने वाले लोगों ने कभी दुनिया को नहीं बदला।

तत्त्ववेत्ता

आचार्य भिक्षु ने स्वप्न लिया किन्तु कोरा स्वप्न नहीं लिया, काल्पनिक स्वप्न नहीं लिया। उनमें कर्तृत्व था। उन्होंने अपने कर्तृत्व से अपने स्वप्नों को साकार किया। केवल नाम नहीं बदला कि श्रीखंड छाछ कहलाएगा और छाछ श्रीखंड कहलाएगी। आचार्य भिक्षु में तीन विशेष बातें थीं। वे तत्त्ववेत्ता थे, आचारनिष्ठ थे तथा संगठन-प्रिय थे।

हम संगठन की महिमा बहुत गाते हैं पर पहली बात संगठन नहीं है। पहली बात है तत्त्वज्ञान। यदि हमारी तात्त्विक भूमिका मजबूत नहीं है तो संगठन होगा ही नहीं और होगा तो होने के साथ-साथ ढहने भी लग

जाएगा। आचार भिक्षु संगठनकार बाद में थे। सबसे पहले वे तत्त्ववेत्ता थे। उन्होंने जो ज्ञान की धारा बहाई, वह आज भी तैरापंथ दर्शन का प्राणतत्त्व बनी हुई है। उनके अनुयायी भी पूरी तरह नहीं जानते होंगे कि वे कितने बड़े तत्त्ववेत्ता थे।

आचार-निष्ठा

वे आचारनिष्ठ थे। तत्त्वज्ञान की सुरक्षा और आचार की सुरक्षा के लिए उन्होंने संगठन बनाया। तात्त्विक भूमिका तथा आचारनिष्ठा पर ही तैरापंथ धर्मसंघ टिका हुआ है। जब परम्परा सुरक्षित रहती है, तब हजारों व्यक्ति उसमें से निकलते रहते हैं। परम्परा मजबूत नहीं रहती है तो संभावनाएं भी समाप्त हो जाती हैं। हम वर्तमान को भी न भूलें। यदि आचार्यश्री तुलसी केवल आचार्य भिक्षु की परम्परा की सुरक्षा, केवल उसकी पहरेदारी ही करते और कुछ न करते तो वर्तमान में यह पेड़ फल देने वाला नहीं होता, फलदायी नहीं होता। जड़ों की मजबूती होने पर भी उसका मूल्य कम हो जाता।

मैं चौकीदार नहीं हूं

एक राजा ने अपने खजाने के बहुमूल्य रत्न, हीरे, पन्ने, माणिक बेचने शुरू कर दिए और नए खरीदने भी शुरू कर दिए। खजांची ने एक दिन कहा—महाराज ! आपके पुरखों ने बड़े प्रयत्न के साथ खजाना भरा था और आप इस प्रकार हेरफेर कर रहे हैं। यह कैसे उचित होगा ? राजा ने कहा—तुम इस बात का ध्यान रखो कि मैं मालिक हूं, चौकीदार नहीं। चौकीदार का काम होता है केवल रखवाली करना। मैं चौकीदार नहीं हूं। मैं स्वामी हूं, मैं जो चाहे कर सकता हूं।

महान् कल्पवृक्ष

यदि आचार्यश्री तुलसी केवल चौकीदार होते तो जो आचार्य भिक्षु ने किया, उसकी सुरक्षा ही करते चले जाते और वे ही लकीरें आज तक बनी रहतीं। आचार्यश्री तुलसी ने यह अनुभव किया—मैं चौकीदार नहीं हूं। मैं मालिक हूं, स्वामी हूं। खजाने का जो मालिक होता है, उसे अधिकार होता है, चाहे उन रत्नों को काम में ले, चाहे गहने बनवाए, चाहे बेचे और चाहे नए खरीदे। आचार्यप्रवर ने मर्यादाओं का जो विकास किया, आज की अपेक्षाओं को पूरा किया इसीलिए किया कि वे चौकीदार नहीं हैं, स्वामी हैं।

तैरापंथ के इस महान् कल्पवृक्ष की जड़ें बहुत मजबूत हैं और इसमें फल देने की क्षमता है। जड़ों का मजबूत होना और फल देने की क्षमता का होना—जिसमें ये दोनों बातें होती हैं, उसका मूल्य सदा बना रहता है, कभी समाप्त नहीं होता।

एकता की अनुभूति के क्षण

मैं जिस मुनिगण में दीक्षित हूँ, उसका नाम तेरापंथ है। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का एक अर्थ किया—जहाँ पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, पांच समितियाँ—ईर्ष्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग तथा तीन गुप्तियाँ—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तेरह नियम पालनीय हैं, वह तेरापंथ है।

एक दिन अध्ययन करते-करते मैंने पूज्यपाद का निम्न श्लोक पढ़ा तो मैं आश्चर्यचकित रह गया। मैंने मन-ही-मन सोचा—ओह ! कितना विचित्र साम्य !—वह श्लोक यह है :

तिलः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः,

पंचेयादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि ।

चारित्र्योपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दृष्टं परं-

राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरात् नमामो वयम् ॥

तेरापंथ की एक मर्यादा है कि मुनि सामान्य परिस्थिति में भोजन करने के पश्चात् दिन में न सोए।

मैं एक दिन आयुर्वेद का संक्षिप्त किन्तु सुन्दर ग्रंथ 'अष्टांगहृदय' (सूत्रस्थान) पढ़ रहा था। मुझे लगा सत्य की धारा सर्वत्र अबाधित है। देश, काल और परिस्थिति के सन्दर्भ को पृथक् कर दें तो सत्य की विभाजन-रेखा अपने आप टूट जाए। वहाँ लिखा है :

रात्रौ जागरणं रूक्षं, स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा ।

अरूक्षमनभिष्यन्दि, त्वासीनप्रचलायितम् ॥७।५५

यथाकालमतो निद्रां, रात्रौ सेवेत सात्म्यतः ।

असात्म्याज्जागराद्दूर्ध्वं, प्रातः स्वप्यादभुक्तवान् ॥७।६५

रात्रि-जागरण रूक्षता पैदा करता है। दिन में सोना कफ बढ़ाता है। दिन में बैठे-बैठे नींद लेना दोनों दोषों से मुक्त है। सामान्यतः रात को सोकर नींद लेनी चाहिए किन्तु विशेष परिस्थितिबश दिन में नींद लेनी हो तो प्रातःकाल खाने से पहले सोएं।

यह दो समान धाराओं की चर्चा है। ऐसी धाराएं और भी अनेक हैं। यदि हम इस तथ्य को न भुलाएं कि भेद और अभेद—दोनों संवलित होकर एक साथ चलते हैं तो भेद की पृष्ठभूमि में छिपा अभेद स्वयं अनावृत हो जाएगा।

अनुशासन

अनूठा संगठन

मर्यादा या अनुशासन पतंग की डोर के समान है। जब तक पतंग की डोर हाथ में रहती है, पतंग को जहाँ कहीं भी मोड़ा जा सकता है और उस पर नियन्त्रण भी रखा जा सकता है। जैसे ही डोर छूट जाती है, उस पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। वह स्वच्छन्द विचरण करने लगती है। ठीक यही स्थिति मर्यादाविहीन मनुष्य की होती है। बालोतरा में मर्यादा महोत्सव शताब्दी के अवसर पर अनेक राजनेता उपस्थित थे। आचार्यश्री साधु-साधवियों के लिए आगामी चतुर्मासों की घोषणा कर रहे थे और साधु-साधवियाँ उसे सहर्ष स्वीकार कर रहे थे। यह दृश्य देखकर राजनेता आश्चर्य-चकित रह गए। उन्होंने साधुओं से पूछ लिया—क्या आचार्यश्री ने इन साधु-साधवियों से पहले सलाह-मशविरा कर लिया था ?

उन्हें बताया गया—इसमें साधु-साधवियों की पूर्व-स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती। आचार्यश्री जैसा उचित समझते हैं, वैसा ही करते हैं और साधु-साधवियाँ उसे सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—‘आपका संगठन तो साम्यवादियों के संगठन से भी अनूठा है।’

वर्तमान वातावरण

मर्यादा या अनुशासन की दृष्टि से आज का वातावरण बहुत विषाक्त है। आज कोई किसी के अनुशासन में चलना नहीं चाहता, किसी की कोई बात सुनना नहीं चाहता। क्या छोटा और क्या बड़ा, क्या छात्र और क्या अध्यापक, सब अनुशासक बनना चाहते हैं, अनुशासित नहीं। मर्यादा को बन्धन समझा जाता है। यही कारण है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् लोगों के विचारों में अकल्पनीय परिवर्तन आ गया है। कल का अनुशासित स्वयं-सेवक आज अनुशासन के अभाव में पद और कुर्सी की दौड़ में राष्ट्र के हित को भी नजरन्दाज कर रहा है। यह प्रवृत्ति समाज व देश के लिए बहुत अहितकर है।

अनुशासन का अभाव : परिणाम

एक बार मगध-नरेश कोणिक ने वैशाली गणतन्त्र पर आक्रमण कर

दिया। उस समय वैशाली गणतन्त्र के सूत्रधार वज्जी थे। वज्जी संगठन और अनुशासन की दृष्टि से बेजोड़ थे। उन्होंने कोणिक का डटकर मुकाबला किया। मगध-नरेश को हारकर पीछे हटना पड़ा। कोणिक के मन में इस पराजय का बहुत दुःख हुआ। मन्त्री ने कोणिक से अनुरोध किया—राजन् ! आप सार्वजनिक रूप से मुझको देश से निकालने की घोषणा कर दें। मैं वैशाली जाऊंगा और वहां से जब वैशाली पर आक्रमण करने की सूचना भेजूं, आप उसी समय वज्जियों पर आक्रमण कर दीजिएगा। राजा ने मंत्री की बात मान ली। मंत्री फटेहाल वैशाली के राजभवन के द्वार पर पहुंचा। उसने प्रधानमंत्री को कहलाया—मगध का मंत्री, जिसे मगध-नरेश ने देश से निष्कासित कर दिया है, आपकी सेवा में आया है। प्रधानमंत्री ने शत्रु का भेद जानने के लिए उसे अपने पास रख लिया। मगध का मंत्री चतुर था, उसने थोड़े ही दिनों में सबका विश्वास प्राप्त कर लिया। उसे राजकुमारों की शिक्षा का भार सौंपा गया। जब सब राजकुमारों का भी वह गुरु के रूप में विश्वासपात्र बन गया तब वह एक-दूसरे के मन में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास के भाव भरने लगा। धीरे-धीरे उसने सबके दिलों में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा कर दिया और कोणिक को वैशाली पर आक्रमण करने की सूचना भेज दी। कोणिक पूरी तैयारी कर चुका था। उसने तत्काल वज्जियों पर आक्रमण कर दिया। जब मगध की सेना वैशाली की सीमाओं में घुसी तो प्रथा के अनुसार वैशाली के प्रधानमंत्री ने युद्धभेरी बजवा दी। लेकिन एक भी राजकुमार युद्ध के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ। प्रधानमंत्री ने सबसे बड़े राजकुमार से पूछा—शत्रु की सेना चढ़ आयी है, आप सब मौन कैसे हैं ? उत्तर मिला—जो साहसी और पराक्रमी है, वही जाकर युद्ध करे। मैं कायर क्या युद्ध कर सकूंगा ? दूसरे राजकुमार ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा—जो चरित्रवान हैं, वे देश की रक्षा करें। मैं चरित्रहीन देश की रक्षा कैसे कर सकता हूं ? इसी प्रकार सभी के अजीब उत्तर मिले। उसका परिणाम था—कोणिक की सेना आसानी से वैशाली में प्रविष्ट हो गई, उसे कोई प्रतिरोध नहीं मिला। वज्जियों का विशाल गणतन्त्र पराधीन हो गया। कारण था—अनुशासन का अभाव।

अनुशासनहीनता के चार कारण

अनुशासन का मूल है विश्वास। विश्वास ही वह कड़ी है, जिसके द्वारा अनुशासित अपने आपको अनुशास्ता के सम्मुख अनुशासित का बोध नहीं करता, अपितु स्वयं को हल्का अनुभव करता है। अनुशासनहीनता के मूल चार कारण हैं—

अविश्वास

कल्पना

व्यवस्था का अभाव

किसी को प्रमुख न मानने की प्रवृत्ति ।

अविश्वास जहां है, वहां मर्यादा या अनुशासन का पालन हो ही नहीं सकता । वज्जियों का उदाहरण हमारे सामने है ।

कल्पना के घोड़े जहां दौड़ते हैं, वहां भी अनुशासन टिक नहीं पाता । कल्पना ही कल्पना में व्यक्ति अनुशासन के प्रति तरह-तरह की धारणाएं बना लेता है और अन्त में अनुशासक के प्रति अपनी आस्था खो बैठता है । दैनिक जीवन में ही हम देखते हैं कि केवल कल्पना ही कल्पना में लोग कितना बड़ा अनर्थ कर बैठते हैं ।

व्यवस्था का अभाव भी अनुशासनहीनता का प्रमुख कारण है । बिना सुव्यवस्था के अनुशासन टिक नहीं सकता ।

किसी को प्रमुख न मानने की प्रवृत्ति का आजकल बहुत प्रचार-प्रसार है । राष्ट्र की आजादी के साथ-साथ सबके मन में एक ऐसी प्रवृत्ति ने घर कर लिया कि कोई किसी को अपना प्रमुख मानने के लिए तैयार नहीं । और बिना प्रमुख के अनुशासन कैसा ? सेना में कठोर अनुशासन का पालन किया जाता है, किन्तु कराने वाला एक कप्तान, कमांडर या सेनापति होता है ।

मर्यादा और तेरापंथ

मर्यादा-पालन की दृष्टि से तेरापंथ शासन का अनूठा उदाहरण है । सैकड़ों वर्ष पूर्व आचार्यश्री भीखणजी द्वारा लिखी गई मर्यादाएं आज भी पथ-प्रदर्शन करती हैं और संघ उनका अक्षरशः पालन करता है । सात सौ से अधिक महाव्रती सदस्य एक आचार्य की आज्ञा में, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक अकथनीय कठिनाइयों का सामना करते हुए सहर्ष विचरण करते हैं और जहां कहीं भी वे होते हैं, संघ की मर्यादा का यथोचित पालन करते हैं । आवश्यकता है—आज व्यक्ति मर्यादा में रहना सीखे, अनुशासित बने । अनुशासक बनने वाले बहुत मिलेंगे किन्तु अनुशासित बनने वाले कितने हैं ? मर्यादा बनाने वाले बहुत मिलेंगे किन्तु उसे निभाने वालों की गिनती अंगुलियों पर की जा सकती है ।

तेरापंथ और अनुशासन

भगवान् महावीर ने धर्म की आराधना की और शासन का प्रवर्तन किया। धर्म वैयक्तिक होता है और शासन सामुदायिक। धर्म व्यक्ति के अन्तःकरण को शासित करता है, इसलिए वह भी शासन है। अनुशासन से अनेकता एकता के रूप में शासित होती है। इसलिए व्यवहार जगत् में अनुशासन ही शासन है। इस सामुदायिक जीवन में रहकर धर्म की आराधना शासन के माध्यम से ही की जा सकती है। धर्म जैन या अजैन हो सकता है।
निश्चय और व्यवहार

महावीर अनुशासन-प्रिय थे। उन्होंने अनुशासन को उतना महत्त्व दिया, जितना किसी शिष्ट संगठन में दिया जा सकता है। इसीलिए जैन विद्वान् यह गाते रहे :

आणा जुत्तो संघो, सेसो पुण अट्ठि-संघाओ

जो आज्ञा से संचालित है, वह संघ है। जिस संघ में आज्ञा की मान्यता नहीं है, वह प्राणहीन अस्थियों का ढांचा-मात्र है।

निश्चय-दृष्टि से धर्म सर्वोपरि है पर व्यवहार-दृष्टि में शासन का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आचार्य ने चेतावनी की भाषा में लिखा—

जई जिणमयं पवज्जह, मा व्यवहारणिच्छयं मुयह ।

व्यवहारस्स उच्छेए, तित्थुच्छेओ हवइ वस्स ॥

यदि जिनमत को प्राप्त करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय—दोनों को पकड़ो। व्यवहार का उच्छेद करने पर शासन का उच्छेद हो जाता है। उसका विच्छेद होने पर धर्म की वैयक्तिक आराधना का मार्ग भी विस्मृत हो जाता है।

अनुशासन और अभिमान

भगवान् महावीर की अनुशासन-पद्धति को आचार्य भिक्षु ने बहुत विकसित किया। उन्होंने अपने संघ को कसा। उतना नहीं कसा, जिससे वीणा का तार ही टूट जाए पर उतना अवश्य कसा, जितना कसे बिना स्वर की मधुरिमा ही न फूटे। उन्होंने लिखा—

जो अपनी स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण पा सकता है, वही आज्ञा का पालन कर सकता है और जो आज्ञा का पालन कर सकता है, वही सामुदायिक जीवन में सफल हो सकता है।

अग्नि और पानी में जितना विरोध है, उतना ही विरोध अनुशासन और अभिमान में है। जो अभिमानी होता है, वह गुरु का अनुशासन भी नहीं सहता, तब औरों का कैसे सह सकता है ? अनुशासन को सहने की क्षमता बढ़े बिना संघ प्राणवान् नहीं बनता। इस चिन्तन के आधार पर आचार्य भिक्षु ने अनुशासन और उसे सहने वालों को सर्वोच्च स्थान दिया। उन्हें जहां कहीं अनुशासन के प्रति उपेक्षा लगी, वहां उसका प्रतिकार किया।

अनुशासन से जुड़ी घटना

मुनि वेणीरामजी आचार्य भिक्षु के प्रमुख शिष्यों में से एक थे। एक बार आचार्य भिक्षु पीपाड़ में विराज रहे थे। वे दूकान में थे और मुनि वेणीरामजी सामने दूसरी दूकान में बैठे थे। आचार्य भिक्षु ने उन्हें संबोधित किया। एक, दो, तीन बार सम्बोधित किया, फिर भी वे नहीं बोले। आचार्य भिक्षु ने वहीं उपासना कर रहे गुमानमलजी लूणावत से कहा—‘अब वेणी का सम्बन्ध-विच्छेद होने वाला है’ गुमानजी तत्काल दौड़े और मुनि वेणीरामजी के पास पहुंचे। वे अपनी धुन में बैठे थे। उन्होंने दौड़कर आने का कारण पूछा तो गुमानजी ने आचार्य भिक्षु का वह वाक्य सुना दिया। वेणीरामजी तत्काल उठे और आचार्य भिक्षु के पास आ चरणों में लोट गए। विनम्र स्वर में बोले—गुरुदेव ! अज्ञान में मेरा कोई अपराध हुआ हो तो आप क्षमा करें। मैं नहीं जानता, मैंने जान-बूझकर कोई अपराध किया है। गुरुदेव ! आपका यह वाक्य मेरे लिए मौत से भी अधिक भयंकर है। आप अनुग्रह करें और मुझे बताएं कि मैंने क्या अपराध किया है, जिसके कारण आपको इतना कठोर अनुशासन करना पड़ा।

आचार्य भिक्षु बोले—मैंने तुम्हें तीन बार सम्बोधित किया, फिर भी तू नहीं बोला। यह मैं नहीं समझ सका—तू सामने बैठा है और सुन नहीं रहा है।

‘गुरुदेव ! मैंने आपके संबोधन को नहीं सुना। मैं दूसरे काम में लगा हुआ था। इधर मेरा मनोयोग नहीं था। क्या मुझसे यह आशा की जा सकती है कि आप मुझे सम्बोधित करें और मैं वहीं बैठा रहूं और वापस उत्तर तक न दूं ? मेरी विनीत आत्मा को यह कभी मान्य नहीं है। मैं आपको फिर विश्वास दिलाता हूं कि मैंने जानते हुए ऐसा नहीं किया है। मेरी असावधानी से आपको कष्ट पहुंचा है, उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं।’

आचार्य भिक्षु ने वेणीरामजी के सिर पर हाथ रखा। उनका उद्विग्न मन, प्रकम्पित वाणी और कांपता हुआ शरीर एक साथ शांत एवं स्थिर हो गए।

अनुशासन और विनय

आचार्य भिक्षु महान् क्षमाशूर थे पर अनुशासन के क्षेत्र में उन्होंने किसी को क्षमा नहीं किया। उनकी यह प्रवृत्ति तेरापंथ की पुण्य परम्परा बन गई। जयाचार्य ने इस बात पर बहुत बल दिया कि आचार्य उन्हीं साधु-साध्वियों का सम्मान बढ़ाएं, जो अनुशासन को सहने में समर्थ हैं। दूसरे के सामने अनुशासित करने पर जो मुरझा जाते हैं, विनयमार्ग से भटक जाते हैं, उनका सम्मान किस न्याय से बढ़ाया जाए ?

खामी होने पर गुरु दूसरों के सामने उलाहना दे तब अविनीत के मुंह का रंग फीका पड़ जाता है। और विनीत का मुंह विनय से उद्दीप्त हो उठता है। जयाचार्य ने कहा—‘अग्रणी साधु-साध्वियों को भी खामी होने पर आचार्य परिषद् में उलाहना दे सकते हैं, उसे झेलने की क्षमता हो तो वे अग्रणी बनें। सब साधु-साध्वियों के लिए यह सामान्य रीति है और अग्रणी के लिए यह और विशेष है कि वे जैसे व्याख्यान देना सीखते हैं, वैसे ही अनुशासन को सहना सीखें।’

अनुशासन का स्वरूप

एक बार आचार्य भारीमालजी ईडवा में विराज रहे थे। मुनि रायचंदजी रामायण का व्याख्यान कर रहे थे। उन्हें विस्मृति हो गई और उन्होंने कुछ पद्य इधर-उधर कह दिए। आचार्य भारीमालजी ने उन्हें वहीं से टोका और कहा—रायचंद ! क्या गप्पें हांक रहा है ? रायचंदजी ने उनकी बात को स्वीकृति दी और फिर व्याख्यान करने लगे। व्याख्यान पूरा हुआ। वे आचार्य भारीमालजी के पास आकर बोले—गुरुदेव ! आपने जो उलाहना दिया, वह ठीक था पर उसे परिषद् में न देकर व्याख्यान के बाद देते तो अच्छा रहता।

आचार्य भारीमालजी ने तत्काल सतयुगी (खेतसीजी स्वामी) को बुलाया और कहा—मुनो, यह रायचंद क्या कहता है ? यह कहता है, मुझे परिषद् में उलाहना न दें, एकांत में छिपे-छिपे दें। पर मैं छिपे-छिपे क्यों दूँ ? अब तो परिषद् में ही दूंगा ! बोलो, तुम क्या कहते हो ? सतयुगी बोले—गुरुदेव ! रायचंद को यह कहने का क्या अधिकार है ? आप जैसा ठीक समझें, वैसा करें। अब रायचंदजी आगे बढ़े, उन्होंने अपने अज्ञान के लिए क्षमा मांगी। उनकी विनम्र भावना का अन्तिम उद्गार यही था—मैं नहीं जानता कि आप मुझे अनुशासन कैसे दें ? आप मुझे अनुशासन दें, यही मैं जानता हूँ।

अनुशासन की परम्परा

तेरापंथ में उन साधुओं को प्रथम स्थान मिला, जो अनुशासन को

सहने में दक्ष थे। मुनि सतयुगीजी, वेणीरामजी, हेमराजजी और रायचंदजी—ये चारों गण-स्तम्भ कहलाए। इन्होंने तेरापंथ में अनुशासन सहने की प्रशस्त परम्परा डाली, समभाव की साधना का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया। गण की भार-धुरा उसकी भुजा पर है, जो अहंकार को मिटा विनम्र बन जाता है। उद्धत व्यक्ति भार का वहन नहीं कर पाता। जिन साधुओं ने परिषद् में उलाहना सहा, समभाव में स्थिर रहे, उनका सम्मान बढ़ा, चार तीर्थ ने उनका यशोगान गाया।

अनुशासन की परम्परा विकसित नहीं होती तो स्वच्छंदता बढ़कर गण की प्रगति को रोक देती। इसीलिए हमारे पूर्वज आचार्यों ने आरम्भ से ही इस तथ्य को बहुत गहराई से पकड़ा। उन्होंने संख्या को मुख्यता नहीं दी। उन्होंने मात्रा को मुख्य माना। अनुशासित पांच व्यक्ति जो काम कर सकते हैं, वह काम अनुशासनहीन पचास व्यक्ति भी नहीं कर सकते। अनुशासन के प्रति जहां 'खैर' की भावना आ जाती है, वहां शिथिलता घुस जाती है। एक बार शिथिलता आने पर सहजता से अनुशासन नहीं किया जा सकता। हमारी परम्परा में अनुशासन सम्बन्धी जो घटनाएं घटीं, वे कोई बहुत बड़ी बातों पर नहीं घटीं। पर बड़ी घटनाओं का प्रारम्भ छोटी घटनाओं से होता है। छोटी का ठीक उपचार हो जाए तो बड़ी घटना के घटने की संभावना ही न रहे।

प्रश्न है अनुशासन का

आचार्य भारीमालजी चाहते थे कि कोई साधु-साध्वी का सिंघाड़ा लावासरदारगढ़ में न रहे। मोजीरामजी स्वामी वहां रह गए। वे वहां से विहार कर भारमालजी स्वामी के दर्शन करने राजनगर आए। आचार्य भारीमालजी ने सब साधु-साधवियों को आमंत्रित कर कहा—'आज मुनि मोजीरामजी आ रहे हैं। उन्हें कोई साधु-साध्वी वन्दना न करे।' वे आए। साधु-साधवियों ने उन्हें देखा पर कोई खड़ा नहीं हुआ, किसी ने वन्दना नहीं की। मुनि मोजीरामजी आश्चर्य में पड़ गए। वे मन ही मन सोचने लगे—'यह क्या बात है? क्या ये लोग मुझे पहचान नहीं सके? मैं द्वार के पास में आ गया, फिर भी कोई साधु न पास में आता है, न कंधों से भार उतारता है, न खड़ा होता है, न वन्दना करता है—आखिर बात क्या है?' वे आचार्य भारीमालजी के पास पहुंचे, वन्दना की। आचार्यश्री ने सिर पर हाथ नहीं रखा। वे रसम गए अवश्य ही कोई कारण बना है। उन्होंने विनम्र शब्दों में कहा—'गुरुदेव! मैं नहीं जानता कि मैंने कोई अपराध किया है, फिर इतना दण्ड क्यों? अनजान में मेरा कोई अपराध हुआ हो तो आप क्षमा करें और मुझे अपना वात्सल्य दें।'।

आचार्यश्री ने कहा—मेरी भावना के प्रतिकूल लावासरदारगढ़ में क्यों रहा ?

मोजीरामजी बोले—‘गुरुदेव ! मुझे इसकी कोई जानकारी’ नहीं थी । यदि मुझे यह ज्ञात होता तो मैं वहां एक दिन भी नहीं रुकता । बड़ी विनम्रता से उन्होंने स्थिति स्पष्ट की और आचार्य भारीमालजी को विश्वास दिलाया । उसके बाद आचार्यश्री ने साधु-साधवियों को आदेश दिया—‘वन्दना करो’ साधु जो पैर पर पैर थामे खड़े थे, आगे बढ़े । वात्सल्य और विनय की सरिता बह चली ।

युग की अपेक्षा

अनुशासन एक चोट है । उसे हर कोई आदमी सह नहीं सकता । चोट या तो धीर आदमी सहता है या हीरा और सोना सह सकता है ।

काच कथीर अधीर नर, कस्यां न उपजै प्रेम ।

कसणी तो धीरा सहै, कै हीरा के हेम ॥

मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी ने कई बार आचार्यश्री तुलसी से कहा—‘आप मुझे सबके सामने उलाहना दिया करें’, उनकी यही भावना अनुशासन के प्रति एक महान् आहुति थी ।

वर्तमान युग अनुशासन की दृष्टि से बड़ा द्ररिद्र है । उसकी शेष समृद्धि इस दरिद्रता के आवरण में ढंक-सी रही है । युग की अपेक्षा है, अनुशासन का विकास हो पर वह नहीं हो रहा है । इसका कारण है—अभी भी विनय और गुलामी को एक समझने की भूल हो रही है । तेरापंथ ने इस भूल को आश्रय नहीं दिया । उसकी धारणा में सदा यह स्पष्टता रही है कि विनय और गुलामी एक नहीं है । अभिमान-विसर्जन और हीन-भावना एक नहीं है इसी-लिए यह अनुशासन की गरिमा को जीवित रख सका है ।

तेरापंथ : विकास के आधार सूत्र की खोज

विलक्षण संप्रदाय

विकास वही कर सकता है, जिसके मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है। यह कर्मशास्त्रीय भाषा है। मनोविज्ञान की भाषा में विकास वह कर सकता है, जिसका दृष्टिकोण विधेयात्मक होता है। ध्वंसात्मक दृष्टिकोण और विकास—दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की नींव डाली। उसे सृजनात्मक दृष्टिकोण की नींव कहा जा सकता है। उन्होंने साधुत्व के विकास की ओर ध्यान केन्द्रित किया, आचार और विचार के विकास को अपना लक्ष्य बनाया। दूसरों की निंदा के क्षेत्र में वे कभी नहीं गए। तेरापंथ संप्रदाय जगत् में एक विलक्षण संप्रदाय है। उसने सवा दो सौ वर्षों की अवधि में एक इतिहास बनाया है। कभी किसी संप्रदाय की निंदा में अपनी शक्ति नहीं खपाई इसीलिए वह निरंतर विकास की दिशा में आगे बढ़ा है।

सृजनात्मकता की परम्परा

हर व्यक्ति या संस्था के पास शक्ति सीमित होती है। वह सृजनात्मक कार्य में लगेगी तो ध्वंसात्मक प्रवृत्ति का द्वार बन्द हो जाएगा। यदि वह ध्वंसात्मक कार्य में लगेगी तो सृजनात्मकता समाप्त हो जाएगी। हमारे पास इतनी शक्ति नहीं है कि दोनों काम एक साथ कर सकें। आचार्य भिक्षु में सृजनात्मक प्रतिभा थी। वे तत्त्व को गहराई में उतरकर देखते। काव्य की भाषा में उसे अभिव्यक्ति देते। तर्क की भाषा में लोगों को समझाते। उनकी कवित्व शक्ति प्रखर थी और तर्क शक्ति पैनी थी। उनसे सृजनात्मकता की परम्परा का सूत्रपात हुआ। वह आज तक अविच्छिन्न रूप से चल रही है। इसमें हमें बड़े आनन्द का अनुभव हो रहा है।

मौलिकता सुरक्षित रहे

आलोचना या समीक्षा एक स्वस्थ परम्परा है। उसका होना विकास के लिए आवश्यक है। आलोचनात्मक दृष्टि से हम स्वयं अप्रमत्त रहते हैं और दूसरों को भी अप्रमत्त रहने की प्रेरणा दे सकते हैं। वर्तमान में जैन परम्परा में इसका अभाव हुआ है इसीलिए आचार और विचार की परम्परा में कुछ शैथिल्य आया है। समन्वय हो सकता है किन्तु उसके नाम पर 'सब धान

सत्ताईस सेर' नहीं हो सकते। जैन शासन में समाचारी का भेद रहा है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की भिन्न-भिन्न समाचारियां रही हैं। फिर भी जैन मुनि की पहचान की मौलिकता उन सबमें रही है। आज उसमें भी अन्तर आने लगा है। देश काल के अनुसार कुछ बदलता है। बदलना जरूरी भी है। बदलने की प्रक्रिया को कभी रोका नहीं जा सकता किन्तु उस पर चिन्तन होना जरूरी है। परिवर्तन व्यक्तिगत इच्छा के आधार पर नहीं होना चाहिए।

परिवर्तन का आधार

तेरापंथ धर्मसंघ में परिवर्तन की एक निश्चित प्रक्रिया है। कोई भी परिवर्तनीय विषय आचार्य के सामने उपस्थित किया जाता है। आचार्य उस विषय पर चिन्तन करने के लिए साधु-साधवियों की एक समिति गठित करते हैं। वे उस विषय पर सैद्धान्तिक, पारम्परिक, व्यावहारिक—सभी दृष्टिकोणों से विचार करते हैं। उसके बाद जो निष्कर्ष निकलता है, उसे आचार्य के सामने प्रस्तुत करते हैं। आचार्य उस पर चिन्तन कर उसे स्वीकार या अस्वीकार करते हैं। स्वीकृत विषय पूरे संघ में मान्य हो जाता है और अस्वीकृत विषय स्थगित। आचार्यश्री का मंतव्य है—ऐसी व्यवस्था व्यापक बने। परिवर्तन के लिये सभी सम्प्रदायों की एक शिखर समिति गठित हो। वाहनप्रयोग, लोच जैसे मौलिक आचार के प्रश्नों पर उपसमिति का चिन्तन, निर्णय ही परिवर्तन या अपरिवर्तन का आधार बने। ऐसा अभी हो नहीं सका है किन्तु ऐसा होना बहुत जरूरी है। अन्यथा जैन शासन की मौलिकता भी सुरक्षित नहीं रह पाएगी।

आचार्य का काम

तेरापंथ धर्मसंघ में चिन्तन की पूर्ण स्वतंत्रता है किन्तु उसकी मान्यता आचार्य की स्वीकृति-सापेक्ष है। आचार्य और विचार का समन्वय अनाग्रह से संभव बनता है। एक व्यक्ति का अहं और अहंजनिन आग्रह संघ को कभी शक्तिशाली नहीं बनने देता। वर्तमान में कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं है। 'मैं कहता हूं, वही सत्य है' अथवा 'मैं सोचता हूं वही ठीक है' यह ऐकान्तिक आग्रह सत्य से असत्य की ओर जाने का मार्ग है। आचार्य भिक्षु ने एक आचार्य के नेतृत्व को इसीलिए महत्त्व दिया कि संघ वैचारिक आग्रहों का अखाड़ा न बने। आचार्य का काम है वैचारिक आग्रहों के उफान पर पानी का छींटा डालते रहना।

यह अनाग्रह का दृष्टिकोण ही रचनात्मक दृष्टिकोण है। इसका विकास होने पर ही शेष विकास संभव बनते हैं।

तेरापंथ की व्याप्ति

जितना बीज का महत्त्व है उतना ही महत्त्व है भूमि का और उतना ही महत्त्व है बीज बोने वाले का । यदि उसमें धृति और क्षमता नहीं है तो बीज की अंकुरित होने की शक्ति और उर्वरा की उत्पादन क्षमता—दोनों कम अर्थवान् बन जाती हैं । तेरापंथ एक सार्थक निष्पत्ति है और वह इसीलिए कि आचार्य भिक्षु के हाथों द्वारा उसमें प्राण-संचार हुआ । आचार्य भिक्षु तपस्वी और मनस्वी—दोनों थे । तपस्या प्राण है और मनस्विता उसका संचार ।

तपस्वी की कसौटी

तेरापंथ ने तपस्वी व्यक्तित्व पैदा किए हैं । परिस्थिति को सहना, उसमें सामंजस्य स्थापित करना तपस्वी की कसौटी है । एक लंबी परंपरा है इस कसौटी पर खरे उतरने वालों की । उनमें सबसे पहले हैं—आचार्य भारमलजी । वे मुनि अवस्था में थे । आचार्य भिक्षु ने कहा—चलते समय देखकर चलना । उसमें कोई खामी बतलाएगा तो तुम्हें एक तेला करना होगा । भारमलजी बोले—गुरुदेव ! गलती होने पर कोई जताए तो तेला करना होगा अथवा किसी अन्य कारण से जताने पर भी करना होगा ?

आचार्य भिक्षु बोले—तेला करना होगा । खामी हो तो समझ लेना—गलती का प्रायश्चित्त हुआ और खामी न हो तो समझ लेना—कर्म की निर्जरा हुई । मुनि भारमलजी ने आचार्य भिक्षु की वाणी को शिरोधार्य किया । इसके दो फलित हैं—अनुशासन और निर्जरा । इन दोनों के समन्वय का नाम है तेरापंथ ।

अनुशासन और तेरापंथ

जहां अनुशासन नहीं है वहां तेरापंथ नहीं है । इस व्याप्ति को मैं प्रस्तुत कर सकता हूं । जहां तेरापंथ नहीं है वहां अनुशासन नहीं है, यह व्याप्ति मैं नहीं बना सकता । पर इसे एक अर्थ में सार्थकता दी जा सकती है । तेरापंथ का हृदय है—समर्पण, अहंकार और ममकार का विसर्जन । अनुशासन एक निष्पत्ति है । उसका उद्भव-स्रोत है—समर्पण । इस अर्थ में कहा जा सकता है कि जहां मेरा पंथ है वहां अनुशासन नहीं हो सकता । जहां तेरापंथ है वहीं अनुशासन हो सकता है ।—

प्रश्न है आत्मशुद्धि का

जहां निर्जरा है, वहीं तेरापंथ है । यह व्याप्ति बहुत सार्थक है । वृद्ध

साधु-साधवियों की सेवा बहुत अच्छी है। प्रश्न हो सकता है—वृद्ध लोगों की क्या उपयोगिता है ? प्रश्न उपयोगिता का नहीं है। प्रश्न निर्जरा का है, आत्म-शुद्धि का है। स्वाध्याय और ध्यान का प्रयोजन है—निर्जरा और सेवा का भी प्रयोजन है—निर्जरा। निर्जरा की दृष्टि से स्वाध्याय और सेवा को अलग नहीं किया जा सकता। स्वाध्याय का अपना मूल्य है और सेवा का अपना मूल्य है। किन्तु निर्जरा के क्षेत्र में दोनों एक मूल्य हो जाते हैं। एक साधु दूसरों से सेवा नहीं ले रहा है। किसी ने पूछा—आप सेवा क्यों नहीं लेते ? उत्तर मिला—मैं अपनी निर्जरा को क्यों खोजूँ ? कोई सेवा करना चाहता है। किसी ने पूछा—सेवा क्यों करना चाहते हो ? उत्तर मिला—यह विशेष निर्जरा का अवसर है। इसे मैं अपने हाथ से खोना नहीं चाहता। इस भावना के सहारे चल रहा है तेरापंथ। न तुम मेरे लिए, न मैं तुम्हारे लिए किन्तु हम दोनों निर्जरा के लिए।

निर्जरा की भावना जितनी पुष्ट होती है, उतना पुष्ट होता है अनुशासन। जितना पुष्ट होता है अनुशासन उतना पुष्ट होता है तेरापंथ। हम संकल्प लें निर्जरा के विकास का, हम संकल्प लें अनुशासन के विकास का। इसका फलित होगा—तेरापंथ का विकास।

अनुशासन का प्रतीक : मर्यादा महोत्सव

संघबद्धता के अनिवार्य तत्त्व

इतिहास का यह अविस्मरणीय पृष्ठ है कि भगवान् पार्श्व ने संघबद्ध साधना का सूत्रपात किया था। साधना और संघ—इन दोनों का योग अद्भुत-सा लगता है पर संघबद्धता के प्रयोग ने यह प्रमाणित कर दिया—क्षमता की कसौटी के लिए संघबद्धता एक अवसर है। इस अवसर का लाभ अधिक व्यक्ति उठा सकते हैं। भगवान् महावीर के युग में बहुत विशाल धर्मसंघ थे। उनके स्वयं के संघ में चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियां थीं। आजीवकों, बौद्धों तथा अन्य श्रमणों के संघ भी बहुत विशाल थे। ये सभी भगवान् पार्श्व की परम्परा से प्रभावित थे।

जैन साहित्य में भगवान् महावीर को और बौद्ध साहित्य में भगवान् बुद्ध को शास्ता कहा गया है। उनका शासन था, वे उसके शास्ता थे। धर्म की साधना का मूल आत्मानुशासन है किन्तु जब साधना संघबद्ध होती है तब धर्मशासन के साथ अनुशासन भी जुड़ जाता है। अनुशासन, व्यवस्था और मर्यादा—ये सब संघबद्धता के अनिवार्य तत्त्व हैं।

अनुशासन के सूत्रधार : आचार्य भिक्षु

दशवैकालिक सूत्र का एक प्रसंग है। शिष्य ने पूछा—भंते ! आपदा किसका वरण करती है और संपदा किसे उपलब्ध होती है ? आचार्य ने उत्तर दिया—‘आपदा उसका वरण करती है, जो अविनीत होता है और संपदा उसे उपलब्ध होती है जो विनीत होता है।’ फिर प्रश्न हुआ—अविनीत कौन है और विनीत कौन है ? आचार्य ने उत्तर दिया—जो गुरु के अनुशासन को शिरोधार्य नहीं करता, वह अविनीत है और जो उसे शिरोधार्य करता है, वह विनीत होता है।’ अनुशासन और विनय की धारा के आधार पर धर्मसंघों ने बहुत विकास किया। यह हम जान सकते हैं इतिहास की समीक्षा के द्वारा। विकास की उसी शृंखला की एक कड़ी है—तेरापथ।

तेरापथ धर्मसंघ का प्रवर्तन दो सौ बीस वर्ष पूर्व हुआ था। उसके प्रवर्तक थे—आचार्य भिक्षु। उन्हें अनुशासन का सूत्रधार कहा जा सकता है। उनमें संगठन की अद्भुत क्षमता थी। वे केवल संगठनकार ही नहीं थे किन्तु उसके मंत्रदाता थे। उन्होंने संगठन के कुछ ऐसे मंत्र दिए, जो तीसरी शताब्दी में भी उतने ही उपयोगी हैं, उतने ही मूल्यवान् हैं।

अपकर्ष का लक्षण

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया—संगठन का सबसे दुर्बल पक्ष है—पद की आकांक्षा। क्षमता और पद की आकांक्षा—दोनों साथ-साथ जन्म लेती हैं। क्या यह हो सकता है कि क्षमता हो और पद की आकांक्षा न हो? किन्तु संगठन में यह नहीं हो सकता और यह इसलिए नहीं हो सकता कि शिष्य बनने और आचार्य बनने की स्वतंत्रता हर किसी को उपलब्ध है। उन्होंने समस्या के मूल तक पहुंचकर एक व्यवस्था दी—तेरापंथ धर्मसंघ में कोई भी साधु अपना शिष्य नहीं बना सकेगा और आचार्यपद के लिए उम्मीदवार नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार कोई भी साध्वी किसी को अपनी शिष्या नहीं बना सकेगी और वह आचार्यपद के लिए उम्मीदवार भी नहीं बन सकेगी। यह व्यवस्था धर्मसंघों के इतिहास में नया मोड़ देने वाली सिद्ध हुई। इससे पद की आकांक्षा पर नियंत्रण स्थापित हो गया। शिष्य ही नहीं बनाना तब आचार्य कैसे बना जा सकता है? इस व्यवस्था में आचार्यपद का उम्मीदवार बनना चरित्र के प्रकर्ष का नहीं किन्तु अपकर्ष का लक्षण बन गया। कोई भी व्यक्ति नहीं चाहता कि वह दूसरों के सामने अपने चरित्र के अपकर्ष का प्रदर्शन करे। इसलिए कोई भी व्यक्ति अपने आपको आचार्यपद का उम्मीदवार नहीं बतलाता।

संघे शक्ति: कलौ युगे

शिष्य बनाने और आचार्य की नियुक्ति—दोनों अधिकार आचार्य के ही हाथ में सुरक्षित हैं। संघ में दीक्षित सभी साधु-साधवियां एक ही आचार्य के शिष्य होते हैं और भावी आचार्य का निर्वाचन वर्तमान आचार्य ही करते हैं। इस व्यवस्था ने संघ को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त होने से रोक दिया।

कलियुग में संघ में शक्ति होती है—‘संघे शक्ति: कलौ युगे’—यह एक सूक्त है। कलियुग हो या सतयुग—शक्ति संघ में ही होगी। जो शक्ति संगठन में होती है, वह अकेले में नहीं हो सकती। अकेला व्यक्ति धर्म की साधना कर सकता है, यदि वह प्रबुद्ध, धृतिमान् और स्वस्थचेता हो किन्तु वह धर्म की परम्परा का संवाहक नहीं बन सकता। उसका संवाहन कोई संगठन ही कर सकता है। संगठन एक धारा है। उसका प्रवाह सुदूर देश और काल को सिंचन दे सकता है। एक जल कण यह काम नहीं कर सकता।

एकता का आधार

आचार्य भिक्षु बहुत बड़े आध्यात्मिक संत थे। फिर भी उन्होंने संगठन का जितना मूल्यांकन किया, उतना विगत सहस्राब्दियों में कम आचार्यों ने किया। उन्होंने देखा—संगठन छोटे-छोटे टुकड़ों में तब विभक्त होता है जब साधु-साधवियों में पद की आकांक्षा जागती है और उनके

अनुयायी उनकी आकांक्षा को पूरा करने में सहयोग करते हैं। एक साधु संघ से पृथक् होता है और कुछ अनुयायी उसे समर्थन दे देते हैं। इस प्रकार की स्थिति में साधुओं को संघ से टूट कर किसी पद पर प्रतिष्ठित होने और संगठन को छिन्न-भिन्न करने का अवसर मिल जाता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने एक व्यवस्था दी कि संघ से पृथक् होने वाले व्यक्ति को संघ के सदस्य साधु न माने और उसे अपना समर्थन न दे। यह व्यवस्था-सूत्र संघ की एकता का सुदृढ़ आधार बन गया। समय-समय पर संघ से साधु पृथक् होते रहे हैं। उनमें कुछ साधु क्षमताशील भी थे। उन्होंने स्वतंत्र संघ की स्थापना का प्रयत्न भी किया पर वे सफल नहीं हो सके। इसका कारण उक्त व्यवस्था का संस्कार ही है। यदि आवश्यक समाज में संस्कार नहीं होता तो स्थिति कुछ भिन्न होती।

मर्यादा महोत्सव

आचार्य भिक्षु का यह दृष्टिकोण था कि संघ शक्तिशाली रहे। उसमें एकता बनी रहे। उसे कोई छोटे-छोटे खंडों में विभक्त न करे। इस भावना को उन्होंने मर्यादा का रूप दिया और इस मर्यादा को तेरापंथ के संविधान की केन्द्रीय मर्यादा कहा जा सकता है। शेष सब मर्यादाएं इसी की परिधि में हैं।

आचार्य भिक्षु ने समय-समय पर कई लेख लिखे। सबसे पहला लेख वि० सं० १८३२ में लिखा और अन्तिम लेख वि० सं० १८५९ में लिखा। उनके इन लेखों का आकलन तेरापंथ का संविधान बन गया। वि० सं० १८५९ का लेख माघ शुक्ला ७, शनिवार को लिखा गया था। अतः तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने उस दिन को मर्यादा महोत्सव दिवस का रूप दे दिया। तब से प्रतिवर्ष मर्यादा महोत्सव आयोजित होता है। इसकी स्थापना वि० सं० १९२० में हुई थी।

तेरापंथ एक सुसंगठित और सुअनुशासित धर्मसंघ है। इसका हेतु यही है कि इसने व्यवस्था और मर्यादा को प्रधानता दी है। मर्यादा महोत्सव मर्यादा का प्रतीक है और वह तेरापंथ के नये वर्ष का आदि-दिन है। इस दिन साधु-साधवियों के भावी चतुर्मास की घोषणा होती है, मर्यादा-पत्र का वाचन होता है और समूचा संघ आचार्य भिक्षुकृत मर्यादाओं के प्रति अपनी आस्था प्रगट करता है।

मर्यादा महोत्सव के कार्यक्रम

मर्यादा महोत्सव की पृष्ठभूमि चतुर्मास संपन्न होते ही तैयार हो जाती है। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा का चतुर्मास संपन्न हो जाता है। मृगसर कृष्णा प्रतिपदा को साधु-साधवियां चातुर्मासिक प्रवास के स्थान से विहार करते

हैं। उन सबका विहार आचार्यश्री की दिशा में होता है। जहां आचार्य होते हैं, वहीं सबके लिए आना अनिवार्य है। व्यवस्था यह है कि आते समय वे एक गांव में एक रात से ज्यादा नहीं रुकते। आचार्य का आदेश या विशेष परिस्थितिबश ही वे कहीं रुक सकते हैं। मर्यादा महोत्सव के समय लगभग पांच सौ साधु-साधवियां एकत्र हो जाते हैं। वे आचार्य के पास आते ही सबसे पहले अपने समर्पण का सूत्र उच्चारित करते हैं। उसके बाद वे विगत-वर्ष का कार्य-विवरण (रिपोर्ट) आचार्य के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। आचार्य उनका निरीक्षण करते हैं। आचार, व्यवहार, अनुशासन और व्यवस्था में कहीं कोई त्रुटि मालूम देती है तो उसका उपचार करते हैं। उस समय साधु-साधवियों की सामूहिक परिषदें होती हैं। उनमें कभी स्वाध्याय, कभी चिन्तन और कभी विमर्श होता है। कुछ गोष्ठियां होती हैं। उनमें सामयिक समस्याओं का समाधान खोजा जाता है और आचार्य के द्वारा उस समाधान की सामूहिक परिषद् में घोषणा की जाती है। साधु-साधवियां अपनी यात्रा के संस्मरण सुनाते हैं और विचारों का विनिमय होता है। समय-समय पर आचार्य सामूहिक परिषद् को पथ-दर्शन देते हैं तथा व्यवस्था के प्रति सावधान भी करते हैं। इस प्रकार एक या डेढ़ मास का समय विविध कार्यक्रमों से संकुल बीतता है।

अतीत और भविष्य का सन्धि-स्थल

साधु-साधवियों के विहार और चतुर्मास का निर्णय स्वयं आचार्यश्री ही करते हैं। कौन व्यक्ति किस दिशा में विहार करेगा या चातुर्मास करेगा—इसका पता आचार्य को होता है। वे मर्यादा महोत्सव के अवसर पर नामोल्लेखपूर्वक घोषणा करते जाते हैं और साधु-साधवियां उसे विनम्रतापूर्वक शिरोधार्य करते चले जाते हैं। अनुशासन, विनय और समर्पण की दृष्टि से यह दृश्य अनूठा होता है। माघ शुक्ला सप्तमी के बाद फिर साधु-साधवियों के प्रस्थान का क्रम शुरू हो जाता है। वे आचार्य के आदेशानुसार विभिन्न प्रान्तों में अपनी यात्रा शुरू कर देते हैं। वे पदयात्रा करते हुए प्रायः सभी प्रान्तों में पहुंच जाते हैं। कुछ साधु-साधवियों ने नेपाल और भूटान की भी पदयात्रा की है। इस प्रकार अतीत और भविष्य के सन्धि-स्थल के रूप में मर्यादा महोत्सव वर्तमान की भूमिका निभाता है। यह गत वर्ष की अर्जित शक्ति का समर्पण लेता है और भविष्य की शक्ति का अनुदान देता है। इस महापर्व को हम महाप्राण के रूप में स्वीकार करते हैं और यह आशंसा करते हैं कि यह अनुशासन की भावना राष्ट्र के कण-कण में व्याप्त हो।

अभिनन्दन मर्यादा महोत्सव का

मस्तिष्कीय प्रशिक्षण का पर्व

आचार्य भिक्षु हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत के उद्गाता थे। उन्होंने कहा—बलप्रयोग से धर्म नहीं करवाया जा सकता। सामने वाले व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन होने पर ही धर्म संभव बनता है। बहुत लंबी अवधि से धर्म के साथ प्रलोभन और भय जुड़े हुए थे। आचार्य भिक्षु ने इन दोनों को धर्म से पृथक् कर दिया, उनका हृदय परिवर्तन का सिद्धांत प्रतिष्ठित होता चला गया।

उस हृदय परिवर्तन के सिद्धांत की प्राण प्रतिष्ठा करने वाले थे—जयाचार्य। उनकी मनोवैज्ञानिक पहुंच ने साधु-संघ के मानस को छू लिया। केवल आदेश के आधार पर अनुशासन चलता तो लम्बे समय तक चल नहीं पाता। उसकी प्रतिक्रिया होती। फलस्वरूप अनुशासन के प्रति विद्रोह उठ खड़ा होता।

जयाचार्य ने हृदय-परिवर्तन को केन्द्र में रखकर विशाल साहित्य रचा। उसके बार-बार अध्ययन-मनन, वाचन और श्रमण से धीरे-धीरे मस्तिष्कीय प्रशिक्षण होता चला गया। मर्यादा महोत्सव उसी मस्तिष्क प्रशिक्षण साधना का पर्व है।

नेतृत्व के विकेन्द्रीकरण का प्रश्न

आज तेरापंथ के साधु-साध्वी एक आचार्य की व्यवस्था के प्रति सर्वात्मना समर्पित हैं। उनके मन में इसके प्रतिपक्ष का कोई विकल्प ही नहीं है। तेरापंथ द्विशताब्दी के अवसर पर आचार्यश्री ने एक मंत्रीमंडल स्तरीय व्यवस्था की कल्पना की थी। उस कल्पना का साधु-साधवियों को पता चला। उन्हें वह नहीं जची। आचार्यवर के पास प्रार्थनाओं का तांता लग गया। सबका स्वर एक था—हम केवल आचार्य के नेतृत्व को ही पसन्द करते हैं। विभक्त नेतृत्व में हमारी आस्था नहीं है। इसलिए आप नेतृत्व के केन्द्रीयकरण के बारे में चिन्तन न करें। यदि आपने वैसा किया हो तो उसे स्थगित कर दें। हम सब पर यह बड़ा अनुग्रह होगा। आचार्यश्री ने उनकी प्रार्थना को सुना और अपने चिन्तन को अपने-आप में समेट लिया। यह एक छोटा-सा प्रसंग है। इसमें मर्यादा महोत्सव का रहस्य छिपा हुआ है। जिनका मस्तिष्क मर्यादा के लिए प्रशिक्षित नहीं होता, जो अनुशासन मानने की अपेक्षा

अनुशास्ता बनने में अधिक रस लेते हैं, वे व्यक्ति नेतृत्व के प्रति प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण अपना लेते हैं।

मस्तिष्क प्रशिक्षण का महत्वपूर्ण सूत्र : धारणा

आचार्य भिक्षु और जयाचार्य—दोनों मस्तिष्क प्रशिक्षण की कला में बहुत कुशल थे। उन्होंने आचार्य की आज्ञा को भगवान् की आज्ञा बतलाया। आचार्य को भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठित किया। आचार्य की आज्ञा मानने वाला विनीत होता है और संघ का भार उसकी भुजा पर टिका होता है। आचार्य की आज्ञा को न मानने वाला अविनीत होता है। वह संघ के लिए भार बनता है।

मस्तिष्क के प्रशिक्षण का एक महत्वपूर्ण सूत्र है—धारणा। विनीत और अविनीत की अवधारणा द्वारा अनुशासन की प्राणप्रतिष्ठा हो गई। तेरापंथ का प्रत्येक साधु विनीत कहलाना चाहता है। अविनीत कहलाना अवज्ञा, तिरस्कार या दण्ड भोगने जैसा लगता है। जब-जब मुनि खेतसीजी, मुनि हेमराजजी आदि-आदि साधुओं की विनम्रता की गौरवगाथाएं गाई जाती हैं, तब-तब मस्तिष्क का प्रत्येक तार झंकृत हो जाता है। प्रत्येक साधु-साध्वी के मन में एक ललक पैदा होती है विनीत बनने की। विनीत की अवधारणा और मस्तिष्कीय प्रशिक्षण की परंपरा को चालू रखने का महत्वपूर्ण अनुष्ठान है—मर्यादा महोत्सव। उसके लिए प्रस्फुटित है अभिनन्दन का स्वर।

पर्युषणा

पर्युषणा जैन शासन का सबसे बड़ा पर्व है। समूचा जैन संघ बड़ी श्रद्धा के साथ इसकी आराधना करता है। बहुत सारे जैन इस पर्व को अनादि-कालीन मानते हैं। यह कब से चला, इसका इतिहास प्राप्त नहीं है, इसलिए सम्भव है, इसे अनादि कहते हैं। जिसका आदि न हो, वह अनादि हो सकता है तो वह भी अनादि हो सकता है जिसका आदि-बिन्दु ज्ञात न हो। कोई भी कृत या प्रचलित वस्तु अनादि अर्थ में हो सकती है कि उसका आदिकाल ज्ञात नहीं है।

पर्युषणा : वास्तविक तथ्य

भगवान् महावीर ने स्थविरकल्पी मुनि के लिए दस कल्पों की व्याख्या की। उनमें एक पर्युषण-कल्प है। भगवान् पार्श्व के मुनियों के लिए पर्युषण-कल्प नियत नहीं था। भगवान् महावीर के शिष्यों के लिए यह नियत है।

भगवान् महावीर ने वर्षाकाल के पचास दिन बीतने पर अर्थात् भाद्र शुक्ला ५ को वर्षावास की पर्युषणा की। इसलिए यह दिन पर्युषण का मुख्य दिन हो गया।

कुछ लोग पर्युषण-पर्व का मूल उद्गम युगारम्भ में होने वाली मेघ-वर्षा में खोजते हैं, पर वह काल्पनिक है। पर्युषणा का जो वास्तविक तथ्य है, वह कल्पसूत्र में स्पष्ट शब्दों में निरूपित है। भगवान् महावीर ने वर्षाकाल के पचास दिन बीतने पर वर्षावास की पर्युषणा क्यों की? इसके उत्तर में वहां लिखा गया है—उस समय तक गृहस्थ लोग अपने घरों को अपने लिए वर्षावास के अनुकूल बना चुके थे और अपने काम में ले चुके थे, इसलिए उपयुक्त स्थिति होने पर भगवान् महावीर ने वर्षावास की पर्युषणा की।

पर्युषणा : वर्तमान परम्परा

इसका अनुकरण गणधरों तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने किया। वही वर्षावास—पर्युषणा आज की जा रही है। इसी पर्युषणा के प्रथम दिन को संवत्सरी कहते हैं। भगवान् महावीर ने जो वर्षावास-पर्युषणा की थी, वह ढाई हजार वर्ष पुरानी घटना है। इतने लम्बे काल में उसके सम्बन्ध में कई मान्यताएं और घटनाएं बदल चुकी हैं।

आज हम पर्युषणा का अर्थ समझते हैं सांवत्सरिक दिन अर्थात् वर्ष

का एक दिन। उस दिन उपवास करना, सांत्वत्सरिक-प्रतिक्रमण करना, क्षमा-याचना करना तथा विशेष धर्मारोधना करना अनिवार्य है।

पर्युषण के साथ जो सात दिन हैं, वे वैसे ही हैं जैसे किसी भी पर्व के साथ प्राचीन काल में सात दिन और जुड़ जाते थे। हर कोई महापर्व अष्टान्हिक पर्व होता था। पर्युषणा के बारे में जो यह धारणा है, वह बहुत अर्वाचीन है। यह अनुसंधान का विषय है कि यह धारणा कब से प्रचलित हुई।

पर्युषणा : प्राचीन धारणा

प्राचीन साहित्य में पर्युषणा की धारणा इससे सर्वथा भिन्न है। उसके अनुसार पर्युषणा का अर्थ है वर्षावास की स्थिति या चातुर्मासिक स्थिति। भाद्र शुक्ला पंचमी का दिन उस स्थिति का यानी पर्युषणा का पहला दिन है। इसीलिए कल्पसूत्र में लिखा है—पर्युषणा भाद्र शुक्ला पंचमी से पहले की जा सकती है, बाद में नहीं की जा सकती। उस दिन (भाद्र शुक्ला पंचमी के दिन) तो अवश्य होनी चाहिए।

कल्पसूत्र के अनुसार यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर ने भाद्र शुक्ला पंचमी को वर्षावास की पर्युषणा यानी वर्षाकालीन वास की स्थिति की थी। कहां यह धारणा और कहां आज की धारणा? कहां पर्युषणा-वर्षावास का पहला दिन और कहां वर्षावास का पचासवां दिन? प्राचीन धारणा और वर्तमान धारणा में बहुत बड़ा अन्तर है।

शाब्दिक अर्थ

पर्युषण का शाब्दिक अर्थ है निवास करना। निर्युक्ति साहित्य में इसके अनेक समानार्थक शब्द बताए गए हैं। जैसे पर्याय, व्यवस्थापना, पर्युपशमन, प्राकृतिक, परिवसना, पर्युषणा, वर्षावास, प्रथम समवसरण, स्थापना, ज्येष्ठावग्रह।

कल्पसूत्र में वर्षावास-पर्युषित मुनि के लिए अनेक मर्यादाओं के अनुपालन का विधान है।

पर्युषणा-विधि

निशीथ भाष्य चूर्ण के अनुसार वर्षावास—पर्युषणा की विधि इस प्रकार है—औत्सर्गिक विधि के अनुसार वर्षावास-पर्युषणा आषाढी पूर्णिमा को की जाती है। क्षेत्र आदि का उपयुक्त योग न मिलने पर आपवादिक विधि के अनुसार वर्षावास-पर्युषणा भाद्र शुक्ला ५ को की जाती है—‘ताहे भद्रवया जोण्हंसि पंचमीए पज्जोसवन्ति।’ पर्युषणा प्रारम्भ करने की आदि तिथि आषाढी पूर्णिमा और अंतिम तिथि भाद्र शुक्ला पंचमी है। इस दिन सुविधा के अभाव में पर्युषणा न कर सके तो इनके मध्य श्रावण कृष्णा पंचमी को करनी

चाहिए। इस दिन भी न कर सके तो क्रमशः श्रावण कृष्णा १०+१५, श्रावण शुक्ला ५+१०+१५, भाद्र कृष्णा ५+१०+१५, भाद्र शुक्ला पंचमी को अवश्य करनी चाहिए। यदि अभिर्वाधित संवत्सर हो तो बीसवें दिन अर्थात् श्रावण शुक्ला पंचमी (चतुर्मास में मास-वृद्धि नहीं हो तो) और यदि चंद्र संवत्सर हो तो पचासवें दिन अर्थात् भाद्र शुक्ला पंचमी को अवश्य ही पर्युषणा करनी चाहिए।

पर्युषणा की स्थापना

पर्युषण की स्थापना पर्व तिथि को करनी चाहिए; जैसे—पूर्णिमा, पंचमी, दसमी आदि। कालकाचार्य ने अपर्व तिथि को पर्युषणा कारणवश की थी।

आषाढी पूर्णिमा से पचासवें दिन पर्युषणा की स्थापना होने पर पर्युषणा (वर्षाकालीन निवास) ७० दिन की होती है। यह सर्वाल्प वर्षा-कालीन निवास है।

श्रावण कृष्णा १०, अमावस्या, शुक्ला १०, पूर्णिमा तथा भाद्रपद कृष्णा १० को पर्युषणा की स्थापना की जाती है। यह मध्यम पर्युषणा है।

आषाढी पूर्णिमा से पर्युषणा की जाती है, यह ज्येष्ठावग्रह है। यह उत्कृष्ट पर्युषणा (वर्षाकालीन निवास) है।

पर्यालोचन के बिन्दु

समवायांग सूत्र (समवाय ७०) में जहां भगवान् महावीर द्वारा पर्युषणा करने का पाठ है, वहां 'वासावासं पज्जोसवेइ'—यह उल्लेख है। इसका अर्थ है भगवान् महावीर ने वर्षावास की पर्युषणा की। अभयदेव सूरि ने 'वासावासं' का अर्थ वर्षाविस्थान और 'पज्जोसवेइ' का अर्थ परिवास (परिवसति—सर्वथा वासं करोति) करवा किया है। यह वर्षावासकालीन निवास पर्युषणा का बहुत स्पष्ट अर्थ है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य में पर्युषणा का जो स्वरूप रहा है, वह यहां प्रस्तुत किया गया है। इसे प्रस्तुत करने की प्रेरणा मुझे पर्युषणा संबंधी मतवादों से मिली। आचार्यश्री तुलसी ने भाद्र शुक्ला पंचमी को सांवत्सरिक पर्व मनाने का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया तब अनेक विचार सामने आए। कुछ लोग कहते हैं—सांवत्सरिक पर्व चतुर्थी का ही होना चाहिए तो कुछ लोग कहते हैं कि सांवत्सरिक पर्व घटिका तिथि के अनुसार होना चाहिए। पर्युषणा संबंधी आज की धारणा प्राचीन धारणा से भिन्न है। इसलिए दोनों धारणाओं में कुछ अंतर-विरोध आता है। वर्तमान धारणा की पुष्टि उन सूत्रों से की जाती है, जिनकी रचना उस प्राचीन परम्परा के लिए हुई थी। आज इस विषय पर गम्भीरता से पर्यालोचना करना आवश्यक है। पर्यालोचना के मुख्य तीन सूत्र बनते हैं :

- (१) प्राचीन धारणा को फिस्ट से प्रस्थापित किया जाए ?
- (२) वर्तमान धारणा को व्यवस्थित रूप दिया जाए ?
- (३) प्राचीन धारणा के प्रवर्तक तथ्यों से वर्तमान धारणा का समर्थन किया जाए या न किया जाए ?

पर्व-धर्म का मूल्यांकन

जैन तत्त्व विद्या के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को छोड़कर किसी वस्तु की व्याख्या नहीं की जा सकती। धर्म की व्याख्या भी इस चतुष्टयी के संदर्भ में ही की जा सकती है। धर्म के दो रूप हैं—सहज-धर्म और पर्व-धर्म।

सहज-धर्म : पर्व-धर्म

सहज-धर्म क्षेत्र और काल की मर्यादा से मुक्त होता है। वह सतत प्रवाही होता है। हिमालय से निकलने वाली नदियों का स्रोत अविरल रूप में बहता रहता है। बरसाती नदियां उफनती हुई आती हैं। उनके पीछे स्थायी स्रोत नहीं होता, इसलिए वे थोड़े समय बाद सूख जाती हैं। पर्व-धर्म की तुलना बरसाती नदियों से की जा सकती है। पर्युषण एक पर्व है। उसमें धर्म की बाढ़ सी आ जाती है। किंतु पर्व की पूर्ति के साथ-साथ धर्म का स्थान खाली हो जाता है। बरसाती नदियों की उपयोगिता में कोई संदेह नहीं। बांध लेने पर उनकी उपयोगिता बन जाती है। पर्व की प्रेरकता सुनिश्चित है। उसमें मनुष्य की श्रद्धा घनीभूत होती है। किन्तु धार्मिकों को बांध बांधने की पद्धति विकसित करनी है।

सहज धर्म की सत्ता में पर्व-धर्म शोभा देते हैं, अन्यथा आठ दिन के धार्मिक जीवन की शेष वर्ष के जीवन से सुचारु संगति नहीं बैठती।

प्रवृत्ति का परिणाम

पर्युषण में धर्म की विशेष आराधना क्षमा, उपशम, आज्ञा आदि सहज धर्मों की पुष्टि के लिए हो तो वह अपने आप में मूल्यवान् है। यदि उसकी आराधना पर्व-महिमा के संस्कार से प्रेरित हो तो उसे बहुत मूल्य नहीं दिया जा सकता। पर्व-धर्म का स्रोत सहज धर्म के स्रोत में मिल जाए, यही उसकी मूल्य-वृद्धि का उपक्रम है। अधर्म की नदी हमारे जीवन के घरातल में बह रही है, वह न हमें दिखाई देती है और न किसी दूसरे को। हम जब कुंआ खोद डालते हैं तब उसका जल ऊपर आ जाता है। वह दृष्ट अधर्म है। एक आदमी दूसरे आदमी को कष्ट देता है। उसका मूल दृश्य प्रवृत्ति में नहीं है। हर प्रवृत्ति अपनी पूर्व प्रवृत्ति का परिणाम होती है। जिसके जीवन की गहराई में कषाय का स्रोत बहता है, वही आदमी परिस्थिति या बाह्य निमित्तों से प्रभावित होकर दूसरों को कष्ट दे सकता है।

आराधना का परिपूर्ण मार्ग

हिंसा, भूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि जितने भी प्रवृत्त्यात्मक अधर्माचरण हैं, उन सबका मूल गहराई में रहता है। हम लोग परिणामात्मक प्रवृत्ति को त्यागना चाहते हैं और त्यागते हैं। किन्तु कारणात्मक प्रवृत्ति का परित्याग हुए बिना क्या परिणामात्मक प्रवृत्ति त्यागी जा सकती है? इसका अर्थ त्याग की कदर्थना नहीं है। दृश्य प्रवृत्ति का त्याग धर्म की आराधना का परिपूर्ण मार्ग नहीं है। दृश्य और अदृश्य, कारणात्मक और परिणामात्मक—दोनों प्रवृत्तियों के निरोध की प्रक्रिया हम समझें तभी धर्माराधना की सम्यक् दृष्टि हमें प्राप्त हो सकती है।

धर्म की सहज अनुभूति क्यों नहीं ?

विषयों का त्याग दृश्य जगत् से संपर्क विच्छिन्न करना है। हम आंख बन्द कर लेते हैं, रूप से हमारा सम्पर्क विच्छिन्न हो जाता है। हम कान बन्द कर लेते हैं, शब्द से हमारा संपर्क विच्छिन्न हो जाता है। हम अनशन कर लेते हैं, इससे हमारा आहार से संपर्क विच्छिन्न हो जाता है। संपर्क-विच्छेद से नई वासनाओं और नए संस्कारों का निर्माण नहीं होता। किन्तु इस प्रक्रिया से वासना का स्रोत नहीं सूखता। उसे सुखाने के लिए अध्यात्म की अग्नि का प्रज्वलन अपेक्षित है। आज धर्म अध्यात्म से अनुप्राणित नहीं है। बाह्य स्रोत आंतरिक स्रोत से संयुक्त नहीं है। यही कारण है कि धार्मिक को धर्म की सहजानुभूति नहीं है।

सत्य की समग्र भूमिका

अध्यात्म का अर्थ है—आत्मा की गाढ़ अनुभूति और गाढ़ साहचर्य। निश्चयनय के अनुसार यही सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य है। हम व्यवहार की भूमिका को भुला नहीं सकते। जहां निश्चय और व्यवहार—दोनों विच्छिन्न होते हैं, वहां सत्य की हत्या हो जाती है। जहां निश्चय का विच्छेद हो जाता है, वहां सत्य की डोर हमारे हाथ से छूट जाती है। जहां व्यवहार विच्छिन्न होता है वहां सत्य की क्रियान्विति निःशेष हो जाती है। सत्य की समग्र भूमिका यह है कि निश्चय और व्यवहार—दोनों में सामंजस्य स्थापित किया जाए। व्यवहार की भूमिका में पर्व-धर्म का महत्त्व कम नहीं है। किन्तु उसका महत्त्व तभी है जब उसका स्रोत सहज धर्म के स्रोत से विच्छिन्न न हो।

परिवर्तन का दिशा-संकेत

धर्म केवल धर्म ही रहे तब तक वह व्यक्ति के लिए होता है, समुदाय के लिए नहीं। धर्म जब शासन बनता है तब वह सामुदायिक होता है। सामुदायिकता का मूल है शासन और उसका मूल है लक्ष्य के प्रति आस्था।

हमारा लक्ष्य है आत्मा का विकास। उसका साधन है संयम। वह धर्म है। उसकी साधना के लिए हम गण में संस्थित होते हैं। अकेले में साधना हो नहीं सकती, यह हमारा अभिमत नहीं है किंतु उसके लिए जितनी शक्ति, सहिष्णुता और धृति चाहिए, वह आरम्भ में नहीं होती, इसलिए पहले गण-संस्थिति प्राप्त होती है, फिर एकल-विहार प्रतिमा।

धर्म और गण संस्थान

धर्म और गण-संस्थान में कोई विरोध नहीं है तो उनमें कोई गठबंधन भी नहीं है। इसलिए भगवान् ने कहा है।

एक व्यक्ति गण-संस्थिति को छोड़ देता है, धर्म को नहीं छोड़ता।

एक व्यक्ति धर्म को छोड़ देता है, गण-संस्थिति को नहीं छोड़ता।

एक व्यक्ति न गण-संस्थिति को छोड़ता है और न धर्म को।

एक व्यक्ति गण-संस्थिति को भी छोड़ देता है और धर्म को भी।

पहली कोटि में वे हैं, जो एकल-विहार की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। दूसरी कोटि में वे हैं, जो वंचना करते हुए गण की सुविधा का उपभोग करते हैं। तीसरी कोटि में वे हैं, जो गण में रहकर साधना करते हैं। चौथी कोटि में वे हैं, जो गण और धर्म—दोनों से दूर हो जाते हैं।

सम्प्रदाय के साथ धर्म का सम्बन्ध या असम्बन्ध है, उसकी यह बहुत ही स्पष्ट भाषा है। धर्म सम्प्रदाय और वेश की कारा में बन्दी नहीं है, यह उसके आध्यात्मिक या वैयक्तिक स्वरूप की घोषणा है। सम्प्रदाय और वेश को त्याग कर धर्म-साधना का प्रारम्भ करना सरल नहीं है, यह उसके सामुदायिक स्वरूप की अभिव्यंजना है।

सामुदायिकता का लक्ष्य

धर्म सामुदायिक नहीं है, उसकी साधना-पद्धति सामुदायिक है। सामुदायिकता का लक्ष्य है—अनेक व्यक्तियों का समान लक्ष्य, समान मार्ग और समान प्राप्ति। असमानता और समानता की जो भेद-रेखा है, वही है मर्यादा। वह अपने आप में धर्म नहीं है। धर्म का भाग्य उसके हाथों में

सुरक्षित है। शिष्य न बनाना कोई धर्म नहीं है और बनाना कोई अधर्म नहीं है। धर्म है समभाव। शिष्य बनाना समभाव में बाधा डालने लगे तो वह अधर्म है और शिष्य न बनाने से समभाव की सुरक्षा हो तो वह धर्म है। वास्तव में ये समय-समय पर बनने वाली मर्यादाएं उपधर्म हैं, धर्म की पोषक हैं।

मर्यादा : परिवर्तन का सन्दर्भ

मर्यादाएं यदि मौलिक धर्म होतीं तो उनका स्वरूप-परिवर्तन नहीं होता। देश-काल के परिवर्तन के साथ उनकी उपयोगिता भी परिवर्तित होती है। इसीलिए समय-समय पर आचार्यों ने उन्हें बदला है। आचार्य भिक्षु ने मर्यादा की—‘जो साधु शाम को गर्म आहार ले वह घी न खाए।’ जयाचार्य ने उसे बदल दिया। उन्होंने लिखा—जो शाम को गर्म आहार ले, वह साधु घी के अतिरिक्त विंगय—दूध, दही आदि न खाए। आचार्य भिक्षु के समग्र में घी का वर्जन कठिन था किन्तु जयाचार्य के समय में वह सरल हो गया। इसीलिए उन्होंने अपने समय में उसे बदल दिया। सहज ही प्रश्न होता है—क्या अपने पूर्वजों की मर्यादाओं को बदल देना उनके प्रति असम्मान की भावना व्यक्त नहीं करता? क्या उन्होंने जो किया, वह सोच समझकर नहीं किया? क्या वे हम से अधिक बुद्धिमान् नहीं थे?

परिवर्तन क्यों?

मैं इस भाषा में नहीं सोचता कि वे हम से कम बुद्धिमान् थे किन्तु यह आवश्यक नहीं कि पूर्वज अपने अवरजों से अधिक बुद्धिमान् ही हों। बुद्धि का महत्त्व ही क्या है? उनकी साधना की गहराई में हम अपनी बुद्धि को विलीन कर देते हैं तब उसकी न्यूनाधिकता का कोई अर्थ नहीं होता।

उन्होंने जो किया, वह सोच-समझकर किया, यह सही है परन्तु सोचने का दृष्टिकोण परिस्थिति से सर्वथा अस्पृष्ट नहीं होता। उन्होंने अपनी परिस्थितियों के आलोक में जो देखा, उसे हम उपयोगी मानते हैं किन्तु उनसे भिन्न परिस्थितियों में भी वह उपयोगी ही रहता है, ऐसा मानना सरल नहीं है।

पूर्वजों की बनाई मर्यादाओं को बदलना उनका असम्मान नहीं है और न बदलना उनका सम्मान है, यह कहना भी एकान्ततः सत्य नहीं है। उन्होंने जो सामयिक मर्यादा की, उसे हम शाश्वत का रूप देकर उनका सम्मान नहीं बढ़ा सकते, उनके विचारों को अधिक प्रकाशमय नहीं बना सकते।

महत्त्व है साधना का

भगवान् महावीर ने कहा—साधु आचार्य और उपाध्याय के बिना न

रहे और साध्वी आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी के बिना न रहे। भिक्षु स्वामी ने इस व्यवस्था में परिवर्तन ला दिया। उपाध्याय और प्रवर्तिनी के पद को आचार्य पद में ही विलीन कर दिया। इसे क्या माना जाए? भगवान् की वाणी का सम्मान या असम्मान? जिस समय पद की अपेक्षा से साधना का अधिक महत्त्व था, उस समय भगवान् ने सुविधा की दृष्टि से अनेक पदों का विधान किया। भिक्षु स्वामी हुए तब समय और जनमानस बदल चुके थे। उस समय साधना की अपेक्षा पद का महत्त्व अधिक हो गया था। इसलिए उन्होंने सुविधा की दृष्टि से अनेक पदों को एक पद में समाहित कर दिया। ऐसा कर उन्होंने भगवान् के शासन का सम्मान ही बढ़ाया है। पदों की महिमा के युग में उन्हें बनाए रखकर वे भगवान् या उनकी वाणी का सम्मान नहीं बढ़ा पाते।

सापेक्ष होता है शाश्वत का निरूपण

एक जैन आचार्य ने कहा—जिनवाणी का एक भी शब्द नय-निरपेक्ष नहीं है, अपेक्षा-शून्य नहीं है। शाश्वत का निरूपण भी सापेक्ष होता है तब अशाश्वत की बात ही क्या? उस समय की व्यवस्था थी—दस राजधानियों में मुनि बार-बार न जाएं। आज वह हमारे लिए इतिहास ही हो सकता है, विधान नहीं। शाश्वतिक रूप देकर हम आगम वाणी को जटिल ही बनाएंगे, सरल नहीं।

सभी जैन-परंपराओं में जिनवाणी को अपेक्षा की दृष्टि से मान्य किया गया है। परिवर्तन का मूल वही है। चतुर्मास के बाद मार्ग प्रशस्त न हो, वर्षा-कीचड़ आदि हो तो मृगसर के दस या पंद्रह दिन तक मुनि उसी ग्राम में रह सकते हैं। यह आचारांग का विधान है। दीक्षा देने के लिए दस-पंद्रह दिन अधिक रहने का विधान कहीं नहीं है परन्तु जीवों की हिंसा न हो, इस दृष्टि से रहा जा सकता है तो किसी जीव के आत्म-कल्याण के लिए क्यों नहीं रहा जा सकता?

विधान परिवर्तन के निदर्शन

उस समय मुनि अधिकांशतः श्मशान, शून्यघर, वृक्षमूल आदि स्थानों में रहते थे, इसलिए विधान किया गया—मुनि उस घर में न रहे, जिसमें किवाड़ हो। आज की स्थिति भिन्न है, वर्तमान की अपेक्षा से किवाड़ वर्जित नहीं है। प्राचीन साहित्य में दूध, दही आदि विगयों के भोजन को आपवादिक माना गया है, आज वह औपसंगिक है। प्राचीन युग में लिखने का निषेध रहा है, आज वह विहित है। आचारांग में वस्त्रों की संख्या सीमित है। प्रश्न-व्याकरण में वह विकसित होती है और उसके बाद में तो वह क्रमशः बढ़ती ही चली जाती है। उस समय संवत्सरी आदि पर्व जैन ज्योतिष पद्धति के अनुसार

होते थे, आज वह पद्धति लुप्त है। संवत्सरी चौथ को हो या पंचमी को, इस प्रश्न पर विग्रह हो जाता है, किंतु यह विग्रह सर्वथा अर्थ-शून्य है। यह मूल के बिना शाखा का पल्लवन है। यह वैसे है, जैसे भैंस को खरीदा ही नहीं और मलाई खाने को पति-पत्नी लड़ पड़े। जैन ज्योतिष के अनुसार चतुर्मास होता तो चौथ या पंचमी का विचार कोई अर्थ रखता। वह मूल ही नहीं है तो फिर तीज, चौथ, पंचमी या छठ में क्या अन्तर है? ये थोड़े से उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं, जिनसे जना जा सकता है कि देश-काल के परिवर्तन के साथ कितना परिवर्तन होता है।

विधि विधान के केन्द्र हैं आचार्य

आगमों में अनेक स्थानों में हमें विरोधाभास लगता है। वास्तव में वह विरोधाभास नहीं है। हम उन्हें इतिहास की दृष्टि से नहीं पढ़ते, कालक्रम के परिवर्तन की दृष्टि से नहीं देखते, इसलिए वे हमें परस्पर-विरोधी लगते हैं। आगमिक विधानों की जो स्थिति है वही स्थिति पारम्परिक विधि-विधानों की है। उनमें भी वैसे ही परिवर्तन होता रहता है। आगमिक विधानों को हम बदलते नहीं। उनकी अपेक्षा दृष्टि को स्पष्ट कर कार्य-प्रणाली में परिवर्तन लाते हैं और पारम्परिक विधानों में परिवर्तन करने का अधिकार आचार्य को होता है इसलिए वे उन्हें प्रत्यक्ष रूप में भी बदल देते हैं। आचार्य की बांधी मरजादा आचार्य रै हाथ छे—आचार्य भिक्षु ने इस वाक्य में अनन्त सत्य को उंडेला है। रूढ़िवादिता और आग्रह के लिए उन्होंने कोई मार्ग खुला नहीं रखा और सत्य शोध के लिए कोई द्वार बन्द नहीं किया।

आचार्य की दूरदर्शिता

एक प्रश्न और चिंतनीय है कि मर्यादाओं में बार-बार परिवर्तन होता रहे तो उन पर साधारण व्यक्तियों की श्रद्धा कैसे जमे? यह प्रश्न आवश्यक नहीं है, किंतु यह भी आवश्यक नहीं कि श्रद्धा जमाए रखने के लिए मर्यादा को रूढ़ बना दिया जाए। उपयोगिता नष्ट होने पर भी उसे प्रयुक्त रखा जाए। संक्रान्तिकाल को श्रद्धा का संकट हमेशा देखना पड़ता है। पूर्वज आचार्यों ने मर्यादाएं सोच-समझकर की हैं तो उन्होंने अवरज आचार्यों को उसमें परिवर्तन करने का अधिकार भी सोच-समझकर दिया है। इस दिशा में आचार्य भिक्षु की दूरदर्शिता सर्वाधिक परिस्फुटित हुई है। उनके चिन्तन की यह सबसे बड़ी रेखा है।

मर्यादा की मर्यादा : त्रिगुप्ति की साधना

हम संघबद्ध जीवन जी रहे हैं। इसमें दो प्रकार की मर्यादाएं हैं। एक मर्यादा है संगठन की और एक है उस मर्यादा की मर्यादा। उसका आधार है—अध्यात्म, अन्तरंग जागरण, आंतरिक चेतना की जागृति। मर्यादा की मर्यादा को समझे बिना मर्यादा का भी ठीक से पालन नहीं हो सकता। हमारी मर्यादा शक्ति-प्रेरित मर्यादा नहीं है, अन्तःप्रेरित मर्यादा है। हमारे अन्तरंग से उद्भूत होने वाली प्रेरणा ही उस मर्यादा का सम्यक् पालन करवाती है। एक है—संघ की सामाचारी और एक है—साधना या साधुत्व। साधुत्व है—पांच महाव्रत, पांच समितियां और तीन गुप्तियां। इनमें साधना की पूरी प्रक्रिया आ जाती है।

सामाचारी के दो प्रकार

दो प्रकार की सामाचारी है—दस प्रकार की सामाचारी और पद-विभाग सामाचारी। दस प्रकार की सामाचारी संघ की मर्यादा का सूत्र है। एक है समूह की मर्यादा, संघ की मर्यादा। एक है व्यवहार की मर्यादा और एक है संभावना की मर्यादा। महाव्रतों के पालन में कोई दोष न लगे, इस संभावना से अनेक मर्यादाओं का निर्माण हुआ है। संगठन हमारा बाहरी रूप है। उसकी मर्यादाएं भी बाह्य को पुष्ट करने वाली हैं। सबसे पहले वहीं रूप सामने आता है, आंतरिक रूप बाद में सामने आता है। एक है पहले सामने आने वाला और एक है बाद में सामने आने वाला।

स्वागत कब : किसका

एक राजा राज-दरबार में बैठा था। एक आदमी आया। उसके कपड़े फटे हुए थे। वह प्रणाम कर बैठ गया। राजा ने ध्यान नहीं दिया। थोड़ी देर बाद दूसरा व्यक्ति आया। उसके कपड़े साफ-सुथरे थे। वह सजा हुआ था। दिखने में अच्छा लग रहा था। उसके आते ही राजा खड़ा हुआ। उसने प्रणाम किया। राजा ने भी अभिवादन किया। उसे आसन दिया। वह बैठ गया। बातचीत हुई। कुछ समय बीता। बढ़िया कपड़े वाला व्यक्ति उठा और वहां से चल दिया। राजा ने उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। फटे कपड़े वाला व्यक्ति भी उठा। उसके उठते ही राजा भी उठा और उसको दरवाजे तक पहुंचाने गया। प्रणाम कर वापस लौट आया। पार्षदों को अचम्भा हुआ। उन्होंने सोचा—यह कैसा व्यवहार! आते, वक्त स्वागत उस

साफ-सुथरे कपड़े वाले व्यक्ति का किया और जाते वक्त इस फटे-पुराने कपड़े वाले व्यक्ति का किया। यह कैसे ? राजा ने कहा—मैंने ठीक किया है। पार्षदों ने कहा—दो प्रकार का व्यवहार सामने आए, उसे ठीक कैसे कहा जा सकता है ? राजा बोला—आते समय स्वागत कपड़ों का होता है और जाते समय स्वागत गुणों का होता है।

साधुत्व का मूल

आपात दर्शन में स्वागत संगठन का होता है, मर्यादा का होता है और जब व्यक्ति भीतर का अवगाहन करता है तब स्वागत गुणों का होता है, अध्यात्म का होता है, साधना का होता है। मर्यादा का रूप कितना ही सुन्दर हो अगर साधना नहीं है तो उसका सम्मान नहीं हो सकता और उसका सौन्दर्य भी सिद्ध नहीं हो सकता।

साधुत्व क्या है ! यह एक प्रश्न है। सामाचारी साधुत्व नहीं है। वे साधुत्व की मर्यादाएं हैं, सीमाएं हैं, संभावनाओं का वर्जन है। उसका सौंदर्य है या उसके सौंदर्य को बढ़ाने वाली हैं। मकान सुन्दर होता है। लिपाई और पलस्तर से उसका सौंदर्य बनता है। उसके प्रति आकर्षण भी बढ़ता है। वह मकान वर्षा से बचाता है, सुरक्षा देता है। इतना हो सकता है पर नींव नहीं माना जा सकता। नींव कुछ और होती है। हम नींव की बात को समझें। सामाचारी हमारी साधना में सहायक हो सकती है, साधना को सहारा दे सकती है, गति में वेग ला सकती है पर वह साधुत्व की नींव नहीं है, मूल नहीं है।

मूल है अप्रमाद

मूल जो प्राणवत्ता है, जीवन है, चैतन्य है, ऊर्जा है, वह अप्रमाद है। महावीर की समूची साधना पद्धति में दो ही शब्द हैं—अप्रमाद और प्रमाद। चाहे हिंसा-अहिंसा की व्याख्या करें, सत्य की व्याख्या करें, परिग्रह की व्याख्या करें, एक शब्द में हम कह सकते हैं—जहां अप्रमाद है वहां हिंसा नहीं है, जहां अप्रमाद है वहां असत्य नहीं है, जहां अप्रमाद है वहां परिग्रह नहीं है। जहां अप्रमाद है, सतत जागरण है वहां कोई दोष नहीं है।

स्थानांग सूत्र का प्रसंग है। भगवान् महावीर से गौतम आदि शिष्यों ने पूछा—भंते ! दुःख का कर्त्ता कौन है।

भगवान् ने कहा—अत्तकड़े दुःखे—दुःख आत्मकृत है। दुःखों का कर्त्ता आत्मा है।

दुःख का मूल कारण क्या है ?

दुःख का मूल कारण है—प्रमाद।

हमारी सारी समस्याओं का मूल है प्रमाद।

प्रश्न हुआ—दुःख का वेदन किससे होता है ?

उत्तर मिला—अप्पमाएणं । अप्रमाद से दुःख का वेदन होता है ।

अप्रमाद होता है तो सारे दुःखों का, सारे कर्मों का वेदन हो जाता है । वेदन कहने के बाद निर्जरा कहने की कोई आवश्यकता नहीं है । कर्मों का वेदन ही होता है, निर्जरा नहीं होती । निर्जरा होती है अकर्म की । कर्म का होता है वेदन और अकर्म की होती है निर्जरा । वेदन होगा तो निर्जरा अपने-आप ही हो जाएगी ।

साधना का क्षेत्र और अप्रमाद

महत्त्वपूर्ण सूत्र है—अप्रमाद । इसे हम ठीक से समझें । साधना के क्षेत्र में व्यावहारिक मूल्यों या व्यावहारिक मानदण्डों से काम नहीं चलेगा । आज सामाचारी और साधना के एकीकरण की भ्रांति के कारण हम साधना के क्षेत्र में व्यावहारिक मानदण्डों को लाने लगे हैं । यानी घटनाएं प्रमुख हो गईं और अन्तःकरण या अध्यात्म गौण हो गया । प्रामाण्य होता है अन्तःकरण का, प्रामाण्य होता है अध्यात्म का । वह गौण हो गया और घटना प्रमुख हो गई । यदि हम घटना को मुख्य मानें तो भाव अहिंसा की बात नहीं बैठेगी । माना जाता है कि साधना की एक ऐसी अवस्था भी है, जहां प्राणी का प्राण भी चला जाता है, वहां दोष नहीं, कर्मबन्धन नहीं । यदि घटना की प्रधानता हो तो ऐसा हो नहीं सकता । वहां प्रधानता है अप्रमाद की । यदि हमारा अप्रमाद है और कोई आकस्मिक घटना घटित हो जाती है तो उसके आधार पर निर्णय नहीं लिया जाता । साधना के क्षेत्र में निर्णय लिया जाता है प्रमाद और अप्रमाद के आधार पर ।

महाव्रत : अन्तर् की साधना

महाव्रत की साधना अन्तर् की साधना है । उसकी व्यवस्थित प्रक्रिया है । उसकी गहराई में जाने पर साधना का कोई भी सूत्र छूटता नहीं है । मैं नहीं मानता कि कोई व्यक्ति अहिंसक होता है और उत्कृष्ट साधक नहीं होता । ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है । साधु-साध्वियां भी पूछते हैं कि जब हम साधु बन गए तो फिर साधना की अलग से क्या आवश्यकता रह गई ? कोई आवश्यकता नहीं रही । अहिंसा सबसे उत्कृष्ट साधना है ।

साधना का सबसे बड़ा सूत्र है—अप्रमाद । अहिंसा का अर्थ ही है—अप्रमाद । अनारम्भ का अर्थ है—अप्रमाद । अप्रमाद नहीं है तो कोई भी योग—प्रवृत्ति शुद्ध नहीं होगी । राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करना, इससे बढ़कर कोई साधना नहीं है और साधना का कोई सूत्र नहीं है । अहिंसा का मतलब ही है—राग-द्वेष को उत्पन्न न करना । गुप्तियों की आराधना के बिना

अप्रमाद, अहिंसा या जागरूकता की स्थिति उपलब्ध नहीं हो सकती ।

प्रश्न गुप्ति की आराधना का

गुप्तियों की आराधना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । इसकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए । व्यवहार की भूमिका पर अभिव्यक्त होता है हमारा आचरण । किन्तु गुप्तियां ठेठ भीतर तक चली जाती हैं और आध्यात्मिक बन जाती हैं । हमने अहिंसा का संकल्प ले लिया, महाव्रत ग्रहण कर लिया, किन्तु मन को एक विषय पर केन्द्रित करने की क्षमता नहीं बनी, मन को शिक्षित या केन्द्रित करना नहीं जाना तो संकल्प सफल नहीं होगा । मन चपल है । वह चपलता के साथ अपना कार्य करता है । मन में यदि संकल्प की शक्ति नहीं है, संकल्प का विकास नहीं है, संकल्प की शक्ति के द्वारा साधक में जो दृढ़ता आनी चाहिए, संकल्प पर मर-मिटने का जो भाव होना चाहिए, वह नहीं है तो किया हुआ संकल्प भी मनोगुप्ति के अभाव में स्थलित हो जाता है । भीतर और बाहर की जो एकरूपता होनी चाहिए, वह नहीं सध-पाती है, खंडित हो जाती है । मनोगुप्ति की साधना हमारे साधुत्व की साधना से भिन्न नहीं है ।

गुप्ति का महत्त्व

हम यह न मानें कि हमें कोई नए सिरे से साधना का उपक्रम करना पड़ेगा । किन्तु जिस साधना-पथ को स्वीकार किया है उसकी पुष्टि होनी चाहिए । पुष्टि का उपाय है—मन की गुप्ति जितनी दृढ़ होगी, हमारा संवर उतना ही दृढ़ होगा । जितना संवर दृढ़ होगा, अहिंसा उतनी ही पुष्ट होगी, सत्य उतना ही पुष्ट होगा, अपरिग्रह उतना ही पुष्ट होगा । यदि वह नहीं है तो अहिंसा का व्रत या महाव्रत, सत्य का व्रत या महाव्रत, अपरिग्रह का व्रत या महाव्रत जो स्वीकृत है, वह मात्र एक दबाव का व्रत होगा, अन्तःप्रेरणा या आंतरिक चेतना से उद्भूत होने वाला सहज उल्लासमय व्रत नहीं होगा । इस दृष्टि से महाव्रतों या अणुव्रतों की साधना में मनोगुप्ति की साधना को नहीं भुलाया जा सकता । इसके लिए सतत अभ्यास, पूर्णनिष्ठा, एक लक्ष्य पर केन्द्रित होने की क्षमता का विकास—ये सब अपेक्षित हैं ।

प्रश्न भूमिका का

बहुत सारे व्यक्ति पूछते हैं—इतने साधु-साधवियां हैं । कौन किस भूमिका तक पहुंचा है ? बड़ा जटिल है यह प्रश्न और बड़ा जटिल है इसका उत्तर । हम बन्धी-बन्धायी परिभाषा में इसका उत्तर दे देते हैं, पर प्रश्नकर्ता का उससे समाधान नहीं होता । एक वर्ष का दीक्षित साधु भी साधु है, आज का दीक्षित साधु भी साधु है और पचास वर्ष का दीक्षित साधु भी साधु है । क्या सबकी भूमिका एक ही होगी ? यदि भूमिका एक ही है तो जो प्राइमरी

में पढ़ता है, जो स्नातक या स्नातकोत्तर की पढ़ाई करता है, सबका एक ही क्रम होगा।

विकासक्रम की भूमिकाओं के आधार पर हमारा कोई निश्चित क्रम होना चाहिए। अप्रमाद की बात कहने में जितनी सहज और सरल है, उतनी ही साधना में दुरूह है, कठिन है। हम स्वयं निरीक्षण करें—इतने समय के बाद हमारी क्षमताओं का कितना विकास हुआ? हमने जो एक संकल्प स्वीकार किया था, वह साधना की आंच में कितना पका और कैसा बना? आंच में पकने के बाद वस्तु के रूप रंग बदल जाते हैं।

अहिंसा के दो रूप

दूध त्रसकायिक जीव के पुद्गलों का पिंड है। उसे आग पर उबाल दिया गया। पूछा जाए—दूध किस काय का है? उत्तर होगा—अग्नि में पका हुआ दूध तेजस्काय का है। अनाज को आग में पका लिया जाए तो वह तेजस्काय हो जाता है। उसका वनस्पतित्व समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार त्रसकायित्व समाप्त हो जाता है। जो सूक्ष्म परिवर्तन होता है। आन्तरिक परिवर्तन होता है, उससे पदार्थ में परिवर्तन घटित हो जाता है। भगवती सूत्र में कहा गया—अग्निकाय में पकाये हुए परमाणु पिंड तेजस्कायिक बन जाते हैं। साधना की आंच में पका हुआ व्रत, पका हुआ संकल्प सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। उसका रूपान्तरण हो जाता है। एक होती है संकल्प की अहिंसा और एक होती है सिद्धि की अहिंसा। दोनों में भूमिकाओं का बहुत बड़ा अन्तर है, आकाश-पाताल का अन्तर है।

संकल्प और सिद्धि

एक व्यक्ति एक दिन का दीक्षित साधु है। उसने अहिंसा का संकल्प लिया है। हम नहीं कह सकते कि उसकी अहिंसा तेजस्वी हो गई, उसकी साधना तेजस्वी हो गई या उससे संघ या शासन तेजस्वी हो गया। जो एक, दस या बीस वर्ष का दीक्षित साधु है, जिसने अपनी अहिंसा को अनुकूलता, प्रतिकूलता, सर्दी-गर्मी आदि सब प्रकार के विरोधी द्वन्द्वों की आग में पका-पकाकर सिद्ध कर लिया है, उसके लिए हम कह सकते हैं कि वह स्वयं तेजस्वी बनता है, संघ तेजस्वी बनता है और शासन तेजस्वी बनता है। यदि भूमिका-भेद की बात को हम भूला देते हैं, साधु को मात्र साधु मान लेते हैं, साधना को मात्र साधना ही मान लेते हैं और उसके कालक्रम से आने वाले, परिणाम शुद्धि से आने वाले या भूमिका-भेद से आने वाले परिणामों पर ध्यान नहीं देते हैं तो पीछे मुड़कर देखने का, सिंहावलोकन करने का जो दुर्लभ क्षण मिलता है, वह हाथ से छूट जाता है।

भाषा और मन

साधना की गहराई के लिए, साधना की सिद्धि के लिए जितनी महत्त्व मनोगुप्ति का है उतना ही महत्त्व वचनगुप्ति का है। हम नहीं मान सकते कि ये दो हैं। हमने मन और वचन का स्थूल विभाजन कर दिया। दोनों में इतनी समीपता है कि आगमकार छह पर्याप्तियों के स्थान पर पांच पर्याप्तियां मान लेते हैं। भाषा और मन का भेद वहां नहीं होता। ऐसा लगता है कि पहले पांच पर्याप्तियों का ही क्रम रहा हो। प्रज्ञापना आदि सूत्रों में भी पांच पर्याप्तियों का ही नाम है। यह भी मान लिया गया—जो विकसित प्राणी हैं उनमें भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति दो नहीं होती, एक ही होती है। देवताओं में पांच पर्याप्तियां ही होती हैं। बहुत सारे ग्रंथकार बतलाते हैं कि चक्रवर्ती में भी पांच पर्याप्तियां ही होती हैं।

सोचना और बोलना दो नहीं हैं। बोलने के साथ सोचना जुड़ा रहता है। सोचेंगे और बोलेंगे। बोलने के लिए सोचना ही पड़ता है। मन को छोड़कर भाषा नहीं चलती।

वचन गुप्ति का महत्त्व

उत्तराध्ययन सूत्र की चर्चा है। गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—‘भंते ! वयगुप्तिएण जीवे किं जणयइ ?’ भगवन् वचनगुप्ति से क्या क्या प्राप्त होता है ? भगवान् ने कहा—वयगुप्तिएण निध्वियत्तं जणयई—वचनगुप्ति की साधना से निर्विचारता की प्राप्ति होती है। जो वाक्गुप्त है, उसे सोचने की कोई आवश्यकता नहीं है। ‘जनेभ्यो वाक्, ततः स्पंदो—जन सम्पर्क होगा तो वाक् होगी। वाक् होती तो स्पंद निश्चित होगा। चंचलता होगी, सोचना पड़ेगा। सोचेंगे फिर बोलेंगे, फिर सोचेंगे फिर बोलेंगे। यह क्रम चलता रहेगा।

निर्विचारता के लिए वचनगुप्ति इतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी मनोगुप्ति महत्त्वपूर्ण है। हम मौन को व्यर्थ न मानें। मौन भी बहुत बड़ी साधना है।

जल्प दो प्रकार का होता है—अन्तर् जल्प और बहिर् जल्प। एक भीतर की ध्वनि और एक बाहर की ध्वनि। हम बोलते हैं, यह बाहर की ध्वनि है। अगर अन्तर् जल्प नहीं है तो बाहर का जल्प कैसे होगा ? पहले होता है अन्तर् जल्प और फिर होता है बहिर् जल्प।

मनोगुप्ति की पुष्टि के लिए, उसे समर्थन या संवादिता देने के लिए वचनगुप्ति बहुत आवश्यक है।

कायगुप्ति

तीसरी बात है—कायगुप्ति। हम वचनगुप्ति करना चाहें या

मनोगुप्ति करना चाहें किन्तु यदि कायगुप्ति नहीं है तो दोनों गुप्तियां नहीं हो पाएंगी। हमें उल्टा चलना पड़ेगा। वास्तव में जो कुछ है, शरीर ही है। मन और वचन उसके छोटे उपकरण मात्र हैं। छोटी खिड़कियां हैं। सब कुछ शरीर के द्वारा होता है। छह पर्याप्तियों में शरीर पर्याप्ति पहले होती है। मनोवर्गणा हो, वचनवर्गणा हो या श्वासोच्छ्वासवर्गणा हो, सब काया के द्वारा गृहीत होती हैं। काय योग के बिना कुछ भी नहीं होता। काया की गुप्ति नहीं है तो संवर नहीं हो सकता, गुप्ति नहीं हो सकती।

योग में भी यही पद्धति है। मन पर नियन्त्रण करना है तो पहले कायोत्सर्ग करो, काया की चंचलता को रोको। शरीर की चंचलता नहीं छूटेगी तो मन की चंचलता नहीं छूटेगी। मूल है कायगुप्ति, कायगुप्ति की साधना। सबसे पहले कायोत्सर्ग का अभ्यास होता है। जब वह ठीक से सध जाता है तब मनोगुप्ति भी सरल हो जाती है और वचनगुप्ति भी सरल हो जाती है। मन और वचन—दोनों शरीर में उत्पन्न होते हैं। हमारे शरीर का सबसे बड़ा भाग है मस्तिष्क। जो कुछ भी परिवर्तन होता है वह मस्तिष्क में होता है।

संक्रमण की दुनिया

कल ही एक सुन्दर बात पढ़ी। 'स्पान' पत्र था। उसमें विज्ञान की बातें थीं। उसमें एक फोटो था। एक व्यक्ति बैठा है और उसके शिर पर चारों ओर यंत्र लगाए हुए हैं। एक डॉक्टर बैठा है। वह उस व्यक्ति के मस्तिष्क में होने वाले परिवर्तनों को माप रहा है, उनका लेखा-जोखा कर रहा है। वह केमिकल चेन्जेज, रासायनिक परिवर्तनों को माप रहा है। जिस प्रकार का रासायनिक परिवर्तन होता है, वैसा ही व्यवहार बन जाता है। सारा का सारा व्यवहार रासायनिक परिवर्तनों से प्रभावित है। मस्तिष्क में रासायनिक परिवर्तन हुआ और मन में वासना का विचार आ गया। मस्तिष्क में रासायनिक परिवर्तन हुआ और गुस्सा आ गया, स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ गया। सारा मापदंड रासायनिक परिवर्तन के द्वारा किया जाता है, मस्तिष्क की समग्र प्रक्रियाओं को समझने के लिए बहुत व्यवस्थित अध्ययन किया जा रहा है।

हम आज जिस दुनिया में जी रहे हैं, वह संक्रमण की दुनिया है। उसी पत्रिका में एक फोटो देखा। एक आदमी चारपाई पर लेटा हुआ है। कांस्मिक रेज, ब्रह्मांड किरणें, एक मिनट में सात हजार के अनुपात से उस व्यक्ति में से गुजर रही हैं। इतना संक्रमण ! इतनी हलचल ! इतना विस्फोट ! इस संक्रमण की दुनिया में जीने वाले हम अपने आपको कैसे बचा सकते हैं ? अशक्तता की बात को हम छोड़ दें तो काफी संक्रमण से बच

सकते हैं। यह सच है कि कायोत्सर्ग करने से बहुत सारी बातों से बचा जा सकता है। कायोत्सर्ग में रासायनिक परिवर्तन भी होता है।

कायोत्सर्ग : परिणाम

कायोत्सर्ग से क्या लाभ होता है ? यह एक प्रश्न है। कायोत्सर्ग शतक में कहा गया—कायोत्सर्ग करने वाला व्यक्ति सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी—इन सभी द्वन्द्वों के प्रति सहिष्णु बन जाता है। आसन-सिद्धि से क्या होता है—इसका उत्तर देते हुए पतंजलि ने कहा—‘ततो द्वन्द्वानभिघातः’ आसन सिद्ध होने पर साधक द्वन्द्व के अभिघात से बच जाता है। फिर द्वन्द्व का कोई अभिघात नहीं रहता। आसनसिद्धि का जो लाभ बताया गया है, उससे भी अधिक लाभ है कायोत्सर्ग का।

गुप्तियों की साधना ही वास्तव में साधना है। कोई भी साधना गुप्तियों की साधना से बाहर नहीं है। इसके अतिरिक्त न कोई साधना है और न कोई साधना का नया सूत्र है। हम तीन गुप्तियों की साधना को प्रथम स्थान दें। इसके लिए तीन बातें आवश्यक हैं—श्रद्धा, सातत्य और दीर्घकालिता।

साधना से जुड़े तत्त्व

पहली आवश्यकता है श्रद्धा। श्रद्धा का अर्थ है—घनीभूत इच्छा। घनी प्यास लगते ही आदमी पानी के लिए तड़फ उठता है। मन में साधना के प्रति ऐसी श्रद्धा जाग जाए कि उसके लिए मन तड़फ उठे।

दूसरा आवश्यक तत्त्व है—सातत्य। अभ्यास का क्रम सतत चलता रहे।

तीसरा आवश्यक तत्त्व है—निरन्तरता। आज एक घंटा तक अभ्यास किया, फिर उसे छोड़ दिया। फिर दो महीने बाद उसे संभाला। ऐसे काम नहीं होगा। वह दीर्घकाल तक चलना चाहिए, लम्बे समय तक चलना चाहिए। जीवन चले तब तक चलना चाहिए।

श्रद्धा, सातत्य और निरन्तरता—ये तीन बातें होती हैं तो गुप्तियों की साधना बड़ी साधना बन जाती है।

शक्ति-सुरक्षा का उपाय

प्रश्न होता है—इससे लाभ क्या मिलता है ? आज के शरीरशास्त्र की भाषा में इसे कहते हैं—शक्ति-क्षरण से बचाव। हमारी शक्ति कितनी खर्च होती है ? इस विषय में बहुत सूक्ष्मता से विचार किया गया है। चिन्तन में शक्ति का व्यय कितना होता है ? बोलने में कितना होता है ? हलन-चलन में कितना होता है ? यह प्रश्न बड़ा जटिल है। आज शरीरशास्त्री चिंतित

हैं। शक्तियाँ बहुत खर्च होती हैं। उन्होंने उपाय बताया—शक्तिक्ररण से बचने के लिए पूर्ण विश्राम लेना चाहिए। यह सबसे बड़ी दवा है। यह सब दवाओं की दवा है। दवा लेते गए और विश्राम नहीं किया तो दवा काम नहीं करेगी। विश्राम करते हैं तो बहुत सारी बीमारियाँ अपने आप नष्ट हो जाती हैं। यह है शक्ति की सुरक्षा का उपाय।

शक्ति-सुरक्षा का रहस्य

एक पत्रकार ने धनी आदमी से पूछा—धनी होने का रहस्य क्या है? आप इतना धन कैसे एकत्रित कर पाए हैं? धनी आदमी ने कहा—बात बहुत लम्बी है। दो-चार घंटे लग जाएंगे। चलो, अन्दर चलें। दोनों अन्दर गए। धनी व्यक्ति ने कमरे में जाते ही बत्ती बुझा दी और पत्रकार को बातचीत करने के लिए कहा। पत्रकार ने कहा—मैं चलता हूँ। मैंने धनी होने का रहस्य समझ लिया। जो बचाना जानता है, वह धनी कैसे नहीं होगा?

हम मद्रास गए। वहाँ के लोग फटेहाल रह रहे हैं। उनके कमाई बहुत है पर वे बचाना नहीं जानते इसलिए गरीब से गरीब बने रहते हैं। राजस्थान का किसान कम कमाता है पर वह फटेहाल नहीं है क्योंकि वह बचाना जानता है। वह बचाते-बचाते धनी हो जाता है। मूल बात है शक्ति के बचाव की। शक्ति को बचाने का रहस्य है—गुप्ति। जिस संघ में गुप्तियों की साधना मजबूत होती है, वह संघ तेजस्वी और शक्तिशाली होता है। उसकी तेजस्विता को कोई भी चुनौती नहीं दे सकता।

निर्णायकता का केन्द्र

आचार्य की परिभाषा

पुराने शास्त्रों में आचार्य शब्द के अनेक निरुक्त और अनेक परिभाषाएं हैं। उनके पीछे अनेक अभिप्राय और अनेक कल्पनाएं हैं। कुछ वर्ष पहले मैंने मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर एक कविता लिखी, उसमें आचार्य की परिभाषा इन शब्दों में है :

तू जो कहता सत्य नहीं है, मैं कहता हूं सत्य वही है।

‘तू’ ‘मैं’ के इस झगड़े का, जो शान्तिपाठ आचार्य वही है ॥

संगठन की दृष्टि से यह परिभाषा मुझे अच्छी लगी। परिभाषा की सूझ मेरी नहीं है, मेरी अपनी वस्तु सिर्फ कविता की पंक्तियां हैं। यह मौलिक तत्त्व संगठन के महान् सूत्रधार आचार्य भिक्षु और श्रीमज्जयाचार्य से मिला।

जहां संगठन होता है वहां अनेक विचार उठ आते हैं। एक तत्त्व या वस्तु के बारे में अनेक विचार रहे, उस स्थिति में विचारसाम्य वाले संगठन चल नहीं सकते। इस स्थिति को आंककर आचार्य भिक्षु ने विधान किया—

‘जो कोई आचार रो, सूतर रो अथवा कल्प रो बोल समझ न पड़े तो गुरु तथा भणनहार साधु कहे ते मान लेणो, नहीं तो केवली ने भोलावणो, पिण और सोंघां रे संका घाल ने मन भांगणो नहीं।’

(१८४५ लिखत)

‘कोई सरघा रो, आचार रो नवों बोल निकले तो आचार्य स्यूं चरचणो पिण ओरां स्यूं चरच ने ओरां रे संका घालणी नहीं। बड़ा जाब देवे आपरे हिये वैसे तो मान लेणों नहीं वैसे तो केवली ने भलावणो पिण टीला मांहे भेद पारणो नहीं।’ (१८५० लिखत)

जयाचार्य की व्याख्या

श्रीमज्जयाचार्य ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा—“आचार्य रे सैंकड़ा साधु-साध्वी हुवे अने हजारों श्रावक-श्राविका हुवे तो एक-एक रे न्यारी-न्यारी संका पांच बोला री हुवे जद हजारों बोल हुवे तो न्यारी-न्यारी भाषणी स्यूं कोई बोल में दोष भासे, तेहनी भाषणी मनीजे तो आचार्य रो महत् विशेषपणे कांई रह्यो, ए तो रीत लेखां में नहीं, अने ठोड़ ठोड़ सूत्र

में आचार्य री थाप लारे थाप, परूपणा दृष्टि धारणा राखजी कहि, ते देखतां आचार्य री थाप तेहिज सत्य, तेहिज मानवा जोग, तेहिज चार तीर्थ ने प्रमाण करणी । जद ते कहे भीखणजी स्वामी ३२ रा लिखत में कह्यो सो गुरु तथा बुधवन्त कहे सो मानणो कह्यो । इम ४५ लिखत में कह्यो छै । तत्रोत्तर-बुधवान् तो आचार्य थापे सो बुधवान है । पिण आपरे मतै-मतै मन स्युं बुधवान बणे ते लेखा में नहीं ।”

(प्रकीर्ण पत्र-संग्रह पत्र ७-८)

संगठन का आधार

संगठन आचार और विचार की एकरूपता के आधार पर ही टिक सकता है । जितने व्यक्ति उतने प्रकार के ही आचार, यह स्थिति संगठन के अनुकूल नहीं होती । व्यक्तिगत विचारों की स्वतंत्रता होती है और होनी ही चाहिए किन्तु उसकी भी एक सीमा है । जैसे एक व्यक्ति अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र है वैसे ही दूसरा भी है । वैयक्तिक स्थिति में ऐसा रह सकता है । मिलकर चलने की स्थिति में ऐसा नहीं बन सकता । संगठन व्यावहारिक होता है इसलिए व्यवहार चलाने की स्थिति दूसरी होती है । वहां अनुशासन होता है । उसमें विचार पर अंकुश नहीं लगता किन्तु एकरूपता में खलल डालने वाले विचार पर नियन्त्रण अवश्य होता है । विचार का प्रयोग, संगठन, संघ या संघपति, जहां निर्णायिकता केन्द्रित होती है—उन्हीं की स्वीकृति से हो सकता है, अपनी-अपनी इच्छा से नहीं ।

श्रद्धा का अर्थ

एकतंत्रीय अनुशासन में निर्णायक एक होता है, बहुतंत्र पद्धति में बहुत । सबके सब निर्णायक नहीं होते । एकतंत्र में एक के सामने निन्नामवे की अपेक्षा हो सकती है । बहुतंत्र में ५१ के सामने ४९ की । सर्व-सम्मति के निर्णय की स्थिति श्रद्धा ही है । विचार, तर्क या बुद्धि के प्रवाह से वह स्थिति नहीं बनती । श्रद्धा का अर्थ है—आग्रहहीनता, नम्रता और सत्यशोध की सतत साधना । सत्य का शोधक कभी भी आग्रही नहीं होता । वह अपने विश्वास को दृढ़ता के साथ रखता है, फिर भी वह नम्रता नहीं खोता । आचार्य भिक्षु ने ‘किवाड़िया’ के निर्णय में लिखा है :

हाथ सवा आसरे लांबो न पोहलो,

एहबो बांध्यो अनुमान ।

इण बात रो निश्चं केवली जाणं,

उनमान स्युं जाणं बुधवान ।

—सरधा री चौपाई १६।२०

मोनं तो किवाड़िया रो दोष न भाषे,

जाणी न शुद्ध व्यवहार ।

जी निसंक दोस किवाड़िया में जाणो,
तो मत बहरज्यो लिंगार ।

—सरघा री चौपाई १६।४२

प्रश्नोत्तरात्मक कृतियों की प्रचुरता क्यों ?

सत्य-शोध को कितना नम्र और आग्रहहीन होना चाहिए, उसका यह उत्कृष्ट निदर्शन है :

रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम् ।

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

व्यक्ति-व्यक्ति की रुचि विचित्र होती है, संस्कार भी अपने-अपने निरासे होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और अपने संस्कार को जितना महत्त्व देता है, उतना महत्त्व वस्तुस्थिति को नहीं देता। नदियां कहीं सीधी और कहीं टेढ़ी चलती हैं, आखिर समुद्र में लीन हो जाती हैं। वैसे ही विचारों के प्रवाह ऋजु और वक्र—दोनों प्रकार के होते हैं पर आचार्य के विचार-सागर में लीन हो जाते हैं। दार्शनिक कवि की वाणी में अद्वैत का जो काल्पनिक चित्र था, उसे आचार्य भिक्षु ने सक्रिय बना डाला। उनकी मर्यादावली के अनुसार आचार्य ही सबके गम्य बन गए। तेरापंथ शासन में आचार्यों की रचनाओं में प्रश्नोत्तरात्मक कृतियों की प्रचुरता है। उसका कारण यही हो सकता है।

संबन्ध सावद्य प्रवृत्ति का

श्रीमज्जयाचार्य के सामने प्रश्न आया—साधु विहार करे, तब साथ के लिए गृहस्थ से पूछे, यह अनुचित है। ऐसा पूछने पर गृहस्थ साधु के साथ आदमी भेजता है, उसकी अनुमोदना साधु को लगती है? जयाचार्य ने कहा—गृहस्थ की सावद्य प्रवृत्ति का साधु को दोष नहीं लगता। दोष तब लगे जबकि साधु उसे अच्छा समझे। उन्होंने लिखा—

‘फुन सावज कीधे छते, रूडूं कीधूं एण ।

इम मन करने चिन्तवै, मन करि अनुमत तेन ॥’ (भगवती ८।५)

सावद्य प्रवृत्ति के अनुमोदन और उसके ज्ञान के भेद को समझाते हुए उन्होंने लिखा—‘मार्ग में पूछे अमकड़ीया गाम रो मार्ग किसो, ते उघाड़े मुख बोल ने बतावे तो तिणरो बोलणों बांछ्यो। बार-बार पूछे जदै बार-बार उघाड़े मुख बोले पिण साधु उघाड़े मुख बोलनो न बांछे। रास्तो पूछे मन में जाण है ओ उघाड़े मुख बोल ने वचन रा जोग सूं मार्ग बतावेला, ओ तो जाणवणो है, पिण तिणरो बोलनो ना बांछे। आपरा कार्य बांछे पिण ओ उघाड़े मुख बोल तो ठीक—इम ना बांछणों।’

(जयाचार्य कृत परचूनी बोल १५)

विस्तार व्यवहार से

जीवन के व्यवहार और सम्बन्ध इतने असीम होते हैं कि उन्हें शब्दों द्वारा बांधा नहीं जा सकता। सूत्र दिशा-निर्देश करते हैं। उनका विस्तार व्यवहार से होता है। आचार्यश्री तुलसी ने धूलिया में प्रवचन करते हुए कहा था—हमारे लिए कुछ भी आरम्भ नहीं होता और नहीं होना चाहिए। सहज प्रश्न होता है—यह मंडप किसलिए बनता है? मंडप लोगों की अपनी सुविधा के लिए है। लोग धूप में बैठे प्रवचन नहीं सुनते, इसलिए उन्होंने मंडप बांधा। वह हमारे लिए नहीं है। एक प्रश्न और होता है—आपके लिए नहीं किन्तु आप आए हैं इसीलिए तो यह आरम्भ हुआ है। यह सही है—हम आए हैं, इसलिए मंडप बना है, हम नहीं आते तो यह नहीं बनता। हम आए हैं तभी तो आप लोग यहां आए हैं। हम नहीं आते तो लोग यहां किसलिए आते? असावधानी से चले होंगे, आने में हिंसा हुई होगी। क्या उसका दायित्व मुझ पर होगा? कभी नहीं। हमारे लिए आरम्भ हो तो उसका मैं तुरन्त विरोध करूँ किन्तु हम आते हैं इसलिए आरम्भ होता है, उसका दायित्व मैं नहीं ओढ़ सकता। आचार्यश्री के प्रवचन की पंक्तियों में जो व्यवहार-समाधान है, वह बहुत ही मार्मिक है। ‘हमारे लिए’ और ‘हम आते हैं इसलिए’—यह अनन्तर और परम्पर निमित्त की भेद-रेखा बहुत ही समाधानकारक है।

प्रवृत्ति के निमित्त

रेवती ने भगवान् महावीर के लिए कुष्मांडपाक बनाया—यह हिंसा उनके लिए थी इसलिए उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया। भगवान् महावीर के नगर में आते ही त्रिगङ्गा (व्याख्यान मंडप) रचा जाता, पुष्पवृष्टि होती, देव-दुंदुभि बजती। इन प्रवृत्तियों के परम्पर निमित्त भगवान् बनते, किन्तु ये उनके लिए नहीं होतीं। इसलिए उन्होंने उनका विरोध नहीं किया। वे उनकी ओर से निरपेक्ष रहे।

ऐसी घटनाएँ भी बहुत आती हैं—मुनि को दान दिया, रत्नों की वर्षा हुई, देव-दुंदुभि बजी, इनका समाधान भी यही है। मुनि इस प्रवृत्ति के निमित्त बनते हैं किन्तु ये प्रवृत्तियाँ मुनि के लिए नहीं होतीं।

हिंसा किसलिए ?

देव, गुरु और धर्म के लिए हिंसा नहीं करनी चाहिए। जो उनके लिए हिंसा करता है वह अनार्य है, ऐसी महावीर की वाणी है। स्थूल दृष्टि से जान पड़ता है—

० तीर्थंकरों की महिमा के लिए देवगण फूल बरसाते हैं, यह देव के लिए हिंसा है।

• गुरु-वंदन के लिए लोग रेल आदि में बैठकर आते हैं, यह गुरु के लिए हिंसा है ।

• दान के प्रसंग में रत्न बरसाते हैं यह धर्म के लिए हिंसा है ।

वास्तव में यह हिंसा देव, गुरु और धर्म के लिए नहीं है । यह मानसिक या शारीरिक दुर्बलता का परिणाम है । पुष्प-दृष्टि या रत्न-दृष्टि करना कोई धार्मिक तत्त्व नहीं है किन्तु अपने श्रद्धेय की विशेषता बतलाने की जो मानसिक स्थिति होती है उसी की पूर्ति का यह एक रूप है । दर्शन के लिए वाहन में बैठकर आना अपनी शारीरिक सुविधा है । यह भ्रम हमें इसलिए होता है कि व्यवहार में सुदूरवर्ती कार्य एवं कारणों को हम एक ही धागे में पिरो डालते हैं । वास्तव में ऐसा होता नहीं है । निश्चय-दृष्टि के अनुसार अनन्तर कार्य-कारणों में ही सम्बन्ध होता है, परम्पर में नहीं । इस प्रकार समय-समय पर हमारे आचार्यों ने आगम-व्यवहार और जीवन की प्रवृत्तियों पर बहुमुखी प्रकाश डाला है । बहुत सारी जटिलतम समस्याओं को सुलझाया है और छुटपुट प्रयत्नों को लेकर उलझ जाने वाली दिशाओं का मुंह मोड़ दिया है । वे कृतियाँ हमारे गण की अमूल्य निधि हैं । उनमें संगठन और एकता के बीज हैं, जो द्रष्टा को भी विशाल बना डालते हैं । अपेक्षा यही है कि हम द्रष्टा बनें ।

जैन-समन्वय और तेरापंथ

हिन्दुस्तान में तीन मुख्य धर्म थे—जैन, बौद्ध और वैदिक। प्रथम दो श्रमण-परम्परा के थे और वैदिक-धर्म श्रमणेतर परम्परा का था। भगवान् महावीर के युग में जैन-शासन एक शासन-सूत्र से संचालित था। उनके निर्वाण के बाद जैन-शासन अनेक शाखाओं में बंट गया। आज वे शाखाएं इतनी विभक्त हो गई हैं कि उनका मूल कोई एक है, ऐसा लगता ही नहीं है।

जैन एकता : पंच सूत्री कार्यक्रम

जो लोग हृदय से जैन शासन को शक्तिशाली देखना चाहते हैं, जो उदार विचारधारा के हैं और जो आज के पढ़े-लिखे युवक हैं, वे जैन-समन्वय की दिशा में बड़ी तेजी से चलना चाहते हैं। जो लोग रूढ़िवादी हैं, संकीर्ण-विचारधारा वाले हैं, अशिक्षित हैं और जैन-शासन की समृद्धि की जिन्हें कोई चिंता नहीं है, वे लोग जैन-समन्वय की ओर उदासीन हैं। इस उदासीनता के उपरांत भी जो कार्य करणीय है, वह करना ही है।

जैन-समन्वय की दिशा में आचार्यश्री तुलसी ने सन् १९५४ बम्बई में एक पंचसूत्री योजना प्रस्तुत की—

- मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर लिखित या मौखिक आक्षेप न किया जाए।
- दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।
- दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा तथा तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।
- कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।
- धर्म के मौलिक तथ्य—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

जैन समन्वय : तीन सूत्र

इस योजना की क्रियाविति सर्वप्रथम तेरापंथ ने की। कट्टरता से कट्टरता बढ़ती है और तनाव से तनाव। जब एक ओर कट्टरता कम होती

है तब दूसरी ओर भी वह कम हो जाती है। आचार्यश्री दूसरे सम्प्रदाय वालों से बहुत बार कहते हैं—‘कट्टरता हममें भी थी और आपमें भी थी। अब हम भी उदार बने हैं और आप भी उदार बने हैं।’ उदारता का परिणाम है कि अब जैन सम्प्रदायों में पहले जितनी दूरी नहीं है।

वि० सं० २०२१, बीकानेर में आचार्यश्री ने जैन-समन्वय की दिशा में फिर एक नया कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उसके तीन सूत्र हैं—

- ० सम्बत्सरी पर्व एक हो।
- ० अखिल भारतीय जैन-संगठन बने।
- ० भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण-शताब्दी सभी मिलकर मनाएं।

समन्वय की दिशा में एक प्रस्थान

इस कार्यक्रम का लगभग सभी जैन-मनीषियों ने स्वागत किया। वि० सं० २०२२, दिल्ली में तीन आचार्यों के मिलन ने इस कार्यक्रम को और आगे बढ़ाया। स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्यश्री आनन्दऋषि, आचार्यश्री तुलसी और दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यश्री देशभूषण—तीनों आचार्य कातिक शुक्ला २ (२६, अक्तूबर १९६५) को अहिंसा मंदिर (दरियागंज, दिल्ली) में मिले और निम्नलिखित विचारों पर सहमत हुए—

- ० पर्युषण पर्व के एक दिन को अखिल जैन समाज सामूहिक रूप से महत्त्व दे। इस दृष्टि से भाद्र शुक्ला पंचमी के दिन का चुनाव हो, क्योंकि यह दिन श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों समाजों का संधि-दिन है—श्वेताम्बरों के पर्युषण का अन्तिम और दिगम्बरों के दस लाक्षणिक पर्व का आदि दिन (उत्तम धमा का दिन) है। अनन्त चतुर्दशी को श्वेताम्बर भी धर्म-तिथि के रूप में महत्त्व दें।
- ० समग्र जैन-समाज का संगठन हो। भले फिर उसका दायित्व भारत जैन महामंडल संभाले।
- ० भगवान् महावीर की पच्चीसवीं शताब्दी सामूहिक रूप से मनाई जाए।
- ० जैन-धर्म के सर्वमान्य अहिंसा आदि सिद्धांतों का प्रसार तथा हित-संरक्षण का प्रयत्न सामूहिक रूप से किया जाए।
- ० परस्पर भ्रांति अथवा वैषम्य बढ़े, वैसा कोई कार्य न किया जाए।

इस मिलन तथा विचारों के समन्वित प्रतिपादन ने संगठन के कार्यक्रम को और आगे बढ़ा दिया। उस समय दिल्ली में संवेगी सम्प्रदाय

के कोई आचार्य नहीं थे। इसलिए थोड़ी कमी का अनुभव होता रहा। सोभाग्यवश यदि उनकी उपस्थिति और होती तो कार्य अधिक आगे बढ़ता।

तीन उद्देश्य

आचार्यश्री तुलसी दक्षिण की यात्रा कर रहे थे। यात्रा के दौरान मध्यवर्ती क्षेत्र में उनका विहार हो रहा था। गुजरात में आचार्यश्री ने अपनी यात्रा के तीन उद्देश्य बतलाए :—

- धर्म-क्रांति
- जैन-समन्वय
- मानवता का विकास

इनमें एक उद्देश्य जैन-समन्वय है। समन्वय की परिकल्पना को आचार्यश्री व्यावहारिक दृष्टि से सोचते हैं। सब जैन-सम्प्रदाय एक हो जाएं—यह उनकी प्राथमिक कल्पना नहीं है। वे कई बार कह चुके हैं—

‘मैं पाँचों अंगुलियों के अस्तित्व को स्वीकार करता हूँ और उनकी उपयोगिता भी मानता हूँ पर उनमें सहयोग की अपेक्षा रखता हूँ। संगठन के विषय में भी मेरी यही कल्पना है।’

भिन्नता का कारण

भेद में अभेद और अभेद में भेद का स्वीकार स्याद्वाद का एक अंग है। जैन लोग स्याद्वाद में विश्वास करते हैं इसलिए उन्हें केवल भेद और केवल अभेद को नहीं स्वीकारना चाहिए। जहाँ अनेक सम्प्रदाय होंगे, वहाँ भेद निश्चित रूप से होगा किन्तु क्या उनमें अभेद नहीं होगा? हम भेद को देख लेते हैं और अभेद को दृष्टि से ओझल कर देते हैं। भेद की तरह अभेद पर भी हमारी दृष्टि टिके तो हम भिन्न और अभिन्न हो सकते हैं, कोरे भिन्न नहीं।

आज हम कोरे भिन्न हैं। इसका कारण हमारा एकांगी दृष्टिकोण है। जैन-शासन के मुख्य सम्प्रदाय दो हैं—श्वेताम्बर, दिगम्बर।

इनमें प्रमुख भेद यह है कि श्वेताम्बर मुनि वस्त्र रखते हैं, दिगम्बर मुनि वस्त्र नहीं रखते। आहार की विधि में भी थोड़ा भेद है, और भी चर्या-विषयक कुछ भेद हो सकते हैं। भेद की तुलना में अभेद पर दृष्टि डालें तो निष्कर्ष यह होगा कि भेद कठिनाई से एक पैसा है और अभेद है पौने सोलह आना। जो थोड़े बहुत सैद्धांतिक भेद हैं, वे श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में ही नहीं हैं, वे परस्पर श्वेताम्बर आचार्यों में भी हैं और दिगम्बर आचार्यों में भी हैं।

भिन्नता के बिन्दु

श्वेताम्बर परंपरा में मुख्य तीन सम्प्रदाय हैं—संवेगी या मूर्तिपूजक,

स्थानकवासी, तेरापंथी ।

सवेगी मूर्तिपूजा में विश्वास करते हैं । स्थानकवासी और तेरापंथी उसमें विश्वास नहीं करते । इनमें सबसे बड़ा दृश्य-भेद यही है । वेशभूषा में भी अन्तर है । मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के मुनि मुख-वस्त्रिका नहीं बांधते । स्थानकवासी और तेरापंथी मुनि मुख-वस्त्रिका रखते हैं । स्थानकवासी संप्रदाय लौकिक दया-दान को धर्म से जोड़ता है । तेरापंथ उसे सामाजिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार करता है ।

इसी प्रकार के भेद दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदायों के अवांतर संप्रदायों (उप-संप्रदायों) में मिलते हैं । तीन थुई (त्रिस्तुति) और चार थुई (चार स्तुति), छह कोटि, आठ कोटि और नानीपख आदि संप्रदायों में भी ऐसे ही छोटे-छोटे भेद हैं ।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

जैन-समाज शक्ति, संपन्नता, शिक्षा आदि अनेक दृष्टियों से बहुत समर्थ है । फिर भी उसका सामाजिक व राष्ट्रीय महत्त्व अपेक्षाकृत कम है । उसकी कमी का कारण संगठन की कमी है । उसे दूर करने के लिए सहिष्णुता और मूलभूत एकता की दृष्टि का विकास करना अनिवार्य रूप से अपेक्षित है । आचार्यश्री तुलसी ने जो प्राथमिक भूमिकाएं सुनाई हैं तथा अन्यान्य जैन मुनियों व मनीषियों ने जो प्रयत्न किए हैं, उन पर संयुक्त ध्यान दिया जाए तो इष्ट परिणाम की कल्पना की जा सकती है ।

आज जैनों के सामने एक प्रश्न उभर रहा है—

‘राजनैतिक दर्शन की दो विरोधी धाराओं वाले राष्ट्र एक मंच पर एकत्र होकर समस्याओं का समाधान ढूंढ सकते हैं तब क्या अहिंसा, अनेकांत और अभय में विश्वास करने वाले जैन मुनि या श्रावक एक मंच पर एकत्र होकर अपनी समस्याओं का समाधान नहीं ढूंढ सकते ?’

इस प्रश्न का उत्तर दिए बिना हम अहिंसा, अनेकांत और अभय के प्रति जन-मानस को आस्थावान् नहीं बना सकते ।

समन्वय की पृष्ठभूमि

भगवान् महावीर की स्मृति अनुशासन और संगठन की स्मृति है। एकता का आधार सापेक्षता है। एक को दूसरे की अपेक्षा होती है तब एकता निष्पन्न होती है। जहां एकता होती है वहां अनुशासन और संगठन का विकास होता है। निरपेक्ष लोगों में न एकता होती है, न अनुशासन और न संगठन।

सापेक्षता : एकता

सापेक्षता का अर्थ है—स्वतंत्र अस्तित्व का स्वीकार। जो दूसरों के अस्तित्व को मान्यता नहीं देते वे सापेक्षता का अर्थ नहीं जानते। जो सापेक्षता का अर्थ नहीं जानते, वे एकता का अर्थ नहीं जानते।

जैन-शासन में एकता की चर्चा विगत कुछ वर्षों से चल रही है। यह अनेकता के बाद भी एकता की चर्चा है। किसी समय जैन-शासन एक था, उसमें व्यवस्था की दृष्टि से भिन्न-भिन्न गण थे, किन्तु शासन विभक्त नहीं था। काल के अविरल प्रवाह में वह विभक्त हुआ। गण-गत अनेकता संप्रदाय-गत अनेकता में बदल गई। आज अनेक संप्रदाय हैं और उनकी विचारधारा भी एक नहीं है। जहां विचार-भेद हो, वहां विरोध हो, यह आवश्यक नहीं है। फिर भी मानवीय मन की दुर्बलता है कि वह विचार-भेद को सह नहीं सकता। उसकी असहिष्णुता विरोध को जन्म देती है। जहां विचार भिन्न होते हैं, वहां हित भी भिन्न हो जाते हैं। हितों की भिन्न धारा में एकता खण्डित हो जाती है।

अपेक्षित है विरोधी हितों का सामंजस्य

एकता की स्थापना के लिए विरोधी हितों का सामंजस्य होना अपेक्षित है। एक कहानी है—एक कुम्हार के दो लड़कियां थीं। वे दोनों एक ही गांव में ब्याही गईं। बड़ी लड़की के ससुरालवाले घड़े बनाते थे और छोटी लड़की के ससुराल में खेती का काम था। एक दिन कुम्हार अपनी लड़कियों से मिलने गया। वह पहले बड़ी लड़की के पास पहुंचा। उसने कुशल-क्षेम पूछा तो वह बोली—बापू ! और सब ठीक है पर एक चिन्ता हो रही है। आवा लगाया हुआ है। बादल मंडरा रहे हैं। कहीं बरस पड़े तो सारा काम चौपट हो जाएगा। मैं रात-दिन यही प्रार्थना करती हूं कि अभी एक माह तक बादल न बरसे।

कुम्हार छोटी लड़की के घर पहुँचा। कुशल-क्षेम पूछा तो वह बोली—बापू ! और सब ठीक है पर एक चिंता सता रही है। बुआई का समय आ गया है। बदलियाँ उमड़-धुमड़कर बिखर जाती हैं। पानी आ नहीं रहा है। यदि ऐसा ही रहा तो सारा घर चौपट हो जाएगा। मैं पल-पल यही प्रार्थना करती हूँ कि पानी आए और हमारा संकट टले।

पिता संकट में पड़ गया। वह यह निर्णय नहीं कर सका कि किसका हित चाहूँ ?

जैन-शासन का पिता यदि हित चाहे तो वह किसका हित चाहे ? क्या वह कुम्हार की भाँति संकट की स्थिति का अनुभव नहीं करेगा ?

संकट का युग

वर्तमान युग धर्म के लिए संकट का युग है। भौतिकवादी धारणाएँ उसके अस्तित्व को चुनौती पर चुनौती दे रही हैं। दैहिक आकर्षणों का उसके साथ संघर्ष चल ही रहा है। राजनीति का प्रभुत्व उसके वर्चस्व को मंद करने पर तुला हुआ है। इस स्थिति के सन्दर्भ में धार्मिक जगत् की अनेकता और विरोधी हितों की परिकल्पना और अधिक अक्षम्य बन जाती है।

जैन-शासन की एकता का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। धर्म के अस्तित्व का प्रश्न उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। धर्म है तो शासन है, एकता है, और भी बहुत कुछ है। किंतु धर्म का अस्तित्व ही मान्य न हो तो शेष प्रश्न अर्थहीन बन जाते हैं।

धर्म विरोध को जन्म दे तो वह उसके अस्तित्व को चुनौती है। घृणा प्रेम में, विरोध मैत्री में, आग्रह समन्वय में और भेद एकात्मकता में बदल जाए तो धर्म को चुनौती नहीं दी जा सकती। इस परिवर्तन का वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करने पर ही धर्म का अस्तित्व मान्य हो सकता है।

अनेकता का मूल हेतु

अनेकता का विकास धर्म की वैज्ञानिक मान्यता से फलित हुआ है। यदि धर्म एक अखंड सत्य के रूप में स्वीकृत होता तो धार्मिकों में इतना आग्रह नहीं होता, जितना आज है। आग्रह के अभाव में इतना अनैक्य नहीं होता जितना आज है। 'मैं जो कहता, सत्य वही है, तू जो कहता, सत्य नहीं है'—इस भाषा में सोचनेवाला सत्य की उपलब्धि कम करता है, विभक्ति अधिक। सत्य की उपलब्धि ही अनेकता का मूल हेतु है। जैन-शासन की एकता के परिप्रेक्ष्य में इस शाश्वत सत्य को हृदयंगम करना आवश्यक है। इस चर्चा में रस लेनेवाले व्यक्ति के सामने मैं एक प्रश्नावलि प्रस्तुत करता हूँ। प्रत्येक प्रश्न के दस अंक हैं। जिसे विधि रूप में पचास अंक प्राप्त हों तो

समझना चाहिए कि वह एकता की चर्चा का अधिकारी है। जिसे अस्सी अंक प्राप्त हों तो समझना चाहिए कि वह एकता के लिए प्रयत्नशील है। जिसे शत-प्रतिशत अंक प्राप्त हों तो समझना चाहिए कि वह एकता का प्रतीक है। प्रश्नावलि इस प्रकार है—

क्रियान्विति की पृष्ठभूमि

◦ सत्य के दो रूपों—नैश्चयिक (शाश्वत सत्य) और व्यावहारिक (सापेक्ष सत्य) में विश्वास रखते हैं या नहीं ?

◦ परंपरागत विधि-विधानों या मान्यताओं को व्यावहारिक सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं या नहीं ?

◦ अन्य संप्रदायों के आचार्यों की सैद्धांतिक व्याख्याओं पर तटस्थ चिंतन करने को प्रस्तुत हैं या नहीं ?

◦ अज्ञात या ज्ञात सिद्धांत के बारे में नई जानकारी मिलने पर उसे स्वीकार करने का साहस है या नहीं ?

◦ नवीन तथ्यों के आधार पर प्राप्त सत्य को अपने अनुयायियों को समझाने की क्षमता अपने में अनुभव करते हैं या नहीं ?

◦ जैन-शासन की एकता को आवश्यक समझते हैं या नहीं ?
यदि हां तो उसके संप्रदायों की संबंध-संहिता के निर्माण की आवश्यकता अनुभव करते हैं या नहीं ?

◦ जैन-शासन को अपने संप्रदाय की अपेक्षा प्राथमिकता देने को प्रस्तुत हैं या नहीं ?

◦ जैन-शासन के सामान्य सिद्धांतों, हितों व परम्पराओं की सुरक्षा के लिए एक शक्तिशाली मंच का निर्माण करने को प्रस्तुत हैं या नहीं ?

◦ संकल्प-शक्ति और निर्माणात्मक गतिविधि में विश्वास रखते हैं या नहीं ? यदि हां तो उसके विकास के लिए ध्यान की साधना करते हैं या नहीं ?

◦ तुलनात्मक अध्ययन में रुचि है या नहीं ? यदि है तो तुलनात्मक अध्ययन किया या नहीं। यदि किया है तो उससे दृष्टि आग्रह-मुक्त हुई या नहीं ?

आचार्यश्री तुलसी ने जैन-शासन की एकता के लिए तीन सुझाव प्रस्तुत किए हैं, उनकी क्रियान्विति के लिए यह प्रश्नावलि पृष्ठभूमि है। पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत हो तो प्रासाद सहज ही खड़ा हो जाता है।

धर्म-शासन तेजस्वी कैसे बने ?

दुनिया के रंगमंच पर वही वस्तु टिक पाती है, जो तेजस्वी होती है, सक्षम होती है। जो बुझ जाती है, वह उपेक्षित हो जाती है। जो बात अग्नि के लिए है, वही सब वस्तुओं के लिए है। जैन-शासन एक संस्थान है, एक वस्तु है। इसमें प्रकाश और तापमान—दोनों आवश्यक हैं। वह जीवित इसलिए है कि उसमें ये दोनों हैं। आज पौद्गलिकता, बौद्धिकता और वैज्ञानिकता के सामने अध्यात्म या धर्म निष्प्रभ-सा लग रहा है, उसका हेतु बूढ़ निकालना चाहिए। मीमांसा या अनुभव के बाद यदि लगे कि अध्यात्म कोरी कल्पना है, तो उससे चिपके रहना अर्थ-शून्य है। अध्यात्म हमारे लिए सर्वोपरि उपयोगी है। उसकी विस्मृति सुख और शांति की विस्मृति है, यदि ऐसा लगे तो उसे तेजस्वी बनाने का यत्न करना चाहिए। मेरा अपना विश्वास और अनुभव है कि अध्यात्म को खोकर आदमी अपनी सर्वोच्च संपदा को खो देता है। यह जीवन का ऐसा स्थिर मापदण्ड है, जो जीवन के शेष सब मूल्यों को संतुलित रखता है। इसके अभाव में जीवन के अधिकांश मूल्य असंतुलित हो जाते हैं।

आधार है अध्यात्म

जैन धर्म का आधार ही अध्यात्म है। उसकी प्राण-मीमांसा में पहला स्थान आत्मा का है। ज्ञान आत्मा का गुण है। उसकी प्राण-मीमांसा में पहला स्थान आत्मा का है। प्राण आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है। उसकी तत्त्व-मीमांसा में भी पहला स्थान आत्मा का है। नव-पदार्थों में पहला पदार्थ आत्मा है। उसकी आचार-मीमांसा में पहला स्थान आत्मा का है। भगवान् महावीर की सारी आचार-व्यवस्था आत्मविकास के लिए ही है।

जिसके आदि, मध्य और अन्त में सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है, उसे अध्यात्म के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता। जैन धर्म सर्वथा आध्यात्मिक धर्म है। सम्यग्-दर्शन से लेकर निर्वाण तक वह आध्यात्मिक ही रहता है। उसके आत्मिक वर्चस्व से पौद्गलिकता सीमित हो सकती है, स्व की श्रद्धा से बुद्धिवाद विनम्र हो सकता है। उसके आत्मानुसंधान से वैज्ञानिकता निरंतर नहीं रह सकती, किन्तु प्रश्न यह है कि जैन धर्म का ऐसा तेजस्वी रूप क्या आज विद्यमान है ?

चित्त केन्द्रित बने

आज जैन-शासन में ज्ञानी भी हैं, संयमी भी हैं और तपस्वी भी हैं किन्तु ध्यानी बहुत कम हैं। ध्यान के अभाव में ज्ञान, साधना, संयम और तपस्या—ये सब गृहीत हैं, अन्तर से उद्भूत नहीं हैं। जब ये बाहर से आते हैं, तब इनमें चमत्कार होता है और जब ये अन्तर से निकलते हैं तब इनमें तेज होता है। आज के वातावरण में आंतरिकता बहुत अपेक्षित है। ध्यान और क्या है ? आंतरिकता का जो उदय है, वही ध्यान है। व्यक्ति बाह्य में जितना रमण करता है, उतना ही वह अपने चित्त का विक्षेप करता है। चित्त का विक्षेप शक्ति का विक्षेप है। चित्त का केन्द्रीकरण शक्ति का केन्द्रीकरण है।

निष्क्रियता का अर्थ

भगवान् महावीर ने आत्म-केन्द्रित होने की शिक्षा दी। कुछ लोग इसे निष्क्रियता मानते हैं पर यह सच नहीं है। निष्क्रियता का अर्थ है—शक्ति की कुण्ठा। आत्म-केन्द्रित होने से शक्ति कुण्ठित नहीं होती, प्रत्युत अधिक विकसित होती है। इसलिए आत्म-केन्द्रित होने को निठल्लों का हथियार नहीं कहा जा सकता। जो व्यक्ति बाह्य वस्तुओं से जितना अधिक लगाव रखता है, उसके उतना ही अधिक विक्षेप होता है। उसकी प्रातिभ-सूक्ष्मता क्षीण होती है और कार्यजा-शक्ति कुण्ठित होती है।

आचार्यों ने कहा—आत्म-बोध ही सम्यक्-ज्ञान है, आत्म-दर्शन ही सम्यक्-दर्शन है, आत्म-रमण ही सम्यक्-चारित्र्य है। आज हमारा साधु-समाज इस आत्म-केन्द्रित-रत्नत्रयी की अपेक्षा गृहीत-रत्नत्रयी पर अधिक विश्वास करता है। आत्मा की पकड़ की अपेक्षा शब्दों की पकड़ अधिक है। सहज चेतना की अपेक्षा शास्त्रीय ज्ञान अधिक है। सत्य विशाल है और शब्द सीमित। सत्य की अभिव्यक्ति के लिए शब्द होते हैं परन्तु वे उसको सीमित बना देते हैं। यही कारण है कि जो शास्त्र समाधान के लिए होते हैं, वे स्वयं समस्या बन जाते हैं।

समस्या है आत्मिक

आज हमारे सामने जितनी समस्या शास्त्रीय है, उतनी आत्मिक नहीं है। प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण आदि सारी क्रियाएं आत्मोदय के लिए हैं किन्तु अनेक वर्षों तक उनका पालन करने पर भी उनमें से कोई रस नहीं टपकता, तब लर्गता है कि हमने शास्त्र को जगाया है, पर शास्त्र हमारी आत्मा को नहीं जगा पाए हैं। जो शास्त्र हमारी आंतरिकता से जुड़ नहीं पाते, वे बहुधा शस्त्र बन जाते हैं।

आत्म उद्बुद्ध होती है तो शस्त्र भी शास्त्र बन जाते हैं और सुषुप्त

आत्मा के लिए शास्त्र भी शास्त्र बन जाते हैं। भगवान् महावीर आत्मा के महान् उद्बोधक थे। उनकी वाणी को इसलिए शास्त्र मानते हैं कि उनमें आत्मा का शासन है और आत्मा का त्राण है। भाव-शून्य क्रिया इसलिए प्रतिफलित नहीं होती कि उसमें अपना शासन और अपना त्राण नहीं होता। भावोपेत क्रिया के लिए ये सधस्क अपेक्षाएं हैं—

- मानसिक समाधान के लिए शास्त्र हो, समस्या की सृष्टि के लिए नहीं।
- रत्नत्रयी आत्म-केन्द्रित हो, केवल व्यवहाराश्रित नहीं।
- ज्ञान, साधना, संयम और तपस्या ध्यान से प्रभावित हो, उससे शून्य नहीं।
- समाधान वर्तमान के आलोक में भी ढूंढा जाए, केवल अतीत के गर्भ में ही नहीं।

यदि ऐसा होता है तो धर्म-शासन पुनः महान् तेजस्वी बन सकता है, भौतिकता-प्रधान युग की चुनौती को झेलने में सक्षम हो सकता है।

तीर्थ-धर्म : आत्म-धर्म

द्वैत : द्वैध

भगवान् महावीर के सिद्धांत को निम्न सूत्र में प्रस्तुत किया जा सकता है—द्वैत सम्यक् है, द्वैध मिथ्या। चेतन और अचेतन की सत्ता वास्तविक है, इसलिए सम्यक् है। चेतन से अचेतन और अचेतन से चेतन सर्वथा भिन्न नहीं हैं, इसलिए द्वैध मिथ्या है। महावीर के सिद्धांत-कोश में सर्वथा समान या सर्वथा असमान जैसा कोई वाक्य नहीं है। जो समान हैं, वे भी अस्तित्व के कुछेक पहलुओं से समान हैं और जो असमान हैं, वे भी अस्तित्व के कुछेक पहलुओं से असमान हैं। समानता और असमानता के इस सापेक्ष सिद्धांत की स्वीकृति स्याद्वाद है।

इस सिद्धांत-निकष पर हम वर्तमान जैन-संप्रदायों को कसों तो निष्कर्ष यह होगा कि उनमें द्वैत ही नहीं, द्वैध भी है। द्वैत केवल दो अस्तित्वों की स्वतंत्रता सूचित करता है किंतु द्वैध दो अस्तित्वों के बीच विरोध की दीवार खड़ी कर देता है। दो सम्प्रदाय होने का अर्थ ही दो अस्तित्वों की वास्तविकता है। आज दो सम्प्रदाय होने का अर्थ दो विरोधी अस्तित्व हो रहा है। यह द्वैत और द्वैध के अर्थ-भेद को न समझने का परिणाम है।

आत्म-धर्म : तीर्थ-धर्म

जैन-परम्परा में छोटे-छोटे भेदों के आधार पर अनेक संप्रदाय बने हैं। जैन लोग सूक्ष्म तत्त्व-चर्चा के अभ्यासी होते हैं इसलिए वे जितना महत्त्व तत्त्व को देते हैं उतना व्यवहार को नहीं देते। तत्त्व-पक्ष की दृष्टि से देखें तो व्यक्ति अकेला है। वह जैसा शुभ-अशुभ करता है, वैसा स्वयं भुगतता है। व्यवहार पक्ष यह है कि जिस धर्म का संगठन शक्तिशाली होता है, उसका अस्तित्व चिरस्थायी होता है। विघटित शक्तियाँ थोड़े समय में विलीन हो जाती हैं। जैन लोगों ने दूसरे पक्ष को नहीं समझा, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु यह कहा जा सकता है कि जितना तत्त्व-पक्ष की ओर ध्यान दिया, उतना व्यवहार-पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया—

इस चर्चा के विमर्शणीय पहलू दो हैं—आत्म-धर्म, तीर्थ-धर्म।

आत्म-धर्म आत्माश्रित है और तीर्थ-धर्म व्यवहाराश्रित। आत्मिक पवित्रता अपनी-अपनी होती है। उसका प्रतिबिम्ब ले सके, वैसा स्फटिक कोई नहीं होता।

भेद का कारण है व्यवहार

तीर्थ-धर्म के क्षेत्र में स्फटिक होता है। उसमें प्रतिबिम्बित आकृति के आधार पर ही हम किसी को सम्यग्दृष्टि और किसी को मिथ्या-दृष्टि, किसी को साधु और किसी को असाधु मानते हैं। दिगम्बर लोग श्वेताम्बर मुनियों को इसलिए मुनि नहीं मानते कि वे वस्त्र पहनते हैं और श्वेताम्बर लोग दिगम्बर मुनियों को इसलिए मुनि नहीं मानते कि जिनकल्पी दशा के विच्छिन्न हो जाने पर भी वे नग्न रहते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक अमूर्ति-पूजक संप्रदायों को इसलिए मिथ्या-दृष्टि मानते हैं कि वे मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते और अमूर्तिपूजक मूर्तिपूजक संप्रदायों को इसलिए मिथ्यादृष्टि मानते हैं कि वे मूर्तिपूजा में विश्वास करते हैं। इस प्रकार व्यवहाराश्रित विश्वासों और क्रियाकाण्डों की भिन्नता से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय खड़े हुए हैं।

शाश्वत है आत्म-धर्म

तीर्थ-धर्म के सामने आत्म-धर्म का पक्ष गौण हो जाता है। आत्म-धर्म वस्तु-वृत्त्या एक होता है इसलिए वह विभाजक या विघटक नहीं होता। यह सारा विभाजन या विघटन तीर्थ-धर्म के आधार पर होता है इसलिए संगठन का विचार करते समय हमारी चिन्ता का केन्द्र-बिन्दु वही होता है। भगवान् महावीर के निर्वाण को लेकर लगभग पच्चीस सौ वर्ष हो रहे हैं। भगवान् ने आत्म-धर्म का जो प्रतिपादन किया, वह शाश्वत है। वह पहले भी वैसे ही था, आज भी वैसे ही है और आगे भी वैसे ही होगा। किन्तु उन्होंने तीर्थ-धर्म का जो प्रतिपादन किया, वह शाश्वत नहीं है। भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर का तीर्थ-धर्म समान नहीं था और महावीर काल से वर्तमान काल में तीर्थ-धर्म नहीं बदला है, यह भी इतिहास को जानने वाला नहीं कह सकता।

आत्म-धर्म से अनुप्राणित हो तीर्थ-धर्म

आत्म-धर्म अपरिवर्तनीय है और तीर्थ-धर्म परिवर्तनीय। इस सिद्धांत की स्वीकृति के बाद विभाजक रेखाएं क्षीण हो जाती हैं किन्तु मनुष्य प्रत्येक पुरानी वस्तु को अपरिवर्तनीय मानने में विश्वास करता है। इसी मनोवृत्ति के कारण तीर्थ-धर्म अपरिवर्तनीय जैसा बन गया है।

तीर्थ-धर्म में संगठन और शासन—दोनों की ध्वनि है। आत्म-धर्म की आराधना जिनकल्पी मुनि अधिक करते हैं किन्तु वे धर्म की परम्परा के संवाहक नहीं होते इसलिए उनका महत्त्व वैयक्तिक सीमा में ही होता है। स्थविरकल्पी मुनिधर्म की परम्परा के संवाहक होते हैं इसलिए उनका महत्त्व संचयी होता है। आत्म-धर्म की शून्यता हो तो तीर्थ-धर्म निष्प्राण हो जाता

है। तीर्थ-धर्म के अभाव में आत्म-धर्म नितांत वैयक्तिक और परम्परा से विच्छिन्न हो जाता है। ये दोनों स्थितियां इष्ट नहीं हैं। इष्ट स्थिति है आत्म-धर्म से अनुप्राणित तीर्थ-धर्म की प्रभावी सत्ता का उदय। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आचार्य तुलसी तथा अन्य अनेक जैन आचार्य, मुनि और श्रावक प्रयत्नशील हैं।

आवश्यक है उभयमुखी प्रयत्न

हम ऐसे संगठन का समर्थन नहीं कर सकते, जिसमें आत्म-धर्म की सत्ता क्षीण हो। हम उन लोगों का साथ देने में भी असमर्थ हैं, जो तीर्थ-धर्म के व्यवहाराश्रित आचार को शाश्वत धर्म मानने का आग्रह रखते हैं। हम जिस संगठन की कल्पना करते हैं, उसे इन दोनों स्थितियों से मुक्त रखना चाहते हैं।

इस कार्य में अनेक कठिनाइयां हैं। संगठन के विस्तार में शुद्धता को बनाए रखना तथा नानारुचि लोगों को बड़े संगठन की शृंखला में जोड़ना—दोनों जटिल कार्य हैं।

जैन-शासन की एकता के अभियान में उभयमुखी प्रयत्न होना चाहिए। एक ओर अध्यात्म की प्रबल प्रेरणा से समाज को प्रभावित किया जाए तथा दूसरी ओर उसे संगठन की अपरिहार्य अपेक्षाओं की अनुभूति कराई जाए। इस उभयमुखी प्रयत्न से जो नई दिशाएं और नए आयाम खुलेंगे, उसमें उपयोगिता-भर द्रव्य रहेगा, द्वैध नहीं रहेगा।

बाल-दीक्षा और तेरापंथ

आलोचना जहां लोचन है वहां निमेष भी है। आलोच्य के लिए वह लोचन है। उसे आलोचना के द्वारा आत्मालोचन और विवेक चक्षु के उन्मेष का अवसर मिलता है। आलोचक के लिए वह निमेष इसलिए है कि उसकी दृष्टि आलोचना में ही गड़ जाती है, फिर वह पारिपाश्विक सत्य को भी नहीं निहार सकता।

दृष्टि शुद्ध होनी चाहिए

- विकास की भूमिका में दोष-दर्शन और गुण-ग्रहण—ये दोनों वांछनीय हैं पर दृष्टि शुद्ध होनी चाहिए। दोष-दर्शन के अनेक निमित्त हैं—भ्रांत-धारणा, मतभेद, भिन्न परिस्थिति, द्वेष-बुद्धि, दृष्टि-दोष।

जहां ये होते हैं वहां सत्य की हिंसा निश्चित होती है।

आचार्यश्री तुलसी जितने आलोच्य रहे हैं, उससे कहीं अधिक उदार रहे हैं, और हैं। उनकी यह स्पष्टोक्ति है—काम की आलोचना से हमने बहुत लिया है, सीखा है और निकम्मी आलोचना की उपेक्षा की है। वे किसी को अपना शत्रु नहीं मानते। उनकी स्पष्टोक्ति से सहसा यह श्लोक याद हो आता है—‘जीवन्तु मे शत्रुगणाः सदैव, तेषां प्रसादात् कुशलीभवामि।’

सवाल है अन्तर्दृष्टि का

विचार-भेद होना सहज बात है। उसके आधार पर दोष-दर्शन की दृष्टि को पोषण देना सहज नहीं होना चाहिए। अभी ताजा प्रश्न बाल दीक्षा का है। उसे लेकर काफी ऊहापोह है। दो मत हैं—कोई उसे सर्वथा अनुचित मानता है और कोई उसे एक सीमा तक उचित भी मानता है। इस मतभेद का कारण दृष्टि-भेद है। विचार की स्वतंत्रता है इसलिए मतभेद हो सकता है। विचार की सत्यता भी सापेक्ष है। अपनी-अपनी दृष्टि से अपना-अपना विचार सत्य हो सकता है। वास्तविक सत्य क्या है, यह प्रश्न बहुत आगे का है। अवस्था को ही चरित्र-विकास का मानदण्ड माननेवाले बाल दीक्षा को अयोग्य मानते हैं और केवल इसी मानदण्ड की अपेक्षा वह सत्य भी है इसलिए वे उसे रोकना चाहते हैं।

जो आत्मिक विचारों को ही चरित्र-विकास का मानदण्ड मानते हैं, वे सस्कारी बालक की दीक्षा को अयोग्य नहीं मानते। इसलिए उनका

अभिमत यह है कि उसे कानूनन न रोका जाए। असंस्कारी बालक की दीक्षा नहीं होनी चाहिए। युवक और वृद्ध की, जो संस्कारी नहीं है, दीक्षा नहीं होनी चाहिए। इसका तात्पर्य—अयोग्य दीक्षा नहीं होनी चाहिए। युवक और वृद्ध में विरक्ति के संस्कार होते ही नहीं या होने के बाद ज्यों के त्यों रहते हैं—ऐसा नियम नहीं है।

अवस्था गणित का सवाल है। संस्कार का उद्बोधन अन्तर् की वृत्तियों का सवाल है। इन दोनों में कोई गठबंधन नहीं दिखता। केवल मानसिक विचार की भूमिका वाले इसे भावुक कल्पना भी मान सकते हैं किन्तु आत्मिक दशा की दृष्टि से यह वैसा नहीं है। बालक में संस्कारों का आरोपण होता है, इस सीढ़ी तक मनोविज्ञान पहुंचा है। उसमें ज्ञान और चरित्र का असीम विकास भी हो सकता है, इस शक्ति से वह अब भी दूर है।

समर्थन योग्य दीक्षा का

दीक्षा चरित्र की साधना है। उसमें ज्ञान और अनुभव का स्थान गौण है। बहुश्रुत में चरित्र का विकास नहीं भी होता, अल्पश्रुत में वह हो जाता है। इसका सम्बन्ध आन्तरिक शुद्ध-वृत्तियों के जागरण से है, बाहरी ज्ञान और अनुभूतियों से नहीं। इसलिए बाहरी ज्ञान एवं अनुभूतियों को पाने वाली अवस्था के साथ दीक्षा का सम्बन्ध जोड़ना आत्मा की आन्तरिक असीम शक्ति में अविश्वास जैसा है।

आचार्यश्री तुलसी संस्कारी बालक की दीक्षा को अयोग्य नहीं मानते। उसके पीछे जो उनकी सत्यस्पर्शी दृष्टि है, उसी की ये कुछ रेखाएं हैं। मेरा प्रतिपाद्य दूसरा है। जो लोग आचार्यश्री को बाल-दीक्षा का समर्थक कहकर उनके प्रति भ्रान्ति फैलाते हैं, ऊटपटांग बातें लिख जन-मानस को उभारते हैं, मनगढ़न्त कल्पनाएं लिख अणुव्रत आन्दोलन पर आवरण डालना चाहते हैं, वे सत्य से अनभिज्ञ नहीं हैं। कहना चाहिए—यह मतभेद के प्रदर्शन का भद्दा प्रकार है।

आचार्यश्री बाल-दीक्षा के समर्थक नहीं हैं। वे युवक व वृद्ध दीक्षा के भी समर्थक नहीं हैं। उनकी समर्थना अवस्था के साथ जुड़ी हुई नहीं है। वैराग्य के संस्कार जागने पर, उनके पकने पर जो दीक्षा हो, वही योग्य दीक्षा है और आचार्यश्री उसी के समर्थक हैं। इस परिधि में कोई-कोई संस्कारी बालक भी आ सकता है। इसलिए उसका द्वार सर्वथा बन्द नहीं होना चाहिए और कानून के द्वारा तो होना ही नहीं चाहिए। यह उनका अपना अभिमत है।

मौलिक अधिकार

अयोग्य ढंग से बालकों की दीक्षा होती है—डरा, धमका, ललचा, फुसला या बहकाकर बालकों को मूंडा जाता है या मां-बाप अथवा अभिभावक स्वार्थवश उन्हें बेच डालते हैं। ये सब अयोग्य दीक्षा के प्रकार हैं। इनसे आचार्यश्री का कोई लगाव नहीं है किन्तु बुराई के साथ-साथ भलाई को मिटाने की बात विवेकपूर्ण नहीं लगती। अयोग्य ढंग से सिर्फ बालकों की दीक्षा ही क्यों, बूढ़ों और युवकों की भी नहीं होनी चाहिए। बहुत से युवक और बूढ़ भी ऐसे होते हैं, जिन्हें अपने जीवन के कर्तव्य की सुध-बुध भी नहीं होती, विवेक-शक्ति उनके पास तक नहीं फटकती इसलिए अवस्था के यांत्रिक नियम के साथ चेतना की प्रेरक गति को नियंत्रित किया जाए, यह वैयक्तिक स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार के साथ खिलवाड़ है। अपने अभिप्रायों को ही सोलह आने सही मान उन्हें दूसरों पर लादने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। वह सामाजिक भलाई के नाम पर व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का विस्तार है। इसकी बाढ़ नहीं रुकी तो व्यक्ति केवल हाड़-मांस का कंकाल रह जाएगा। उसकी स्वतः स्फूर्त चेतना आप्लावित हो जाएगी।

व्यक्ति से जुड़ा है दीक्षा का प्रश्न

दूसरों के अहित का सम्बन्ध हो वहां तक समाज व्यक्ति को नियंत्रित किए बिना नहीं रह सकता। उससे भी आगे व्यक्ति-नियन्त्रण की क्रिया चली है। वह सहज स्वभाव के अनुकूल नहीं है। इससे वैयक्तिक विकास, स्वतन्त्रता और आनन्द कुण्ठित हो जाता है। विधानसभा व्यक्ति से जो अधिकार लेती है, वे उनकी गति को कुण्ठित करने के लिए नहीं, सामूहिक हितों की रक्षा के लिए हैं। थोड़ों का भी हित, जो दूसरों के हित में बाधक न हो, उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए।

आचार्यश्री तुलसी संस्कारी बालक की दीक्षा को अनुचित नहीं मानते, इस सैद्धान्तिक पक्ष के आधार पर कहा जा सकता है कि वे संस्कारी बालक की दीक्षा के पक्ष में हैं। व्यवहार पक्ष में उनकी मान्यता यह है—दीक्षा दी नहीं जाती, वह ली जाती है। दीक्षा ऊपर से थोपने की वस्तु नहीं है। उसे विरक्त व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छा से स्वीकार करता है। गुरु या आचार्य सिर्फ साक्षी मात्र होते हैं। यह साक्ष्य भाव भी अनिवार्य नहीं है। वस्तुतः दीक्षा का प्रश्न उसे स्वीकार करने वाले पर है, दूसरों पर नहीं। कोई दीक्षा ले या न ले, ले सके या न ले सके, इसका समूचा योग दीक्षित होने वाले मुमुक्षु से है।

आचार्यश्री का अभिमत सिर्फ दीक्षा के औचित्य-अनौचित्य से जुड़ा हुआ है। इसलिए आचार्यश्री के नाम के साथ 'बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक'

जैसे विशेषण जोड़ यथार्थता पर आवरण डालने को उचित नहीं कहा जा सकता ।

कहीं सुदूर क्षेत्र में कोई घटना घटे और वह भी किन्हीं औरों के द्वारा, उसका भार कहीं लादा जाए, यह आलोचना का बहुत ही बेतुका ढंग है । मतभेद का प्रकाशन इतने निर्मम प्रकार से हो, यह सर्वथा अवांछनीय है । आलोचना में रस लेने वाले जरा गहराई से सोचें ।

तेरापंथ : आगम-सम्पादन

जैन आगम ई० पूर्व ५०० से ई० सन् ५०० तक रचित व संकलित है। उनका अन्तिम लिपीकरण ईसवी छठी शती में हुआ। पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व लिखित आगमों का संपादन कितना दुरूह है, इसका सम्यक् आकलन किए बिना हम सम्पादन-कार्य को सही दिशा में नहीं ले जा सकते। तेरापंथ धर्मसंघ आचार्य तुलसी के नेतृत्व में आगम संपादन का भगीरथ प्रयत्न कर रहा है। वह इस दिशा में निर्बाध आगे बढ़ सके, इसलिए सम्पादन में आने वाले कुछ प्रश्न-चिह्नों की चर्चा करना अपेक्षित है।

प्राचीन आदर्शों का अभाव

पाठ-सम्पादन के लिए सर्वाधिक महत्त्व हस्तलिखित आदर्शों का है। आगमों के आदर्श अधिकांशतया विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरवर्ती हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के आदर्श बहुत विरल हैं।

आगमों के लिपीकरण-काल और उपलब्ध आदर्शों के लेखनकाल के मध्य में लगभग आठ सौ वर्षों का अन्तराल है। इस अवधि में मूल आदर्शों का अस्तित्व रहा या नहीं, इसका निर्णायक उत्तर नहीं दिया जा सकता।

कण्ठस्थ परम्परा

देवधिगणी ने आगम पुस्तकारूढ़ किए तब भी कुछ साधु इस कार्य के पक्ष में नहीं थे। वे पुस्तक रखने को परिग्रह मानते थे और मुनि के लिए लिखना निषिद्ध मानते थे। उनकी परम्परा में आगमों को कण्ठस्थ रखने का क्रम कुछ समय तक और चला है।

विहार-क्षेत्र का परिवर्तन

भद्रबाहु स्वामी के पश्चात् जैन मुनियों के विहार-क्षेत्र में परिवर्तन हो गया। पहले अधिकांशतः पूर्वी देशों—विहार, बंगाल आदि में विहार होता था। उसके बाद मालवा, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत मुख्य विहार-क्षेत्र बन गए। दक्षिण भारत—कर्नाटक आदि में जैन आगमों की प्रतियां प्राप्त नहीं हैं। यह बहुत ही आश्चर्यपूर्ण घटना होगी, यदि दक्षिण भारत में लिखित कोई आगमिक आदर्श प्राप्त हो जाए।

आगमों में कुछ शब्द कन्नड़ भाषा में मिलते हैं। किन्तु उनकी भाषा पर जितना महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव है, उतना अन्य किसी देशी भाषा का नहीं है। विहार क्षेत्र लम्बा होने के कारण आगम की भाषा अनेक देशी

भाषाओं से यत्किंचित प्रभावित है।

वाचना-भेद

उपलब्ध आगम एक ही वाचना के नहीं हैं। माथुरी और वल्लभी—ये दो वाचनाएं मुख्य हैं। किन्तु अध्यापन की अवान्तर परम्पराएं और भी प्रचलित थीं। फलतः आगमों की अवान्तर वाचनाएं भी अनेक थीं। आगम के व्याख्याकारों ने माथुरी वाचना का उल्लेख 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' इस रूप में किया है। सामान्य वाचना का उल्लेख 'वाचनान्तरे त्वेवम्,' 'अत्र वाचनान्तरम्' आदि अनेक रूपों में मिलता है। ये वाचनाभेद एक परम्परा में प्रचलित अध्यापन-पद्धति के आधार पर निमित्त हैं।

लिपि-परिवर्तन

विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक की लिपि उत्तरवर्ती आदर्शों में परिवर्तित हो गई। प्राचीन लिपि के घ, व और च में अन्तर डालना बहुत ही जटिल है इसीलिए 'धीरे' और 'वीरे,' 'च' और 'व' इस प्रकार के पाठभेद अनगिन स्थलों में मिलते हैं।

लिपि-दोष

आगमों की प्रतिलिपि करने वाले बहुत सारे केवल लिपिक थे। वे प्राकृत भाषा व आगम में प्रतिपादित विषय के अभिज्ञ नहीं थे इसलिए उनके हाथों से अनेक पाठ त्रुटिपूर्ण लिखे गए। विद्वान् मुनियों द्वारा लिखित आदर्शों में भी यत्र-तत्र स्मृति-दोष के कारण पाठ छूट गए या विपर्यस्त हो गए।

व्याकरण-प्रभाव

प्राकृत व्याकरणों का भी आगम की भाषा पर प्रभाव पड़ा है। चूर्णिगत आगम पाठ में 'क, ग, च, ज, त, द, प, य, व' का लुक् स्वल्प मात्रा में मिलता है, वहां उत्तरवर्ती आदर्शों में उनका लोप प्रचुर मात्रा में मिलता है। सूत्रकृतांग चूर्णि में 'क्षेत्तण्ण' पाठ है। आदर्शों में 'क्षेयन्ने' है। इस पाठ-परिवर्तन के कारण ही अर्थ-परिवर्तन हुआ था। 'क्षेयन्ने' का अर्थ क्षेत्रज्ञ होना चाहिए, वहां खेदज्ञ हो गया।

संयुक्त वर्ण से पूर्ववर्ती दीर्घस्वर का ह्रस्वीकरण, अकार को यकार श्रुति आदि-आदि अनेक परिवर्तन व्याकरण-प्रभावित हैं।

संक्षिप्तीकरण

आगम की विशाल श्रुतराशि को कण्ठस्थ रखना अपने आप में जटिल कार्य था। उसका लिपीकरण भी सरल कार्य नहीं था। इन दोनों परिस्थितियों में मार्गान्वेषण की प्रेरणा उपस्थित की। फलतः कुछ सरल मार्ग ढूँढ

निकाले गए। उनमें एक मार्ग था समर्पण-पद्धति और दूसरा था संग्रहीकरण।

सदृश पाठ के लिए समर्पण-पद्धति का उपयोग किया जाता है। इस पद्धति के सूचक अनेक शब्द हैं, जैसे—जाव, तहेव, जहा, तहा, भाणियव्व आदि-आदि।

इस पद्धति के कारण आगम बहुत दुर्गम हो गए हैं। इस विषय में सतर्कता रखे बिना संपादन बहुत त्रुटिपूर्ण हो जाता है किन्तु कहीं-कहीं ये समर्पण-पाठ पाठ-संशोधन में बहुत उपयोगी बन जाते हैं। स्थानांग सूत्र के महापद्य प्रकरण (९/६१) में 'जहा भावणाए' पाठ है, आयाारचूला के भावनाध्ययन में समर्पित पाठ प्राप्त नहीं है। अभयदेवसूरी के सामने आयाार-चूला का संचर्चित पाठयुक्त आदर्श था।^१ चूर्ण में संचर्चित पाठ व्याख्यात है, उक्त समर्पण-संकेत से आयाारचूला के आदर्शों में अनुपलब्ध पाठ पुनः उपलब्ध हो गया।^२

संग्रहीकरण की पद्धति का उपयोग

संग्रणीकरण की पद्धति का उपयोग उन स्थलों में किया गया, जहां कुछ एक या कुछ विशिष्ट शब्दों के अतिरिक्त शेष विषय सामान्य था। दशवैकालिक की अगस्त्यचूर्णि का संदर्भ देखें—

उदउत्तेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।

वेतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

ससिणिद्धेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।

वेतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

इस प्रकार सत्रह श्लोक हैं किन्तु हरिभद्रवृत्ति तथा उत्तरवर्ती आदर्शों में यह समूचा प्रकरण दो संग्रह-गाथाओं में संगृहीत है—

एवं उदओत्ते ससिणिद्धे ससरक्खे मट्टिया ऊसे ।

हरियाले हिंगुलए मणोसिला अंजणे लोणे ॥

गेरुय वणिय सेट्ठिय सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस कए य ।

उक्कट्ठमसंसट्ठे संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥ दशवै० ५।३३, ३४

इस प्रकार आगम के अनेक स्थलों में संग्रहीकरण की पद्धति से काम लिया गया है। संग्रहीकरण पद्धति का दूसरा रूप और मिलता है। उसमें 'आद्यन्तयोर्ग्रहणे मध्यस्थ ग्रहणम्' इस वैयाकरणिक न्याय का प्रयोग किया गया है। दशवैकालिक के आठवें अध्ययन में इसका उपयोग किया गया है—

कण्णसोक्खोहं सट्ठेहिं पेम्मं णाभिणिवेसए ।

दारुणं कक्कसं सट्ठं सोएण अहियासए ॥

१. स्थानांग वृत्ति, पत्र ४४०

२ देखें : आयाारो तह आयाारचूला, परिशिष्ट ३

चक्खुकंतेहि रुवेहि पेम्मं णाभिणिवेसए ।
 दारुणं कक्कसं रुवं चक्खुणा अहियासए ॥
 घाणकंतेहि गंधेहि पेम्मं णाभिणिवेसए ।
 दारुणं कक्कसं गंधं घाणेण अहियासए ॥
 जीहकंतेहि रसेहि पेम्मं णाभिणिवेसए ॥
 दारुणं कक्कसं रसं जीहाए अहियासए ॥
 सुह्मासेहि कंतेहि पेम्मं णाभिणिवेसए ।
 दारुणं कक्कसं फासं काएण अहियासाए ॥

सम्प्रदाय-लोप

अर्थ-सम्प्रदाय (गुरु-परम्परा) के विच्छिन्न हो जाने के कारण भी आगमों के पाठ परिवर्तित हुए हैं। सूत्रकृतांग चूर्ण में एक पाठ है—‘सुद्धेसिया जायण त्सएज्जा’ (१०/१३)। यही पाठ वृत्ति तथा उत्तरवर्ती आदर्शों में ‘सुद्धे सिया जाए ण त्सएज्जा’ के रूप में प्राप्त है। यह अन्तर अर्थ की विस्मृति के कारण हुआ है।

सम्प्रदाय-लोप की कठिनाई का सामना नवांगी टीकाकार अभयदेव-सूरी को भी करना पड़ा। स्थानांग वृत्ति की प्रशस्ति में उन्होंने लिखा है—

सत्सम्प्रदायहीनत्वात्, सद्बुद्धस्य वियोगतः ।

सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥

वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धितः ।

सूत्राणामतिगाम्भीर्याद्, मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥

पाठ-संशोधन और अर्थ-मीमांसा

पाठ-संशोधन का मुख्य आधार प्राचीन आदर्शों की उपलब्धि है किन्तु हमारी दृष्टि में व्याख्याग्रन्थ उससे भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। लिपि-परिवर्तन व लिपि-दोष के कारण आदर्शों में आने वाली अशुद्धियों को समझने की सर्वोत्तम कसौटी व्याख्या-ग्रन्थ हैं। निशीथ सूत्र का पाठ निशीथ भाष्य चूर्ण के आधार पर संपादित नहीं किया गया इसीलिए उसमें बहुत विसंगतियां रह गईं। उसका पाठ आदर्शानुसारी है और व्याख्या उससे भिन्न है।

अर्थमीमांसा से आदर्श की भूल समझने का एक सुन्दर उदाहरण सूत्रकृतांग की चूर्ण में मिलता है। ९।११ में एक चरण है—‘थंडिल्लुस्सय-णादि य ।’ इसकी चूर्ण है—‘उच्छयणादित्ति बहुवचनं जात्यादीनि अण्टो मदस्थानानि’ उच्छयण शब्द बहुवचनान्त है इसलिए मूलपाठ है—उस्सयणाणि और उसकी चूर्ण उष्ट्रायणाणि होनी चाहिए। वृत्ति तथा अन्य आदर्शों में वह पाठ इसी प्रकार मिलता है।

केवल प्रतियों के आधार पर पाठ-संशोधन करना पर्याप्त नहीं है। उसमें अनेक अपूर्णता और त्रुटियों की स्पष्ट संभावना है। समवायांग सम-वाय ११ में एक पाठ है—जंबुदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स एक्कारस एक्क-वीसे जोयणसए अबाहाए जोइसे चारं चरइ। समवायांग के आदर्शों में 'अबाहाए' पाठ नहीं है। यह पाठ वृत्ति के आधार पर स्वीकृत है।

पाठ-सम्पादन में एक सूत्र में आगत-पाठ की दूसरे सूत्र में समागत पाठ से तुलना करना बहुत महत्वपूर्ण है। दोनों पाठों की तुलना करने पर हम अनेक त्रुटियों से बच जाते हैं। चंदपण्णत्ति (पाहुड १८) में समालोच्य शब्द 'अबाहाए' मिलता है। समवायांग के आदर्शों में उक्त पाठ के कुछ शब्द सप्तम्यन्त हैं—एक्कारसएहि एक्कवीसेहि जोयणसएहि। किन्तु चंदपण्णत्ती (पाहुड १८) में ये सप्तम्यन्त नहीं हैं। समवायांग वृत्ति में भी ये सप्तम्यन्त रूप में व्याख्यात नहीं हैं।

प्राचीन प्राकृत

प्राकृत को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—प्राचीन और अर्वाचीन। आचार्य हेमचन्द्र ने जिसे आर्ष कहा है, वह प्राचीन प्राकृत है। उपलब्ध व्याकरणों द्वारा शासित प्राकृत अर्वाचीन प्राकृत है।

आगम की टीकाओं में स्थान-स्थान पर अलाक्षणिक प्रयोग का उल्लेख किया गया है। उसका हेतु टीकाकारों की अर्वाचीन प्राकृत व्याकरणों से बंधी हुई दृष्टि है। अर्धमागधी प्राचीन प्राकृत है। उपलब्ध किसी भी व्याकरण में उसका सर्वांगीण निरूपण नहीं है। आचार्य मलयगिरि ने बृहत्कल्प भाष्य की वृत्ति में प्राचीन व्याकरण का उल्लेख किया है। आगमों में भी यत्र-तत्र प्राचीन व्याकरण के अवशेष मिलते हैं। स्थानांग सूत्र में शुद्ध वाक्य-अनुयोग के दस प्रकार बतलाए गए हैं^१—

- | | |
|------------|------------|
| १. चंकार | ६. एगत्त |
| २. मंकार | ७. पुधत्त |
| ३. पिकार | ८. संजूह |
| ४. सेतंकार | ९. संकामिय |
| ५. सातंकार | १०. भिन्न |

अभयदेवसूरी ने स्थानांग वृत्ति में इनका अर्थ किया है पर इसकी निर्णायक अर्थ-परम्परा उन्हें प्राप्त नहीं थी। उन्होंने इसे अन्यथा विमर्शणीय भी माना है।^२

प्राकृत में श्रुतिसुख और उच्चारणसुख—इन दोनों पर विशेष ध्यान

१. स्थानांग १०।७४४।

२. स्थानांग वृत्ति, पत्र ४७०।

दिया गया है। 'प' का 'व' भी होता है और उसका लोप भी होता है।^१

किन्तु दोनों की प्राप्ति होने पर भी जिससे श्रुतिमुख हो, वही करना चाहिए।^२ आगमों में मकारानुयोग का प्रयोग बहुलता से मिलता है। 'वत्थगंधमलंकार' इसमें मकार अलाक्षणिक है। हरिभद्रसूरी ने इसका प्रयोजन मुख सुखोच्चारण बतलाया है।^३ आगम के आदर्शों में 'तकारश्रुति' का प्रयोग भी प्रचुरता से मिलता है।

त श्रुति के कुछ उदाहरण

अ	अप्पाणं	तप्पाणं	(द० ३।१)
इ	इच्छा	तिच्छा	(ठ० ११६)
	पूरइत्तए	पूरतित्तए	(आ० १।३।४२)
ए	एरावण	तेरावण	(सू० १।६।२१)
	तच्चाए	तच्चाते	(ठा० ३।१२९)
ओ	खओवसमिए	खतोवसमिए	(ठा० २।९८)
क	लोय	लोत	(आ० १।६।३०)
ग	सेसगा	सेसता	(सू० १।२।३।१९)
च	जाइस्सामि	जातिस्सामि	(आ० १।६।६०)
ज	भोई	भोती	(आ० २।१५।६८)
ट	आमोटाणं	आमोताणं	(रा० ७७)
ठ	ठाणं	ताणं	(रा० ७७)
द	पवेदियं	पवेतियं	(आ० १।१।५६)
य	आयाय	आयात	(आ० २।१।२)
व	अतीव	अतीत	(रा० ४०)

भाषाशास्त्रीय दृष्टि से घोष और स्वर के बीच में या शौरसेनी और महाराष्ट्री के बीच में तकार का प्रयोग हुआ है। तकार का ध्वनिमूल्य अभी अनिर्धारित है। डा० ए० एन० उपाध्ये का अभिमत है कि आगम-सम्पादन में 'तश्रुति' को स्थान नहीं देना चाहिए। पाठ-सम्पादन में प्राचीन प्राकृत के रूपों को प्राथमिकता देना आवश्यक है। भाषाशास्त्रीय प्रामाण्य से अघोष पहले घोष बनता है, फिर घोष लुप्त होता है। उदाहरणस्वरूप—

अघोष घोष स्वर

मागधी—कति, शौरसेनी—कदि, महाराष्ट्री—कई

१. पोवः (हेम० १।२३१), कगचजतदपयवां, प्रायोलुक,

(हेम० १।१७७)

२. हेम प्राकृत व्याकरण (१।२३१)।

३. दशवैकालिक हरिभद्रीय वृत्ति, पृ० ८६।

आदर्शों के कालक्रम से पता चलता है कि 'एकार' और संयुक्त वर्ण से पूर्ववर्ती 'ओकार' के प्रयोग इकार और उकार की अपेक्षा प्राचीन हैं। जैसे—

देतियं	दितिय
पेढिया	पीढिया
दोण्हं	दुण्हं
सोन्चा	सुन्चा
ओगग्हं	उगग्हं

अनुस्वार का णकार—अह णं—अहण्णं । जं वं—जण्णं । परवर्ती अनुनासिक णकार के योग में पूर्ववर्ती अनुनासिक अनुस्वार का लोप—तेसि णं । प्राचीन प्राकृत के कई वर्णदेश भी अर्वाचीन प्राकृत से भिन्न हैं । आचार्य हेमचन्द्र ने कुछेक वर्णदेशों का अपने प्राकृत व्याकरण में उल्लेख किया है किन्तु उनका अविकल उल्लेख अभी नहीं हुआ है । डा० पिशेल ने प्राचीन प्राकृत की मीमांसा की है पर उसमें भी आदर्शों के कालक्रमीय तुलनात्मक अध्ययन की सम्पन्नता नहीं है ।

आगम-सम्पादन के लिए प्राचीन प्राकृत के आधार पर कुछ विशेष पद्धतियों व मानदण्डों की प्रस्थापना आवश्यक है ।

छंदशास्त्र

आगमों के संपादन में छंदशास्त्रीय दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है । आगम की रचना वर्तमान छंदशास्त्र से प्रतिबद्ध नहीं है इसी-लिए एक श्लोक में अनेक छन्दों का मिश्रण मिलता है । अनुष्टुप के एक चरण में सात, आठ, नौ और दस अक्षर मिलते हैं । छंद की दृष्टि से ह्रस्व का दीर्घीकरण और दीर्घ का ह्रस्वीकरण भी मिलता है । यत्र-तत्र वर्णलोप के उदाहरण भी मिलते हैं । यदि वर्तमान छंदशास्त्र की दृष्टि से उनमें परिवर्तन किया जाए, जैसा कि कुछ आदर्शों व आधुनिक संपादनों में किया है, वह मूल के प्रति न्याय नहीं है ।

संक्रामित-अनुयोग—विभक्ति और वचन का व्यत्यय तथा विभक्तिहीन प्रयोग मुख्यतः छंद की दृष्टि से ही विहित हैं—

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।

अच्छंदा जे न भुंजति, न से चाइ त्ति बुच्चइ ॥ (दशवे० २।२)

यहां चतुर्थ चरण में बहुवचन के स्थान में एकवचन है । बहुवचन होने पर छंद की व्यवस्था भंग हो जाती है । ऐसे प्रयोग सैकड़ों मिलते हैं ।

समप्रदृष्टि

वर्तमान में शोधपूर्ण संपादन की जितनी सुविधा है, उतनी अतीत में

नहीं थी। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से आगमों का अध्ययन बहुत अपेक्षित है। अतीत का अनुसंधान करना संपादन का एक पक्ष है। उनका दूसरा पक्ष है, वर्तमान युग की उपलब्धियों के आलोक में आगमिक तथ्यों का निरीक्षण और परीक्षण।

प्रस्तुत प्रकरण में आगम-सम्पादन में आनेवाली कठिनाइयों और उनके समाधान के लिए संप्राप्त दृष्टियों को संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया गया है। अतीत और वर्तमान सहज ही विभक्त होते हैं। सुदूर अतीत वर्तमान से बहुत ही विभक्त हो जाता है। उस विभाजन-रेखा को हम कुछ सुनिश्चित मानदण्डों की प्रस्थापना के द्वारा ही समाप्त कर सकते हैं।

राजस्थानी साहित्य की समृद्धि में तेरापंथ का योग

भौगोलिक सीमा के परिवर्तन के साथ-साथ भाषा का आकार और स्वरूप भी बदल जाता है। दो प्रदेशों की सन्धि की भाषा भी संधि-भाषा होती है। एक प्रदेश में जो भाषा मुख्य रूप से बोली जाती है, वह उस प्रदेश की भाषा होती है। भाषा का नामकरण भी प्रदेश के नाम के आधार पर होता है। राजस्थान एक प्रदेश है। उसकी भाषा का नाम राजस्थानी है। स्वतंत्रता के पूर्व राजस्थान नाम का कोई प्रदेश नहीं था। वह अनेक छोटी-छोटी इकाइयों में बंटा हुआ था। उन इकाइयों में अनेक बोलियाँ प्रचलित थीं, जैसे—मारवाड़ी, मेवाड़ी, ढूंढाड़ी, बीकानेरी आदि-आदि। स्वतंत्रता के बाद अनेक राज्यों की इकाइयाँ टूटीं और वे एक प्रदेश में विलीन हो गईं। यह विलीनीकरण केवल भौगोलिक सीमाओं का ही नहीं हुआ, बोलियों का भी हुआ है। अनेक नाले मिलते हैं, एक नदी बन जाती है, वैसे ही अनेक बोलियों का योग हुआ और उसकी निष्पत्ति एक भाषा के रूप में हो गई। संवैधानिक रूप में राजस्थानी को भाषा की मान्यता प्राप्त नहीं है किन्तु उसमें भाषा होने की क्षमता नहीं है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। बोली को भाषा का स्थान प्राप्त करने के लिए तीन प्रमाण प्रस्तुत करने होते हैं—

- शब्दों और प्रयोगों की वैयाकरणिक प्रामाणिकता।
- अभिव्यक्ति की क्षमता।
- साहित्य की क्षमता।

प्राकृत-अपभ्रंश का प्रतिनिधित्व

राजस्थानी शब्द और प्रयोग व्याकरण-सिद्ध हैं। यद्यपि प्राचीनकाल में राजस्थानी के विविध रूपों का कोई व्याकरण नहीं था फिर भी उसके शब्द और प्रयोग व्याकरण से अप्रमाणित नहीं हैं। राजस्थानी को प्राकृत और अपभ्रंश के उत्तराधिकार का मुख्य भाग प्राप्त है। गुजराती, पंजाबी, बंगला और हिन्दी को प्राकृत और अपभ्रंश का जितना प्रतिनिधित्व प्राप्त है, उससे कम राजस्थानी को नहीं है। संस्कृत के शब्द भी मृदु उच्चारण के साथ राजस्थानी में व्यवहृत होते हैं। अनपढ़ राजस्थानी के मुंह से प्रसंगवश 'सांगोपांग' शब्द सुना जा सकता है। यह संस्कृत के 'साङ्गोपाङ्ग' का ही मृदु उच्चारण है। राजस्थानी शब्दों के मूल प्राकृत और अपभ्रंश के धातुओं तथा शब्दों में जो खोजे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए एक संक्षिप्त

तालिका प्रस्तुत है—

राजस्थानी

जोबू

घोड़ो

ढकणो

टांको

चूंटणीं

चोपड़णो

चढ़णो

छककर

ढीला

चोखो

संस्कृत के शब्द भी राजस्थानी में प्राकृत का परिधान पहनकर

व्यवहृत होते हैं, जैसे—

रावलो

बावलो

देवल

पीरो

सासरो

बाप

बैन या भैण

मासी या मौसी

मैल

काठ

वेठ

अहनाण

अहल

वांको

वाट

गैलो

नेह

गर्ज

बीज

मेह

लेवड़ा

प्राकृत या अपभ्रंश

जोह—जोहना, देखना

घोड़ग—अश्व

ढक्क—ढांकना

टंक—टांकना

चुंट—छेदना

चुप्पड़—चोपड़ना

चढ़—आरोहण

चक—तृप्ति

ढिल्ल—शिथिल

चोक्खा—अच्छा

राउल—राजकुल

वाउल—व्याकुल

देउल—देवकुल

पिहहर, पिउघर—पितृगृह

श्वश्रूगृह

बप्पा—वप्ता

भइणी—भगिनी

माइ—मातृस्वसा

मइल—मलिन

कट्ठ—काष्ठ

वेट्ठ—वेष्टि

अहिन्नाण—अभिज्ञान

अहल—सफल

वंक—वक्र

वट्ट—वर्त्मन्

गहिल—ग्रथिल

नेह—स्नेह

गज्ज—गर्ज

बिज्जु—विद्युत्

मेह—मेघ

लेवड़—लेपकृत

तिरछो
पतली

तिरच्छ—तिर्यक्
पतलो—प्रतलः

अभिव्यक्ति की क्षमता

राजस्थानी में साहित्यिक अभिव्यक्ति की वही क्षमता है, जो अपभ्रंश में है। इसमें श्लेष अलंकार भी बड़े सरस होते हैं। राजस्थानी का दोहा है—

उन्हालो आछो नहीं, वरसालो मयमंत ।

सीयालै मत संचरो, कामण भाखै कंत ॥

एक व्यक्ति अपनी समुराल गया। वह भोजन करते समय बार-बार अपने साले की पत्नी की ओर देख रहा था। उसकी पत्नी को यह मालूम हो गया। उसने श्लेष की भाषा में अपने पति को संबोधित किया। इस दोहे में तीन शब्द श्लेषयुक्त हैं—

उन्हालो

उण्हाले—उष्णकालः

वरसालो

वरसालो—वर्षाकालः

सीयालै

सीयाले—शीतकाले

इनका व्यंग-अर्थ है—उ—इस प्रकार, न्हालो—देखते हो, यह अच्छा नहीं है। वरसालो—तुम्हारा साला बड़ा मदोन्मत्त है। तुम ऐसा कर सीयालै=सिहालय अर्थात् सिंह की गुफा में मत जाओ। यह दोहा श्लेष और ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है।

मन्दोदरी रावण से कह रही है—

वीराणी रहसी नहीं, रहसी सूथारी ।

सोनारी जासी नहीं, कह भाभी कुंभारी ॥

इसमें चार शब्दों का श्लेष है—

वीराणी, सुथार (खाती), सोनार और कुंभार की पत्नी। इसका दूसरा अर्थ है—सीता वीराणी है अर्थात् पराई है, वह चली जाएगी। जो रहेगी सु—वह थारी—तुम्हारी ही रहेगी। यह सोनारी अर्थात् सोने की लंका चली जाएगी। कुंभारी अर्थात् कुंभकर्ण की भाभी यह कह रही है।

राजस्थानी साहित्य

संस्कृत के अनुष्टुप की भांति दोहा की मार्मिकता अपभ्रंश और राजस्थानी में मिलती है। राजस्थानी जनता अपने साहित्य के प्रति उतनी अच्छी नहीं रही है इसलिए उसे भारतीय साहित्य में उचित स्थान नहीं मिल पाया। राजस्थानी-साहित्य में सभी रसों का साहित्य मिलता है, किंतु शृंगार, वीर और शांत-रस का साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। अनेक जैन कवियों ने दार्शनिक व तात्त्विक ग्रंथ राजस्थानी में लिखे थे। उनका आकार बहुत विशाल है। गद्य साहित्य भी विपुल मात्रा में मिलता है। तेरापंथ के चतुर्थ

आचार्य श्री जयाचार्य ने कथारत्न कोश नामक एक गद्य-ग्रन्थ लिखा था। उसका कलेवर काफी बड़ा था। अभी उसका सम्पादन किया जा रहा है। उनका भिक्षु-दृष्टांत संस्मरणात्मक गद्य-साहित्य का उत्कृष्ट नमूना है। उस ग्रन्थ पर अनेक हिन्दी-भाषी व अहिंदी-भाषी विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण अभिमत लिखे हैं।

पद्यात्मक जीवनी साहित्य भी राजस्थानी में विपुल परिमाण में मिलता है। केवल तेरापन्थ-परम्परा में पचासों जीवनियां लिखी गई हैं। उनमें भी जयाचार्य द्वारा लिखी गई जीवनियां भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट हैं। मधवागणी द्वारा लिखित जयाचार्य की जीवनी भी बहुत प्रशस्त है। आचार्यश्री तुलसी ने कालूयशोविलास नामक पूज्यपाद कालूगणी की जीवनी लिखी है। यह वर्णन, भाषा और अलंकार की दृष्टि से संस्कृत महाकाव्यों की पद्धति का राजस्थानीकरण है। काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से उसका स्थान प्रथम कोटि का है।

राजस्थानी में जैन यतियों व साधुओं द्वारा बहुत बड़ी संख्या में व्याख्यान लिखे गए हैं। उनमें कई व्याख्यान बहुत ही कवित्वपूर्ण हैं। कुछ व्याख्यानों में राजस्थानी और गुजराती का मिश्रण है तो कुछ विशुद्ध राजस्थानी में हैं। चंदचरित एक सुन्दर आख्यान है। उसे सुन्दरतम पद्यात्मक उपन्यास कहा जा सकता है।

आगमों के अनुवाद

श्री जयाचार्य ने अनेक दिशाओं में राजस्थानी की समृद्धि के द्वार खोले थे। उन्होंने प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद किए और उस पर वार्तिक व व्याख्याएं लिखीं। कुछेक महत्त्वपूर्ण अनुवाद ये हैं—

प्राकृत	राजस्थानी
भगवती	पद्यानुवाद
आचारांग प्रथम	पद्यानुवाद
निशीथ	पद्यानुवाद
उत्तराध्ययन के २९ अध्यायन	पद्यानुवाद
संस्कृत	राजस्थानी
भरतबाहुबलिकाव्य	पद्यानुवाद
सारस्वत व्याकरण पंचसंधि	पद्यानुवाद
नयचक्र (न्यायग्रन्थ)	पद्यानुवाद

राजस्थानी भाषा : तेरापन्थ का योगदान

आचार्य भिक्षु ने भी राजस्थानी को बहुत तात्त्विक संपदा प्रदान की है। उनकी छोटी-बड़ी कृतियां लगभग सौ हैं। आचार्य भिक्षु व जयाचार्य

द्वारा अनेक दार्शनिक व तात्त्विक शब्दों का राजस्थानीकरण हुआ है। उनके द्वारा व्यवहृत शब्दों का राजस्थानी जैन पारिभाषिक शब्दकोश के रूप में संकलन किया जा रहा है। आचार्य तुलसी हिन्दी के सम्पर्क में अधिक रहने पर भी राजस्थानी में लगभग पन्द्रह हजार पद्य लिख चुके हैं। तेरापन्थ के अनेक साधु-साधवियों की राजस्थानी में अनेक कृतियां मिल जाएंगी। किन्तु विशेष रूप से राजस्थानी साहित्य-निर्माता के रूप में मुनिश्री वेणीराम, मुनिश्री हेमराज, मुनिश्री जीवराज, मुनिश्री चांदमल, मुनिश्री चौथमल; मुनिश्री सोहनलाल, मुनिश्री गणेशमल, मुनिश्री दुलीचंद 'दिनकर', मुनिश्री बुद्धमल्ल, मुनिश्री मधुकर आदि-आदि मुनियों के नाम उल्लेखनीय हैं।

आचार्य भिक्षु का अहिंसा-दर्शन

शाश्वत है अहिंसा

‘अहिंसा सच्चयस्नेहमकरि’—अहिंसा सब प्राणियों के लिए कल्याणकारी है। वह जितनी कल्याणकारी है, उतनी ही विराट् है। अहिंसा प्राणियों के लिए ब्रह्म है—‘अहिंसा भूतानां ब्रह्म परमं।’ ब्रह्म का अर्थ है—विराट्, प्रसरणशील, व्यापक। व्यापक को ब्रह्म कहा जाता है। अहिंसा कल्याणकारी भी है, विराट् भी है और शाश्वत भी है। ‘एस धम्मे धुए नियए सासए’—अहिंसा धर्म ध्रुव है, नित्य है और शाश्वत है। शाश्वत के विषय में मीमांसा करना कठिन होता है। जो है, उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उसको अभिव्यक्ति देने की बात मुख्य होती है। अहिंसा को अभिव्यक्ति देने वालों में एक मुख्य नाम है आचार्य भिक्षु का। शाश्वत को स्थापित करने की अपेक्षा किसी को नहीं होती। न भगवान् महावीर ने अहिंसा की स्थापना की, न किसी तत्त्ववेत्ता आचार्य ने अहिंसा की स्थापना की। सांख्य का यह दृष्टिकोण ठीक लगता है कि सत् सत् होता है। मात्र अभिव्यक्ति होती है। कारण भी सत् होता है और उसमें कार्य भी सत् होता है। मात्र अभिव्यक्ति की आवश्यकता रहती है। शाश्वत कभी उत्पन्न नहीं होता, मात्र अभिव्यक्त होता है।

अहिंसा का दर्शन

आचार्य भिक्षु ने अहिंसा का प्रतिपादन किया। यदि यह कहा जाए—उन्होंने वही प्रतिपादन किया, जो आगमों में था तो भिक्षु के अहिंसा-दर्शन पर चर्चा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। बहुत सारे परम्परावादी व्यक्ति यही मानते हैं कि आचार्य भिक्षु ने वही चिंतन प्रस्तुत किया है, जो आगम सूत्रों में था। इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है, किन्तु चिंतन और विचार सदा प्रसरणशील और प्रवाही होता है। वह कभी रुक नहीं होता। वह परं-परं आगे से आगे गतिशील होता है। जो विचार गतिशील नहीं होता, वह विचार नहीं, केवल अनुवाद होता है। अनुवाद किया जा सकता है। एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद कर देना ही अनुवाद नहीं है, पुनर्वचन भी अनुवाद होता है। दोहराना भी अनुवाद होता है। वह मात्र अनुवाद होता है, मौलिक चिंतन या विचार नहीं होता।

आचार्य भिक्षु अहिंसा के विचारक थे, चिंतक थे। उन्होंने अहिंसा के विचार को आगे बढ़ाया। अपने चिन्तन का उसमें योग किया। उसमें कुछ जोड़ा और कुछ तोड़ा। इसीलिए हम कह सकते हैं कि आचार्य भिक्षु ने अहिंसा का दर्शन दिया।

अहिंसा : स्वतंत्र चिन्तन

आचार्य भिक्षु ने अहिंसा पर स्वतंत्र चिन्तन किया। उनके दर्शन को समझने के लिए हमें व्यवहार और निश्चय—इन दो दृष्टियों को स्पष्ट समझना होगा। सत्य को समझने के लिए ये दो दृष्टियाँ रही हैं। इन दो दृष्टियों को ध्यान में रखे बिना हम आचार्य भिक्षु को नहीं समझ सकेंगे। जहाँ वस्तु-सत्य का प्रश्न है, वस्तु-निष्ठ सत्य को समझने का अवसर है वहाँ निश्चयदृष्टि का उपयोग किया जाता है। जहाँ वस्तु के मूल स्वरूप को समझने का प्रश्न है, उसके सूक्ष्मतम स्वरूप को समझने का प्रश्न है वहाँ निश्चयदृष्टि का उपयोग आवश्यक होता है। जहाँ हमें वस्तु के आपात सर्पक को समझना है, वस्तु के स्थूल दर्शन को समझना है वहाँ व्यवहार दृष्टि का उपयोग किया जाता है। साधारण आदमी के लिए व्यवहार का रास्ता सुगम होता है। एक तत्त्वचिन्तक के लिए निश्चय का रास्ता बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। व्यवहार एक ऐसा छिलका है, जिसका कभी उपयोग होता है और कभी उसे अलग कर दिया जाता है किन्तु जो मूल आत्मा है निश्चय, उसे कभी अलग नहीं किया जा सकता। इन दोनों दृष्टियों से आचार्य भिक्षु के दर्शन को समझना आवश्यक है।

अहिंसा की परिभाषाएं

अहिंसा की परिभाषा का उत्तरोत्तर बहुत विकास हुआ है। किसी जीव को मत् मारो—यह अहिंसा है। यहाँ से अहिंसा का सिद्धांत चला और विकसित होते-होते अनेक गहराइयों को पार करने पर एक परिभाषा बनी—राग-द्वेष को उत्पन्न न करना अहिंसा है। इस अर्थ में अहिंसा, सामायिक और ध्यान एक हो जाते हैं। वर्तमान क्षण में जीना, जिस क्षण में राग और द्वेष न हो, उस क्षण को हम ध्यान कह सकते हैं, समता कह सकते हैं, अहिंसा कह सकते हैं। वस्तुतः चिंतन और विचार में कोई दूरी नहीं है। अहिंसा के विचार को इस भूमिका तक पहुँचने में अनेक खाइयाँ पार करनी पड़ी हैं। इसका ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत करें तो पता चलेगा—अहिंसा की परिभाषा का क्रमशः विकास हुआ है। जैन साहित्य में अहिंसा की पचास से अधिक परिभाषाएँ होंगी। आचार्य भिक्षु ने भी इसमें एक परिभाषा जोड़ी। उन्होंने अपने द्वारा प्रस्तुत परिभाषा को अनेक प्रकार से समाहित किया है। अहिंसा से विभिन्न परिभाषाओं का विकास हुआ है पर उनमें

अन्तर बहुत कम है। आचार्य भिक्षु की जो परिभाषा है, उसमें भी मौलिक अन्तर नहीं है। उन्होंने स्थूल भाषा में कहा—दया और अहिंसा एक है। दया ही अहिंसा है और अहिंसा ही दया है। किसी जीव को न मारना अहिंसा है। नहीं मारना दया है और वही दया अहिंसा है।

भिन्नता का बिन्दु

सामान्यतः यही समझा जाता है कि आचार्य भिक्षु का अहिंसा का विचार दूसरों से भिन्न पड़ता है। यह सही नहीं है। अहिंसा का विचार भिन्न नहीं है। भिन्नता का विचार दूसरा है। वह है—पुण्य बिन्दु। उनकी समूची अहिंसा की विश्लेषणा में एक पृथक् बिन्दु जो स्थापित होता है, वह है पुण्य का बंध। आचार्य भिक्षु इस बिन्दु पर प्रायः सभी आचार्यों से भिन्न पड़ते हैं। जहां तक संवर और निर्जरा का प्रश्न है, उसमें कोई मतभेद नहीं है। राग-द्वेष और मोह का न होना संवर है। इसमें सभी एकमत हैं। जहां संवर में कोई मतभेद नहीं है वहां पुण्य के बन्ध में मतभेद है। कुन्दकुन्द आदि अनेक आचार्यों ने माना—पुण्य का हेतु है प्रशस्त राग। प्रशस्त राग से पुण्य का बंध होता है। राग से पुण्य का बन्ध होता है, यह परम्परागत विचारधारा चली आ रही थी। आचार्य भिक्षु ने इसमें कुछ संशोधन किया और अपना नया विचार प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—राग से पुण्य का बन्ध नहीं होता। पुण्य का बन्ध निर्जरा के साथ ही होगा। पुण्य का स्वतंत्र बन्ध नहीं होता। यह उनकी मौलिक स्थापना है, जो प्राचीन साहित्य में उपलब्ध नहीं है। जब संवर के साथ निर्जरा होती है, जब निर्जरा स्वतंत्र रूप से होती है तब निर्जरा के साथ पुण्य का बन्ध होता है। स्वतंत्र रूप से पुण्य का बन्ध नहीं होता। यह चिंतन आचार्य भिक्षु की विचारधारा को नया रूप दे देता है।

विमर्शणीय प्रश्न

अहिंसा का एक रूप है—दया। अनेक लोगों ने दया में पुण्य का बंध माना है। वे कहते हैं—जीवों की दया करने में संवर नहीं होता, निर्जरा भी नहीं होती किन्तु पुण्य का बन्ध होता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—जहां संवर भी नहीं है और निर्जरा भी नहीं है वहां पुण्य का बन्ध कैसे हो सकता है? एक अन्तर आ गया, एक सीमा बन गई। एक प्रश्न होता है—क्या आचार्य भिक्षु ने अहिंसा का विश्लेषण करते हुए इस दया को सर्वथा एक ही रूप में स्वीकार किया है? यह प्रश्न विमर्शणीय है। इसे गहराई से समझना अपेक्षित है।

रागानुबन्ध

राग और द्वेष—यह एक द्वंद्व है। कुछ आचार्यों ने राग का प्रशस्ती-

करण किया। उन्होंने कहा—राग प्रशस्त भी होता है, अप्रशस्त भी होता है। आचार्य भिक्षु ने इस विभाग को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने नई स्थापना की। उनके सामने एक प्रश्न आया—एक बच्चा जूओं को मार रहा है। एक व्यक्ति ने देखा। वह बच्चे के पास जाकर बोला—जूओं को मत मारो। जूओं को छुड़ा दिया। छुड़ाने वाले आदमी को क्या हुआ? आचार्य भिक्षु ने इसके समाधान में लिखा—जिस व्यक्ति ने मरती हुई जूओं को बचाया या मारने वाले व्यक्ति को समझाया, रोका और जू बच गई—यह रागानुबन्ध हो गया। इस रागानुबन्ध का परिणाम यह हो सकता है कि अगले जन्म में वह जू का जीव मनुष्य बन जाए और उस व्यक्ति का पुनः उपकार करे। वह उपकार कर सकता है, उसे बचा सकता है। 'रागानुबन्ध'—इस नए शब्द का गठन हुआ। राग से राग का अनुबन्ध होता है, राग की परम्परा चलती है। उसने उसको बचाया और अगले जन्म में वह उसको बचा सकता है। उन्होंने लिखा—

जीव ने जीव बचावें, बंध जावें तिण रे राग स्नेह।

जो परभव में आव मिलें तो देखत प्राण जागे तिण में नेह ॥

एक प्रसंग में आचार्य भिक्षु ने लिखा—

मित्र रो मित्रपणो चालियो आवें, शत्रु रो शत्रुपणो चालियो आवें।

किसी ने किसी के साथ मित्रता का व्यवहार किया तो जन्मान्तर में उसके साथ मित्रता का संबंध चलता है और किसी ने किसी के साथ शत्रुता का व्यवहार किया तो जन्मान्तर में उसके साथ शत्रुता का सम्बन्ध चलता है। यह जन्म-जन्मांतरों तक चलता है।

निष्कर्ष की भाषा

हम निष्कर्ष की भाषा में सोचें—पुण्य का बन्ध नहीं होता किंतु राग का बन्ध होता है, स्नेह का बन्ध होता है। राग की परम्परा चलती है, स्नेह की परम्परा चलती है। उसने उसका उपकार किया और वह भी जन्म-जन्मान्तरों तक उसका उपकार करता रहेगा। उपकार की परम्परा चलती है, स्नेह की परम्परा चलती है, मित्रता की परम्परा चलती है, शत्रुता की परम्परा चलती है। आचार्य भिक्षु द्वारा प्रस्तुत इस दृष्टिकोण को बहुत नहीं समझा गया। हमने राग और द्वेष—दोनों को एक कोटि में रख दिया, शत्रुता और प्रियता या उपकार को एक कोटि में रख दिया। यहां एक दूसरा मोड़ भी है। उसे हमें समझना है। जब प्रियता की परम्परा चलती है, राग का अनुबन्ध चलता है तो इसे हम प्रत्यक्ष बुराई नहीं कह सकते।

दान : दो प्रकार

दान के संदर्भ में आचार्य भिक्षु ने लिखा—यद्यपि करुणादान संसार का दान है, फिर भी उससे लोगों का सम्मान बढ़ता है। उन्होंने गणिकादान—वेश्या को दिए जाने वाले दान के विषय में लिखा—‘ए तो प्रत्यक्ष खोटा दान’—वेश्या को दान देना प्रत्यक्षतः बुरा है। उनके इन दोनों कथनों को एक ही तुला से नहीं तोल सकते। हमें यहां एक विभाजन-रेखा खींचनी होगी—एक सांसारिक कार्य ऐसा होता है, जो प्रत्यक्षतः बुरा होता है, निन्दनीय होता है, व्यवहार में भी वह प्रशंसनीय नहीं होता। एक सांसारिक कार्य ऐसा होता है, जिसका व्यवहार के घरातल पर भी मूल्य होता है, भावी संबंधों पर भी प्रभाव और असर होता है और उसका परिणाम कुछ अर्थों में पुण्य की तरह ही होता है। उसका एक परिणाम होता है, फल मिलता है।

सिद्धांत की वास्तविकता को समझें

आचार्य भिक्षु ने कहा—परिग्रह अनर्थ का मूल है, चाहे अपने पास रखो या दूसरे को दो। एक अग्नि से निकाला, दूसरी में डाल दिया। यह आचार्य भिक्षु की प्रसिद्ध उक्ति है। यह ठीक है कि परिग्रह किसी के पास हो, वह धर्म नहीं है। उससे कर्म-निर्जरा नहीं हो सकती। किन्तु यह भेद हम क्यों भूल जाते हैं कि अपने पास जितना परिग्रह होता है, उसमें स्वार्थ जितना सघन होता है, दूसरों को देने में उस स्वार्थ की सघनता कम हो जाती है। हम सिद्धांत की वास्तविकता को समझें। किसी भी तत्त्ववेत्ता ने किसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया, वह किस भूमिका पर क्या कहना चाहता है, उस भूमिका पर गए बिना एक स्थूल बात को पकड़कर हम न उस सिद्धांत के साथ न्याय कर सकते हैं, न प्रणेता या प्ररूपक के साथ न्याय कर सकते हैं।

तरतमता का संदर्भ

यह स्पष्ट तथ्य है—आसक्ति की तरतमता होती है तो अनासक्ति की भी तरतमता होती है। हर बात की तरतमता होती है। इस तारतम्य के सिद्धांत को हम ठीक से समझें। कोई व्यक्ति किसी के साथ बुराई करता है, किसी को मारता है, किसी के साथ दुश्मनी करता है और कोई किसी का भला करता है, उपकार करता है। हम दोनों को व्यवहार के घरातल पर एक कोटि में नहीं रख सकते और आत्मस्थ शुद्धि की दृष्टि से भी एक कोटि में नहीं रख सकते। आचार्य भिक्षु के विचार से यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के जो व्यवहार हैं, वे संवर और निर्जरा के व्यवहार नहीं हैं। वहां पुण्य की

बात भी नहीं है। किन्तु इसका आचार्य भिक्षु ने जिस तरमता के आधार पर प्रतिपादन किया, उस विषय को हमने ओझल कर दिया। आचार्य भिक्षु के अहिंसा-दर्शन के इस बिंदु की गहराई में जाना आवश्यक है। उसके अनेक बिंदु हैं, जिनकी व्याख्या भविष्य के गर्भ में है।

आचार्य भिक्षु की मान्यता के मौलिक निष्कर्ष

जितना पढ़ने का प्रयत्न होता है, उतना उसके आशय को समझने का नहीं होता। जितना प्रयत्न लिखने का होता है, उतना तथ्यों के यथार्थ संकलन का नहीं होता। अपने प्रति अन्याय न हो, इसका जितना प्रयत्न होता है उतना दूसरों के प्रति न्याय करने का नहीं होता। गहरी डुबकी लगाने वाला गोताखोर जो पा सकता है, वह समुद्र की भांकी पाने वाला नहीं पा सकता। आचार्य भिक्षु के विचार मूल-स्पर्शी हैं, उनका ऊपर-ऊपर से विहंगावलोकन करने वाले उन्हें सही रूप में समझ सकें—यह सहज सरल नहीं है।

आचार्य भिक्षु ने अहिंसा के बारे में जो व्याख्याएं दीं, वे व्यावहारिक जगत् को कैसी ही क्यों न लगे पर वे महावीर-वाणी से दूर नहीं हैं, यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है।

उदाहरण, दृष्टांत और निदर्शन तत्त्व को सरल बनाने या मन्दमति-व्युत्पादन के लिए है पर इनके द्वारा उलझनें भी कम नहीं बढ़ती हैं। सिद्धांत की रोचकता और भयानकता जैसी इनके द्वारा होती है वैसी उसके स्वरूप में नहीं होती।

पक्ष और विपक्ष दोनों कोटि के सिद्धांतों को छोड़कर सिद्धांत की आत्मा का स्पर्श किया जाए तो आचार्य भिक्षु की सिद्धांत-वाणी के मौलिक निष्कर्ष ये हैं—

मिश्र धर्म की उत्थापना

क्रिया दो प्रकार की होती है—सावद्य और निरवद्य, सम्यक् और असम्यक्। निरवद्य या सम्यक् क्रिया जिन-आज्ञा-विहित है, उसका फल 'निर्वाण' है। सावद्य या असम्यक् क्रिया जिन-आज्ञा-विहित नहीं है। उसका फल 'संसार'—जन्म-मरण की परम्परा है। वह आत्मधर्म नहीं है।^१

१. दोग करणी संसार में, सावद्य निरवद्य जाण।

निरवद्य करणी में जिण आगन्या, तिणसू पामें पद निर्वाण ॥

सावद्य करणी संसार ती, तिण में श्री जिण आगन्या नांही।

संसार बंधे छै तेह थी, धर्म नहीं तिण मांही ॥

(ब्रताव्रत चौपाई १२.वाँ ढाल का बूहा)

ये दोनों क्रियाएं अलग-अलग हैं।^१ धर्म की क्रिया से अधर्म और अधर्म की क्रिया से धर्म नहीं होता। एक ही क्रिया से धर्म और अधर्म—ये दोनों नहीं होते।^२ मिश्र-दया और मिश्र-दान की 'थाप' निह्त्ववाद है। बड़े जीवों पर दया या छोटे जीवों को मारने में धर्म और अधर्म दोनों होते हैं—होते हैं ऐसा मानना मिश्र-दया है।^३ हिंसा सहित दान या असंयति दान में धर्म और अधर्म दोनों हैं—ऐसा मानना मिश्रदान है।^४ धर्म और अधर्म—ये दो ही मार्ग हैं। तीसरा मार्ग नहीं है—मिश्र धर्म नहीं है।^५

सम्यक्दृष्टि का विवेक

सम्यक्दृष्टि लोक—संसार और मोक्ष के मार्ग को अलग-अलग समझते हैं।

सांसारिक उपकार कराने में जिन-धर्म या आत्म-धर्म नहीं है।

ज्ञान, दर्शन चारित्र्य और तप के बिना मोक्ष का कोई उपकार नहीं है।^६

धर्म या अधर्म

ये दोनों क्रिया-काल में ही होते हैं, पहले-पीछे नहीं होते। अविरति

१. पाप धर्म री करणी छै न्यारी

—ब्रतावत चौपाई ११।३२

२. पाप कियां धर्म न नीपजै, धर्म थी पाप न होय।

एक करणी से दोय न नीपजै, संका म आणो कोय ॥

—निह्त्व चौपाई, ढाल २, दोहा ३

३. कहै दया अण नैं जीव मारिया, हुवै छै धर्म ने पाप।

—निह्त्व चौपाई, ढाल २, दोहा ३

४. एक करणी करै तेह में, नीपनों कहै छै धर्म ने पाप।

एहबी करै छै परूपणा, मिश्र दान री कीधी छै थाप ॥

—निह्त्व रास १४५

५. धर्म-अधर्म रा मार्ग दोय है, पिण तीजो पंथ न कोय।

—साधारें आचार री चौपाई ११।०५

६. संसार मोक्ष तणा उपगार, समदृष्टि हुवै ते न्यारा-न्यारा जाणै।

—अनुकम्पा चौपाई ११।५०

७. संसार तणा उपगार किया में, जिण धर्म रो अंश नहीं छै लिगार।

—अनुकम्पा चौपाई ११।३२

८. ज्ञान-दर्शन चारित्र्य तप बिना, मोक्ष तणो उपगार नहीं छै एक।

—अनुकम्पा चौपाई ११।५०

का सेवन करना, कराना, करने वाले का अनुमोदन करना—ये तीनों पाप हैं। भविष्य की विरति के लिए वर्तमान की अविरति का पोषण धर्म नहीं है।^१ विरति करना, कराना, करने वाले को भला समझना धर्म है।

लोगों ने कहा—‘भीखणजी मरते जीव को बचाने में इसलिए धर्म नहीं मानते कि वह आगे जो पाप करेगा उसका भागी बचाने वाला भी होगा।’ आचार्य भिक्षु ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा—‘यह मेरी मान्यता नहीं है। असंयम की क्रिया वर्तमान में जो लगती है, वह लग जाती है, बाद में नहीं। जो लोग उपवास करने वाले को इसलिए जिमाते हैं कि उसके व्रत का लाभ उनको भी मिलेगा, उन्हीं लोगों की यह मान्यता हो सकती है कि मौत से बचकर जो पाप करेगा, उसका भाग बचाने वाले को भी मिलेगा।

हिंसा से अहिंसा नहीं

हिंसा से अहिंसा नहीं की जा सकती। कषाय, भय, जबर्दस्ती और परिग्रह—ये स्वयं हिंसा हैं। इनसे अहिंसा नहीं होती। अहिंसा के साधन—अकषाय भाव, अभय, हृदय-परिवर्तन और अनासक्ति हैं।

आचार्य भिक्षु की मान्यता, जिसमें कुछ लोग निरालापन अनुभव करते हैं, संक्षेप में यही है।

१. आगे तो पाप धर्म करसी तिका हुसी। अबिरत पोषण वाला नैं उण बेलां हुबै तिकोइज खरो।

पुण्य : एक मीमांसा

आचार्य भिक्षु ने धर्म और पुण्य के विषय में जिस पक्ष की स्थापना की, उसे निम्न भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है—“जहां पुण्य-बन्ध है वहां निश्चित धर्म है और जहां धर्म है वहां पुण्य-बन्ध होता भी है और नहीं भी होता।” धर्म के दो प्रकार हैं—संवर और निर्जरा। संवर आस्रव का प्रतिपक्षी है। आस्रव से कर्म-परमाणुओं का स्वीकरण होता है और संवर से उनका निरोध होता है। संवर से पुण्य और पाप—दोनों वर्गों के परमाणुओं के स्वीकरण का निरोध होता है, इसलिए जहां संवर धर्म होता है वहां पुण्य का बन्ध नहीं होता।

निर्जरा के हेतु

निर्जरा-धर्म का हेतु शुभ योग है। पुण्य-बन्ध का हेतु शुभ योग आस्रव है। पुण्य का बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक होता है और निर्जरा चौदहवें गुण-स्थान तक होती है, इसलिए निर्जरा-धर्म के साथ पुण्य-बन्ध का नियत साहचर्य नहीं है, पुण्य-बन्ध के साथ निर्जरा का नियत साहचर्य है। प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा जा सकता है कि तेरहवें गुणस्थान तक निर्जरा के साथ पुण्य-बन्ध का नियत साहचर्य है। आचार्य भिक्षु के अनुसार पुण्य-बन्ध निर्जरा के साहचर्य के बिना नहीं होता। इसका अर्थ है—पुण्य की उत्पत्ति स्वतंत्र रूप से नहीं होती। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय ने पुण्य को विशोधि-मूल माना है, किन्तु पुण्य के साथ निर्जरा होने की स्पष्ट चर्चा उन्होंने नहीं की है। पुण्य का हेतु शुभ योग या शुभ उपयोग है। निर्जरा का हेतु भी शुभ योग है। आचार्य भिक्षु के मतानुसार ऐसा कोई शुभ योग नहीं है, जिससे निर्जरा न हो, केवल पुण्य का बन्ध हो।

आगम-सूत्रों में पुण्य-बन्ध के हेतु निषेधात्मक और विधेयात्मक—दोनों मिलते हैं। प्राणातिपात आदि अठारह पापों के विरमण से अकर्कश वेदनीय (पुण्य) का बन्ध होता है।

प्राणातिपात न करने और मृषा न बोलने से शुभ दीर्घायु कर्म का बन्ध होता है। यहां पुण्य-बन्ध का साहचर्य संवर के साथ प्रतिपादित है। संवर से पुण्य-बन्ध नहीं होता किन्तु प्राणातिपात नहीं करने के शुभ परिणामों में निर्जरा होती है और साथ-साथ पुण्य-बन्ध भी होता है।

पुण्य का स्वतंत्र बन्ध नहीं

संवर के साथ शुभ परिणामों का अस्तित्व असम्मत नहीं है। समवायांग में प्राणातिपात विरमण को निर्जरा-स्थान कहा है। उत्तराध्ययन में वंदना की क्रिया से नीचगोत्र कर्म का क्षय और उच्चगोत्र कर्म का बन्ध—दोनों एक साथ उल्लिखित हैं।

भगवती सूत्र में विधेयात्मक (प्राणियों की अनुकम्पा करने से) दोनों प्रवृत्तियों से सातवेदनीय (पुण्य) कर्म के बन्ध का उल्लेख मिलता है।

पुण्य-बन्ध के दोनों हेतुओं के मिलने पर भी ऐसा फलित नहीं होता कि अमुक प्रवृत्ति से केवल पुण्य-बंध होता है। कुछ जैन तत्त्ववेत्ता अनुकम्पा की प्रवृत्ति में धर्म नहीं मानते, केवल पुण्य मानते थे। आचार्य भिक्षु ने इस अभिमत को मान्य नहीं किया। उन्होंने कहा—अनुकम्पा की प्रवृत्ति में धर्म माने बिना पुण्य नहीं माना जा सकता।

धर्म और पुण्य की स्वीकृति

हम जो सुकृत करते हैं, उसके वाचक दो मुख्य शब्द हैं—धर्म और पुण्य। वैदिक साहित्य में धर्मन् या धर्म शब्द का प्रयोग विधान या प्रथा के अर्थ में हुआ है। पुण्य शब्द शुभ के अर्थ में प्रयुक्त है। पुण्यलोक का भी उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में धर्म और पुण्य एक अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। ये धर्म और पुण्य—दोनों कर्मात्मक हैं। कर्म बन्धनकारक हैं। मोक्ष बंधन का विच्छेद करने पर ही प्राप्त होता है।

मोक्ष पुरुषार्थ की स्थापना के पश्चात् धर्म जब समाज-व्यवस्था के धर्म से स्वतंत्र होकर उदय में आया तब धर्म और पुण्य की भिन्नता प्रस्थापित हुई। धर्म की स्वीकृति मुक्ति के हेतु के रूप में हुई और पुण्य की स्वीकृति बंध के रूप में हुई। इस प्रस्थापना के अनुसार उत्तरवर्ती साहित्य में धर्म का उल्लेख मुक्ति के साधक तत्त्व के रूप में और पुण्य का उल्लेख मुक्ति के बाधक तत्त्व के रूप में होने लगा। जैन आगमों के अनुसार पुण्य और पाप को क्षीण कर देने पर ही मुक्ति होती है।

सर्वसम्मत स्थापना

धर्म आत्मिक (चैतन्य-परिणति) है और पुण्य पौद्गलिक (पारमाणविक) है, इस सिद्धांत की स्थापना केवल जैन आगमों में मिलती है। अन्य धर्म-दर्शन उसे श्रेष्ठ कर्म व तज्जनित संस्कार के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु पुण्य बन्ध है, उसे क्षीण किए बिना मोक्ष नहीं होता, इस स्थापना में सभी दर्शन एकमत हैं। तंत्रशास्त्र में भी इस सिद्धांत की इसी रूप में स्वीकृति हुई है।

पुण्य को बन्ध के रूप में स्वीकृत किया गया है किन्तु उसका स्थान

सबकी दृष्टि में एक जैसा नहीं है। कुछ आचार्य उसे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं तो कुछ आचार्य उसे बहुत गौण स्थान देते हैं। गौण स्थान देने वालों की परम्परा आध्यात्मिक आचार्यों से प्रस्तुत हुई है।

पुण्य के विषय में तीन तथ्य विशेष अनुचिन्तनीय हैं—

- पुण्य की इच्छा से पाप का बन्ध।
- पुण्य की फल-परिणति का तारतम्य।
- पुण्य-बन्ध की कारण-सामग्री।

प्रथम तथ्य

आचार्य कुंदकुंद के अनुसार पुण्य की इच्छा वे करते हैं, जिन्हें परमार्थ की दृष्टि प्राप्त नहीं है और जिन्हें संसार तथा मोक्ष के हेतुओं का ज्ञान नहीं है।

स्वामी कार्तिकेय के अनुसार पुण्य की इच्छा करने से पुण्य का बन्ध नहीं होता किन्तु उसका बन्ध निरीह शुभ परिणाम से होता है। पुण्य की इच्छा पुण्य-बन्ध का हेतु नहीं है।

आचार्य भिक्षु के अनुसार पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है। उनका यह सिद्धांत इस तर्क पर आधारित है कि जो पुण्य की इच्छा करता है, वह काम-भोग की इच्छा करता है।

पुण्य अभिलषणीय नहीं है, इस विषय में प्रायः सभी आचार्य एकमत हैं। पुण्य का बन्ध चावल के साथ पलाल की भांति अनिहित होता है। आचार्य अमृतचंद्र ने पुण्य-बन्ध का एक विवशता, अनिवार्यता या अपराध के रूप में प्रतिपादन किया है।

द्वितीय तथ्य

स्थानांगसूत्र से यह फलित होता है कि सभी पुण्य परमाणुओं की फल-परिणति में तारतम्य होता है। एक प्रकार का पुण्य उदय में आने पर व्यक्ति को मूढ़ नहीं बनाता किन्तु धर्म की ओर प्रेरित करता है। दूसरे प्रकार का पुण्य उदय में आने पर व्यक्ति को मूढ़ बनाता है, वह व्यक्ति को भोग में लिप्त करता है।

प्रथम प्रकार के पुण्य को शुभानुबन्धी और दूसरे प्रकार के पुण्य को अशुभानुबन्धी कहा गया है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के मतानुसार पुण्य का फल कर्मोदय-जनित है इसलिए यह परमार्थ-दृष्टि से दुःख ही है।

योगीन्दु कहते हैं—मुझे पुण्य नहीं चाहिए। पुण्य की अनिच्छा के लिए उनका तर्क है—पुण्य से वैभव होता है, वैभव से मद, मद से मतिमोह, मतिमोह से पाप। पाप मुझे इष्ट नहीं है, इसलिए पुण्य भी मुझे इष्ट नहीं है। भरत और ब्रह्मदत्त—दोनों चक्रवर्ती थे। दोनों को चक्रवर्तित्व की

उपलब्धि पुण्य से हुई थी किन्तु उनके पुण्य-संवेदन में बहुत तारतम्य था। भरत संपदा के भोग में लिप्त नहीं थे। ब्रह्मदत्त उसमें लिप्त थे। पुण्य-परमाणुओं में यह तारतम्य उनके बन्धकाल में ही निहित हो जाता है।

कर्म : शुभ भी, अशुभ भी

आत्माभिमुख परिणाम या कषाय (आसक्ति) की मंदता में जो पुण्य-बन्ध होता है, उसके उदय-काल में भोगासक्ति प्रबल नहीं होती। बाह्याभिमुख परिणाम या कषाय (आसक्ति) में जो पुण्य-बन्ध होता है, उसके उदयकाल में भोगसक्ति प्रबल होती है।

कर्म-बन्ध का निमित्त योग है। वह एक समय में एक ही प्रकार का होता है शुभ या अशुभ, शुभाशुभ नहीं होता। इसलिए कर्म-बन्ध भी एक समय में शुभ या अशुभ होता है, शुभाशुभ नहीं होता।

द्रव्य-योग में मिश्रण हो सकता है किन्तु भाव-करण में मिश्रण नहीं होता।

ध्यान शुभ या अशुभ होता है। ध्यान-विरमण के पश्चात् लेश्या शुभ या अशुभ होती है अतः कर्म भी शुभ या अशुभ होता है।

दान : एक विश्लेषण

कर्म अपना किया हुआ होता है, परकृत या उभयकृत नहीं होता । कर्म का नाश भी अपना किया हुआ होता है, परकृत या उभयकृत नहीं होता ।

कर्म के दो रूप हैं—एक पुण्य, दूसरा पाप । कर्म विलय का रूप है—निर्जरा, जो धर्म है । पवित्र कायचेष्टा, वाणी और अन्तःकरण से पुण्य बंधता है और अपवित्र कायचेष्टा, वाणी और अन्तःकरण से पाप । पुण्य-बंध का कारण उक्त तीन कारणों के अतिरिक्त और कोई नहीं है । पाप-बंध के कारण उक्त कारणों के सिवाय चार और हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय ।

विवाद का विषय

पुण्य-पाप की कारण-सामग्री पर विवाद नहीं है । विवाद का विषय है—पवित्र-अपवित्र की चर्चा ।

पवित्र-अपवित्र की मान्यता ऐकान्तिक नहीं हो सकती । वह सापेक्ष है । एक दृष्टि से वह वृत्ति पवित्र होती है, दूसरी दृष्टि से वह अपवित्र । इसलिए एक ही दृष्टि से किसी भी वृत्ति को पवित्र या अपवित्र नहीं कहा जा सकता । विवाह का संकल्प गृहस्थाश्रम की दृष्टि से पवित्र है किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम की दृष्टि से वह पवित्र नहीं है । विवाह को अपवित्र कहना गृहस्थाश्रम के बंधे हुए संस्कारों में उभार लाना है और उसे समग्र दृष्टि से पवित्र कहना ब्रह्मचर्य की निष्ठा को तोड़ने जैसा है । इसलिए एकांतवादी विचार का समाधान उनकी अपनी मर्यादा में ही ढूंढना चाहिए । विवाह अपनी मर्यादा में, अपने आश्रम की दृष्टि से पवित्र है—यह विवाद का विषय नहीं बनता किन्तु इससे आगे बढ़ते ही संघर्ष का सूत्रपात हो सकता है । मर्यादा-भेद या भूमिका-भेद को समझे बिना उससे टलने का कोई रास्ता ही नहीं दिखता ।

वृत्ति के दो रूप

वृत्ति का पहला रूप ज्ञान है । वह न पवित्र होता है और न अपवित्र । वह ज्ञानावरण का विलयभाव है । उससे कर्म का बन्ध या विलय कुछ भी नहीं होता । जब वही ज्ञान संस्कारों से भावित होकर वृत्ति या भावना बनता है तब उसके पवित्र और अपवित्र—ये दो रूप बन जाते हैं ।

इसलिए भावना या अन्तःकरण के पवित्र या अपवित्र कहने या मानने से पहले उसके पवित्र और अपवित्र होने के हेतु को ढूँढ निकालना चाहिए। हेतु की छानबीन में अगर हमने एकान्त-दृष्टि का आश्रय लिया तो निर्णय सही नहीं आएगा। विचार के विषय की मर्यादा को सापेक्ष-दृष्टि से ध्यान में रखकर ही उसे ढूँढना चाहिए।

निमित्त बनता है दूसरा

दूसरा व्यक्ति और वस्तु किसी तीसरे की वृत्ति को अपवित्र या पवित्र नहीं बनाते, वे केवल निमित्त बन सकते हैं। अपवित्रता और पवित्रता अपने ही अर्जित संस्कारों के परिणाम हैं और उन्हीं से कर्म-बंधन होता है। यह सच सोलह आना सही है। किन्तु किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ यदि हमारी क्रिया या भावना का धागा जुड़ता है तो वह किस रूप में और किस संस्कार से भावित होकर जुड़ता है, यह विचारणीय है। कार्य का मूल्यांकन इसी आधार पर होता है।

विविध कल्पनाएं

- पवित्र भावना से पुत्र का मांस खाने वाला निर्दोष है—एक ऐसा अभिमत है।
- दुःखमोचन के लिए छटपटाते प्राणी को करुणाद्रि होकर मार डालने की भावना भी पवित्र मानी जाती रही है।
- अनासक्त-भाव से केवल प्रजा की उत्पत्ति के लिए अब्रह्मचर्य-सेवन भी बहुतेरों द्वारा पवित्र माना जाता है।
- आततायी को मारने में कोई दोष नहीं—यह मान्यता भी नई नहीं है।

इस प्रकार पवित्रता की विविध कल्पनाएं हैं। अपवित्रता के पीछे भी कल्पनाओं का ऐसा ही जाल गूँथा हुआ है। अगर हम वृत्ति को ही एकमात्र स्थान दें और उसके वर्तन के आधारभूत वस्तु और व्यक्ति को भुला बैठें तो वह घोर ऐकान्तिकता होगी।

अविरति का प्रश्न

रोटी एक वस्तु है। वह परिग्रह नहीं है और न वह किसी का भला-बुरा करने वाली है किन्तु व्यक्ति की वृत्ति से जुड़कर वह भी परिग्रह बन जाती है। स्थूल-दृष्टि से यही कहा जाएगा कि रोटी जीवन-निर्वाह की अनिवार्य अपेक्षा है। वह परिग्रह क्यों? उस पर क्या ममत्व होगा? किन्तु सूक्ष्म विचार की बात कुछ और ही होगी। रोटी खाने के स्थूल संस्कार जीवन-निर्वाह के हो सकते हैं पर संस्कारों की शृंखला इतने में समाप्त नहीं होती। रोटी रखने और खाने की पृष्ठभूमि में अविरति और असंयम

के अनेक सूक्ष्म संस्कार छिपे हुए होते हैं। वे वृत्तियों को वस्तु-ग्रहण के लिए उत्तेजित किए रहते हैं। इसलिए अविरति की स्थिति में खान-पान और अविरतिमय आदान-प्रदान ममत्त्व के सूक्ष्म संस्कारों के पोषाक ही रहते हैं, निवर्तक नहीं। सर्व-विरति व्यक्ति विधिपूर्वक भोजन कर सात-आठ कर्मों की निर्जरा करता है। अविरति व्यक्ति का भोजन कर्म-बन्ध का हेतु है।

धर्म है त्याग

परिग्रही का परिग्रह परिग्रही के पास जाता है। जिसके पास है, उसका नहीं वाले के पास जाता है या जिसके पास अधिक है उसका कम वाले के पास जाता है। इससे सामाजिक आवश्यकता की आंशिक पूर्ति अवश्य हो जाती है किन्तु दाता की वृत्ति अपरिग्रह की नहीं होती। परिग्रह का स्थानांतर अपरिग्रह नहीं होता। परिग्रह रखना जैसे धर्म नहीं है, वैसे ही परिग्रह रखना और रखने को अच्छा जानना भी धर्म नहीं है। जैन धर्म अविरति और विरति को तीन करण, तीन योग से मानता है। परिग्रह से जो अपना संघम है, परिग्रह करने की वृत्ति का जो त्याग है, वह धर्म है अथवा परिग्रह की कारा से मुक्त होने की जो वृत्ति है, वह धर्म है।

धर्म-दान का स्वरूप

संयमी को ज्यों-त्यों देना ही धर्म है—यह मान्यता भ्रामक है। उसे शुद्ध आहार एषणापूर्वक शुद्ध वृत्ति से दिया जाए, वही धर्म है, शेष नहीं। जैन आगमों की दृष्टि से धर्म-दान का स्वरूप यह होगा—

व्यक्ति—संयमी

वस्तु—शुद्ध

वृत्ति—शुद्ध

व्यक्ति—संयमी

वस्तु—अशुद्ध—आघ्राकर्म

वृत्ति—अशुद्ध—नागश्री जैसी

परिणाम—धर्म

परिणाम—अधर्म

जहां वस्तु अशुद्ध है वहां वृत्ति शुद्ध नहीं हो सकती। इसका तात्पर्य है—अशुद्ध वस्तु देने की वृत्ति शुद्ध नहीं होती।

निर्णय का आधार

एक विद्यार्थी साधु को पोषक खाद्य नहीं मिल रहा है। साधु के पढ़ने में खलल न हो, यह सोचकर कोई व्यक्ति पोषक भोजन बना उसे देता है और वह उस वृत्ति को पवित्र मानता है। किन्तु अहिंसा की दृष्टि से सोचने वाले उसे मोह कहेंगे। आघ्राकर्म आहार साधु के लिए अग्राह्य है। इसलिए वैसा आहार देने का संकल्प पवित्र होगा या मोह—यह समझना कठिन है। अगर वृत्ति के साथ जुड़ी हुई वस्तु का कोई महत्त्व नहीं होता तो

मुनि प्रासुक और एषणीय आहार ले, अप्रासुक और अनेषणीय न ले, ऐसी व्यवस्थाएं भगवान् महावीर क्यों करते ? संयमी अशुद्ध और अनेषणीय आहार लेता है तो उसका लेना धर्म नहीं होता । नागश्री ने धर्मघोष मुनि को अकल्प आहार दिया और हिंसापूर्ण वृत्ति से दिया इसलिए वह दान-धर्म नहीं हुआ । रेवती ने भगवान् महावीर की रोग-दशा से द्रवित होकर कुष्मांडपाक बना डाला । स्थूलदृष्टि से इसमें उसकी कोई दुर्भावना नहीं जान पड़ती । भगवान् उसकी स्थूलवृत्ति के पीछे रहे हुए मोह को जानते थे इसलिए उन्होंने वह नहीं लिया । भावना के शुद्ध या अशुद्ध होने का निर्णय स्थूलवृत्ति के आधार पर नहीं दिया जा सकता, उसके लिए सूक्ष्म संस्कारों की तहों में पहुंचना होता है ।

मोक्ष की साधना के लिए पहाड़ से गिरकर मरने वाले की भावना क्या खराब है ? उसका वैसा ही विश्वास है, और भी इस कोटि के बहुत सारे अकाममरण हैं । बहुत सारे आदमी मोक्ष मिल जाए—इस भावना से अज्ञान कण्ट सहते हैं । आखिर सूक्ष्म संस्कारों को पकड़े बिना स्थूल विचार के आधार पर शुद्ध या अशुद्ध भावना की कोई परिभाषा ही नहीं बनती ।

अविरति और विरति की भेदरेखा

जैन आगमों के अनुसार कहा जा सकता है—अविरति-जनित संस्कार और उन संस्कारों द्वारा उत्पन्न होने वाली भावना या वृत्ति आत्म-मुक्ति की दृष्टि से शुद्ध नहीं हो सकती ।

सर्वविरति जब सुप्त और प्रमाद-दशापन्न होते हैं तभी उनके शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—ये पांच जागृत होते हैं, कर्म-बन्ध के कारण बनते हैं । जब वे जागृत होते हैं तब उनके ये पांचों सोए हुए रहते हैं, कर्म-बन्ध के कारण नहीं बनते । असंयती मनुष्य के सुप्त और जागृत—दोनों दशाओं में शब्दादि पांचों विषय जागृत रहते हैं, कर्म-बन्ध के कारण बने रहते हैं ।

यह अविरति और विरति की भेद-रेखा है । इसे समझ लेने पर तेरापन्थ का समूचा दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है ।

जहां धर्म नहीं, वहां पुण्य नहीं

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—

आत्मवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम् ।

इतीयमाहंती दृष्टिः, सर्वमन्यत् प्रपंचनम् ॥

आचार्य भिक्षु की भावना को इन शब्दों में रखा जा सकता है—

अविरतिर्भवहेतुः स्याद्, विरतिर्माक्षकारणम् ।

इतीयमार्हती दृष्टिः, सर्वमन्यत् प्रपंचनम् ॥

असंयमी व्यक्ति के जीवन-निर्वाह से असंयम के सूक्ष्म संस्कार जुड़े होते हैं इसलिए वह धर्म नहीं माना जाना चाहिए। जहां धर्म नहीं वहां पुण्य नहीं बंधता। जब योग की प्रवृत्ति धर्ममय होती है तब योगजनित कर्म पुण्य-रूप बंधता है, शेष काल में नहीं। इसलिए असंयमी जीवन बनाये रखने की वृत्ति स्थूल रूप से करुणा की हो सकती है किन्तु वह धर्म या पुण्य का निमित्त नहीं बनती।

वस्तु, व्यक्ति और वृत्ति

वस्तु और व्यक्ति के साथ जिस रूप में हमारी वृत्ति जुड़ती है उसी रूप में उसके पीछे हमारे सूक्ष्म संस्कार सक्रिय रहते हैं इसीलिए प्रत्येक क्रिया के मूल्यांकन में वस्तु और वृत्ति के संबंध को भुलाया नहीं जा सकता। जो बात वस्तु के लिए है, वही व्यक्ति के लिए है। वस्तु जैसे धर्म-अधर्म नहीं होती वैसे ही व्यक्ति भी दूसरे के लिए धर्म-अधर्म नहीं होता। वस्तु के साथ जैसे धर्म-अधर्म के रूप में वृत्ति जुड़ती है वैसे ही व्यक्ति के साथ भी वह धर्म-अधर्म के रूप में जुड़ती है। वृत्ति सामने रहे व्यक्ति के अनुसार नहीं बनती, वह निजी संस्कारों के अनुसार बनती है। जिस व्यक्ति के प्रति मनुष्य के जैसे संस्कार होते हैं उसके प्रति वंसी ही वृत्ति बन जाती है। अपना साथी और भिखमंगा—दोनों एक ही बीमारी के शिकार हैं। साथी को देखकर संवेदना की वृत्ति बनेगी और भिखमंगे को देखकर करुणा की। साथी के प्रति समानता के संस्कार बंधे हुए होते हैं और भिखमंगे के प्रति दीनता के। वृत्ति के साथ-साथ व्यक्ति का महत्त्व नहीं होता तो अपने साथी और परिवार के प्रति होने वाली संवेदना धर्म या पुण्य नहीं मानी जाती और दीन-हीन के प्रति होने वाली करुणा धर्म या पुण्य मानी जाती है, यह भेद क्यों ?

निर्णय का मानदंड

वृत्ति या व्यक्ति में कोई लगाव न हो तो एक मां अपने बेटे को रोटी खिलाए, वह धर्म-पुण्य नहीं है और भिखमंगे को रोटी दे, वह धर्म-पुण्य है—इस भेद का कारण क्या ? अगर कहा जाए—बेटे के प्रति ममता की वृत्ति है और भिखमंगे के प्रति करुणा की, ममता पाप है और करुणा धर्म तो कहना होगा—बेटा भी भूखा है और भिखमंगा भी। स्थिति समान है, दोनों भूखे हैं। फिर क्या कारण है कि एक के प्रति करुणा नहीं और दूसरे के प्रति है ? समाधान यही आता है कि बेटे का रोटी में अधिकार है, भिखमंगे का उसमें अधिकार नहीं है। इसका अर्थ है—अधिकारवंचित व्यक्ति हीन होता है। हीन के प्रति करुणा की वृत्ति बनती है और वह धर्म-पुण्य

कमाने का साधन है। यह सारी कल्पना धार्मिक तो है ही नहीं, सामाजिक भी नहीं लगती। सामाजिक भाई के प्रति होने वाले हीनता के संस्कार और उनसे उत्पन्न होने वाली करुणा क्या असामाजिक तत्त्व नहीं है? समाज की दुर्व्यवस्था में ये संस्कार बने और आगे चलकर धर्म-कर्म के साथ जुड़ गए। आज दीन-हीन के प्रति करुणा लाकर धर्म-पुण्य कमाने की भावना चल रही है। यह एक विडम्बना है। तत्त्वतः व्यक्ति के साथ जुड़ने पर हमारी वृत्ति का स्वरूप वैसा ही बनता है जैसा कि वह व्यक्ति है। वृत्ति से जुड़े हुए व्यक्ति को छोड़कर कोरी वृत्ति का मूल्य नहीं आंका जा सकता। अगर ऐसा होता तो चेतन-अचेतन, पशु-पक्षी सभी को पवित्र वृत्ति से नमस्कार करने में धर्म होता। विनयवाद का ऐसा अभिप्राय हो भी सकता है किन्तु व्यक्ति के गुणावगुण पर नमस्कार की अर्हता मानने वालों के द्वारा ऐसा नहीं माना जाता। इसलिए वस्तु, व्यक्ति और वृत्ति के समन्वित रूप को छोड़कर किसी एक को ही शुद्धि-अशुद्धि के निर्णय का मानदण्ड नहीं माना जा सकता।

निर्जरा और उद्देश्य

आचार्य भिक्षु का सिद्धांत है—अनाज के पीछे तूड़ी—भूसा सहज होता है। उसके लिए अलग प्रयास जरूरी नहीं है।

संयम, व्रत या त्याग सिर्फ आत्म-आनंद के लिए ही होना चाहिए। लौकिक कामना के लिए चलने वाला व्रत सही फल नहीं लाता। उससे मोह बढ़ता है।

प्रश्न है उद्देश्य का

दिल्ली-चतुर्मास के समय कई राज्य-अधिकारी आचार्यश्री तुलसी के पास आए। उन्होंने खाद्य-समस्या की चर्चा करते हुए सप्ताह में एक दिन उपवास रखने के आंदोलन का जिक्र किया और आचार्यश्री से इसके लिए सहयोग चाहा। आचार्यश्री ने कहा—मैं उद्देश्य से सहमत नहीं हूँ। अन्न बचाने के लिए उपवास करने को मैं सही नहीं मानता। उपवास आत्म-शुद्धि के लिए होना चाहिए। अन्न तो अपने आप बचेगा। धर्माचार्य के उपदेश या प्रवृत्ति का स्तर मात्र आध्यात्मिक ही होता है और होना भी यही चाहिए।

मुख्य मुख्य रहे, गौण गौण

गौण फल के रूप में सामाजिक मूल्यों को बताया जाए, यह परिधि से परे नहीं है। उपवास करो, आत्म-शुद्धि के लिए, स्वास्थ्य भी सुधरेगा। दूसरों को न सताओगे तो दूसरा तुम्हें नहीं सताएगा, नहीं मारेगा, किंतु यह मुख्य नहीं है। मुख्य यह है कि तुम्हारी आत्मा न गिरे इसलिए मत सताओ, मत मारो। मुख्य मुख्य और गौण गौण रहे, तब सूई ठीक धूमेगी। जहाँ गौण मुख्य का स्थान ले ले, वहाँ गड़बड़ी हो जाती है।

धर्म से अभ्युदय होता है—इसका अर्थ यह नहीं है कि उससे धन, वैभव या विलास मिलता है। धर्म से समाज का सुधार होता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि रोटी, मकान या कपड़ा मिलता है, बांध, रेलें या सड़कें बनती हैं या गली, कूचों, सड़कों की सफाई होती है। प्रत्यक्ष रूप में धर्म से समाज का भौतिक उदय होता ही नहीं है, वह परोक्ष रूप में होता है। धर्म के साथ पुण्य बंधता है, धर्म से आत्म-शुद्धि होती है और पुण्य से भौतिक सुख-सुविधाएं मिलती हैं। धर्म का फल आत्म-शुद्धि है। भोग-सामग्री पुण्य का फल है। वह

धर्म के साथ-साथ आता है इसलिए उसे धर्म का फल कह दिया जाता है। पर वास्तव में वैसा होता नहीं। परोक्ष रूप में जो होता है, उसके लिए कहा जा सकता है—‘धर्म से समाज का अभ्युदय होता है पर वह उसका साध्य नहीं है।’ धर्म का लक्ष्य भौतिक सुख-प्राप्ति नहीं, आत्म-विकास है। भौतिक सुख आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह न तो धर्म है और न ही धर्म का साध्य। इसलिए उसकी सिद्धि के लिए धर्म करना उद्देश्य के प्रतिकूल हो जाता है।’

ऐहिक सुख-सुविधा के लिए त्याग या संयम करना सम्यग्-दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि—सबके लिए अनुचित है। आत्म-संयम के लिए कोई भी करे, वह आदेय है।

विनोबा का कथन

आचार्य विनोबा भावे लिखते हैं—‘कुछ लोग संयम से संतति-नियमन करो, ऐसा प्रतिपादन करते हैं लेकिन यह ठीक नहीं है। संयम का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। संतति कम करने के लिए संयम को मत खपाइए। संयम से आनंद मिलता है इसलिए संयमी होने के लिए लोगों को कहिए। उसके लिए भौतिक नफा-नुकसान न सिखाइए। साक्षात् ब्रह्म के लिए जो ब्रह्मचारी रहेगा, वही आदर्श होगा, उसी को ब्रह्मचारी कहा जा सकता है। जो लोग देश के लिए ब्रह्मचारी रहते हैं, उनके व्रत को ब्रह्मचर्य नहीं, तद्देशचर्य कहना चाहिए। आज कुछ लोगों में देशचर्य या स्वराज्यचर्य चलता है और वे उसे बहुत अच्छी तरह से निभाते भी हैं परन्तु फिर भी उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहा जा सकता।’ (जैन भारती १२-३-५३)

आचार्य विनोबा के ये विचार हमें स्वामीजी के उस विचार—‘लाडू के लिए उपवास या पौषधव्रत करना सच्चा उपवास या पौषधव्रत नहीं है—की याद दिलाते हैं। पुण्य की कामना लौकिक-उदय की कामना है। स्वामीजी ने यहां तक लिखा—पुण्य की इच्छा करने का अर्थ है पाप से बंधना।

तपस्या का लक्ष्य

इस प्रसंग में एक बात और मननीय है। इच्छा-प्रेरित तपस्या नहीं होनी चाहिए। वह व्यक्ति को सही दिशा में नहीं ले जाती। यदि कोई व्यक्ति ऐहिक इच्छा से प्रेरित होकर तपस्या करता है तो वह तपस्या बुरी नहीं है। बुरा है उसका लक्ष्य। लक्ष्य के संहर्ष से तपस्या भी बुरी मानी जाती है किन्तु दोनों को अलग करें तब यह निष्कर्ष होगा कि लक्ष्य बुरा है और तपस्या अच्छी है।

ऐहिक लक्ष्य से तपस्या करने की आज्ञा नहीं है। इसमें दो बातें हैं—

तपस्या का लक्ष्य और तपस्या की करणी । तपस्या करने की सदा आज्ञा है । हिंसा रहित निरवद्य तपस्या कभी आज्ञा-बाह्य धर्म नहीं है । तपस्या का लक्ष्य जो ऐहिक है, उसकी आज्ञा नहीं है । निषेध लक्ष्य का है, तपस्या का नहीं । तपस्या का लक्ष्य जब ऐहिक होता है, तब वह आज्ञा में नहीं होता, धर्ममय नहीं होता किन्तु करणी आज्ञा-बाह्य नहीं होती ।

अकाम निर्जरा : सकाम निर्जरा

आचार्य भिक्षु ने इस कोटि की करणी को जिन-आज्ञा में माना है । यदि यह जिन-आज्ञा में नहीं होती तो इसे अकाम निर्जरा नहीं कहा जाता । उन्होंने नवसद्भाव पदार्थ में इसे अकाम निर्जरा माना है—

इहलोक अर्थे तप करे, चक्रवर्त्यादिक पदवी काम ।

केइ परलोक अर्थे तप करे, नहि निर्जरा तणा परिणाम ॥

केइ यश महिमा बधारवा, तप करे छे ताम ।

इत्यादि अनेक कारण करे, ते निर्जरा कही अकाम ॥

जो अकाम निर्जरा है, वह सावद्यकरणी नहीं है और जो सावद्यकरणी नहीं है, वह जिन-आज्ञा-बाह्य नहीं है । आचार्य भिक्षु के शब्दों में सावद्यकरणी ही जिनाज्ञा बाहर होती है—

सावद्यकरणी जिनआज्ञा बाहर (१-१४)

निरवद्यकरणी जिनआज्ञा सहित छे (१-१५)

—(मिथ्यात्वकरणी निर्णय)

तत्त्व-विवेचन के संदर्भ में लक्ष्य और करणी को सर्वथा एक समझना युक्ति संगत नहीं है ।

प्रश्न है आराधना का

ऐहिक सुख-सुविधा व कामना के लिए तप तपने वालों को, मिथ्यात्व दशा में तप तपने वालों को, परलोक का अनाराधक कहा जाता है । वह पूर्ण आराधना की दृष्टि से कहा जाता है । वे अंशतः परलोक के आराधक होते हैं । जैसे उनका ऐहिक लक्ष्य और मिथ्यात्व विराधना की कोटि में जाते हैं वैसे उनकी तपस्या विराधना की कोटि में नहीं जाती । इस संदर्भ में कुछ प्रश्नों की चर्चा अपेक्षित है—

• अभव्य आत्म-कल्याण के लिए करणी नहीं करता सिर्फ बाह्य-दृष्टि—पूजा-प्रतिष्ठा, पीद्गलिक सुख की दृष्टि से करता है । क्या ऐसी क्रिया निर्जरा है ?

अकाम निर्जरा है । निर्जरा के बिना क्षायोपशमिक भाव यानी आत्मिक उज्ज्वलता नहीं होती । अभव्य के भी आत्मिक उज्ज्वलता होती है । निर्जरा के बिना पुण्य-बन्ध नहीं होता । पुण्य-बन्ध निर्जरा के साथ होता है ।

यह आचार्य भिक्षु का ध्रुव सिद्धांत है। अभव्य के निर्जरा-धर्म और पुण्य-बंध—दोनों होते हैं। निर्जरा से वह अंश रूप में उज्ज्वल होता है। पुण्य-बंध से सद्गति में जाता है।

० क्या जैनेतर व्यक्ति जो कुछ त्याग-तपस्या करते हैं, वह सब इह-लोक और परलोक के लिए ही नहीं करते ?

नहीं, यह मानना सही नहीं है। उनमें भी वैराग्य होता है। वे आत्म-कल्याण के लिए भी करते हैं। प्रश्न यह भी है—क्या कोई जैन ऐहिक दृष्टि से तपस्या नहीं करता ? जैनेतर व्यक्ति में भी त्याग और वैराग्य हो सकता है।

० क्या इहलोक की दृष्टि से तपस्या करना अशुद्ध नहीं है ?

वह लक्ष्य की दृष्टि से अशुद्ध है किन्तु करणी की दृष्टि से अशुद्ध नहीं है।

० क्या सबकी तपस्या भगवान की आज्ञा में है ?

हां ! यदि ऐसा नहीं होता तो बाल तपस्वी देवलोक में कैसे जाता ? आज्ञा-बाह्य क्रिया करने से न निर्जरा होती है और न पुण्य-बंध। भगवती सूत्र में देवगति के चार कारण बतलाए गए हैं—सराग साधुपन, श्रावकपन, बाल तपस्या और अकाम निर्जरा। बाल-तप का अर्थ है मिथ्यादृष्टि का तप। यदि बाल-तप भगवान् की आज्ञा में नहीं होता तो अवश्य ही वह पाप की क्रिया होती। क्या पाप की क्रिया से देवगति मिलती है ? यदि यह कहा जाए—जो मिथ्यादृष्टि आत्म-कल्याण के लिए तपस्या करते हैं, उनकी तपस्या के लिए यह बात है। जो ऐहिक दृष्टि से तप तपते हैं उनके लिए नहीं है। यह अधूरी बात है, क्योंकि 'अकाम-निर्जरा' देवगति का कारण है और आचार्य भिक्षु ने ऐहिक लक्ष्य से की जाने वाली तपस्या को अकाम-निर्जरा माना है इसलिए कहना होगा—लक्ष्य आज्ञा में न होने पर भी ऐसी तपस्या आज्ञा में है।

० क्या सावद्य ध्येय से की जाने वाली प्रवृत्ति सावद्य नहीं हो जाती ?

यदि ऐसा कहा जाएगा तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि निरवद्य ध्येय से की जाने वाली प्रवृत्ति भी निरवद्य हो जाती है।

० क्या देवता की आराधना के लिए, रुपए, पैसे, मकान आदि के लिए तपस्या करना सावद्य नहीं है ?

तप बुरा नहीं है, बुरी है इहलोक-परलोक की बांछा। तप आज्ञा में है। पौद्गलिक बांछा आज्ञा में नहीं है। ऐहिक उद्देश्य से की गई तपस्या को हेतु की दृष्टि से निस्सार माना गया है, स्वरूप की दृष्टि से नहीं। देवता की आराधना के लिए तपस्या करना, रुपए-पैसे आदि के लिए तपस्या करना

उद्देश्य की दृष्टि से गलत है। इनके कारण तपस्या की परम्परा लक्ष्य से दूर चली जाती है इसलिए इन पर प्रहार करना आवश्यक होता है। किन्तु जहाँ स्वरूप की सीमांसा का प्रसंग है वहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि इस कोटि की तपस्या से थोड़ी बहुत भी निर्जरा और पुण्य-बन्ध नहीं होता, ऐसा नहीं है।

पाछे तो वो करसी सो उण ने होय ।

पिण लाडू खवायां धर्म नहीं कोय ॥

[(बारह व्रत चौपाई : ढाल ७)]

सर्वश्रेष्ठ तपस्या वही है, जो आत्मशुद्धि के लिए की जाती है। वह सकाम निर्जरा है। बिना उद्देश्य किसी सहजभाव से भूख-प्यास आदि सहन करने से होने वाली तपस्या अकाम-निर्जरा है। यह उससे कम आत्म-शोधन-कारक है।

वरुण नागनतुआ के मित्र ने वरुण नागनतुआ का अनुसरण किया (भगवती ७-९)। यह अज्ञानपूर्वक तप है अतः अल्प-निर्जराकारक है। किन्तु पिछले दोनों प्रकारों के तप अकाम निर्जरा के होते हुए भी विकृत नहीं हैं। वह अल्पनिर्जराकारक होने के साथ-साथ स्वार्थपूर्ति की भावना होने के कारण शुद्ध रूप की अपेक्षा विकृत भी है इसलिए ऐहिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तपस्या नहीं करनी चाहिए किन्तु कोई कर ले तो वह तपस्या सावद्य होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

० आचार्य भीखणजी ने लाडू आदि के लिए सामायिक, पौषध आदि करने में धर्म नहीं है, ऐसा क्यों कहा ?

विनय अधिकार, भगवती की जोड़, अनुकंपा आदि के प्रकरण पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि देवता का विनय, देवता के सहाय की वांछा, लाडू खिला तपस्या कराना धर्म की मान्यता से विपरीत है। लाडू खिलाना, धर्मार्थ लाडू खाना आदि प्रवृत्तियों को सावद्य कहा गया है। वहाँ प्रधानता खंडन की नहीं किन्तु उक्त प्रवृत्तियों के खंडन की है।

व्यक्तित्व

सिंह-पुरुष आचार्य भिक्षु

अहिंसा आत्मा को पखारती है, सच्चाई उसका तेज बढ़ाती है। जहां ये नहीं, वहां व्यक्तित्व ही नहीं; फिर धर्म तो दूर की बात है। जनकल्याण बाद में, पहले होना चाहिए अपना कल्याण—अपना शोधन, क्योंकि शोधक ही दूसरों को उबार सकता है।

आचार्य भिक्षु एक-एक धर्म को परखते हुए चले। वर्षों की परख और साधना के बाद वे तेरापंथ के अधिनायक के रूप में धर्मक्षेत्र में चमके। वे आघात-प्रत्याघात के भंवरो में रुके बिना अव्याहत गति से बढ़ते चले गए।

वे वैद्य बने, उन्होंने साधु-समुदाय की नाड़ी पहचानी। अनाचार की घुरी तोड़ने के लिए उनका दिल क्रांति से उद्वेलित हो उठा।

विद्रोह के स्वर

वे विद्रोह के स्वर में बोले और युग की तहों में छिपी बुराई बाहर आ पड़ी। मत बांधने की वृत्ति से वे सदा खिसियाए रहे। शिष्यों की जागीरदारी प्रथा को तोड़ने के लिए उन्होंने आग उगली। धन और घर बांधकर बैठने वाले साधुओं पर तीखे बाण फेंके। आपस में झगड़ने वाले साधुओं की ठग वृत्ति की जड़ काटते रहे। खान-पान के लालची और ऐशो-आराम में फंसे साधुओं की कमजोरियों पर उनकी लोह-लेखनी ने निराले ढंग का प्रहार किया। उनकी दो रचनाएं—‘साधां रै आचार री चौपाई’ और ‘श्रद्धा री चौपाई’—पढ़ेंगे तो उनकी क्रांति की चिनगारियां आचार-शैथिल्य को धुआं करती नजर आएंगी। हम सहमेंगे कटु पदावली पर, कटु शब्दों पर और चुभने वाली गाथाओं पर। ये रचनाएं आचार्य हरिभद्र के युग की और उनकी क्रांत-कृति ‘संबोध प्रकरण’ की सहसा स्मृति ला देती हैं। चैत्यवासियों की आचार-ढिलाई पर उन्होंने जो रुख लिया, उससे हजार गुना कठोर रुख आचार्य भिक्षु ने अपनाया।

शान्तदर्शी

आचार्य भिक्षु जितने उग्र थे, उससे भी कहीं अधिक शांतदर्शी थे। उनकी वीतराग की-सी क्षमा पत्थर-दिल को भी पिघला देने वाली थी। बुराई के साथ वे जीवन भर झूझते रहे पर व्यक्ति का प्रेम उन्होंने कभी नहीं खोया। विचार-प्रतिद्वन्द्वियों के साथ भी उनका स्नेहभरा व्यवहार सदा बना

रहा। उन्होंने अपने अनशन-काल में विचार-भेद रखने वालों से क्षमा मांगी। जान या अनजान में किए कटु-व्यवहारों की आलोचना की तब विरोधी कहलाने वालों की आंखें भी डबडबा आईं।

उनके हृदय में प्राणीमात्र के प्रति समता तथा ममता का भाव था। बड़ों के लिए छोटों की हिंसा को धर्म मानने के लिए वे कभी तैयार नहीं हुए। उनके मस्तिष्क में दान और दया की मर्यादा का पूरा विवेक था। लोग उनके सिद्धांतों की तोड़-मरोड़ करते रहे। चूहे-बिल्ली जैसी भ्रामक आपत्तियां उठाईं, धर्मसंकट के प्रश्नों द्वारा जनता को उत्तेजित किया गया, फिर भी वे अपने विश्वास पर अटल रहे। शांत-भाव से जनता को तथ्य बताते रहे।

कुशल योद्धा

उनके अहिंसा, दान और दया संबंधी दृष्टिकोण लोक-धारणा से भिन्न थे। आचार्य भिक्षु ने कहा—अध्यात्म दया वह है, जिसमें राग, द्वेष, मोह आदि न हों और ऐसा ही दान आत्म-कल्याण का हेतु है, जो संयम का आलंबन बने। धर्म का स्वरूप आत्म-संयम और आत्म-संतुष्टि है। भौतिक संतुष्टि और भौतिक संरक्षण अध्यात्म-धर्म नहीं है।

एक ओर वे आचार-शिथिल साधु-संतों की सामान्तशाही को चुनौती दे रहे थे तो दूसरी ओर ऐसे विचारों को फैला रहे थे, जो लोकमानस के अनुकूल नहीं थे इसलिए उन्हें संघर्षों की बाढ़ को चीरकर चलना पड़ा। उनमें शांति और क्रांति का अपूर्व संगम था इसलिए वे कुछ सहते और कुछ कहते चलते रहे। वे कुशल योद्धा थे। वे अपने आप से भी लड़ना जानते थे।

उनकी कठोर तपस्या और कठोर चर्या ने एक प्रकाश की किरण फेंकी। वातावरण बदल गया। उनके विचार भी लोकमानस को खींचने लगे।

तेरापन्थ का नामकरण

वे साधक थे। साधना के लिए वे चले। संप्रदाय चलाने और मत बांधने की लालसा उन्हें छू तक नहीं गई थी। वे जब स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्यश्री रुघनाथजी से अलग हुए तब संप्रदाय चलाने के लिए अलग नहीं हुए किंतु भगवान् महावीर की वाणी के अनुसार चलने के लिए अलग हुए। महापुरुष चले, वही मार्ग बन जाए, यह एक बात है और मार्ग चलाने के लिए चले, यह दूसरी बात है। वे चले और मार्ग बन गया।

उनके साधन अपने-आप जुटे। उन्होंने जुटाए नहीं। उनका मार्ग तेरापन्थ कहलाया। वे भीखणजी नाम से पहचाने जाते रहे। जोधपुर के एक

सेवक-कवि ने इस गण को 'तेरापंथ' की संज्ञा दी। उसने तेरह की संख्या को लेकर यह नाम पुकारा। नाम चल पड़ा। आचार्य भिक्षु मेवाड़ में थे, उन्हें इसका पता चला। वे संख्या में कोई तत्त्व नहीं देखते थे। उन्होंने कहा—'प्रभो ! यह तेरापंथ है। मैं भी इसका एक पथिक हूँ।' इस प्रकार आचार्य भिक्षु के संघ का नामकरण हो गया। पहले के भीखणजी अब तेरापंथी भीखणजी कहलाने लगे। शिष्य-समुदाय बढ़ने लगा। साधु बने, साध्वियां बनीं, श्रावक-श्राविकाएं बनीं। वे अपनी गति से चलते गए। कठोर अनुशासन और मजबूत संगठन के लिए वे अपने ढंग के अकेले ही थे। उनकी दिव्य-दृष्टि और शुद्ध नीति से संघ की आत्मा बलवान् बन गई।

नया विधान

सोलह वर्ष की अनुभव-परीक्षा के बाद उन्होंने भारमलजी को अपना उत्तराधिकारी चुना। तब संघ का एक विधान भी लिखा गया। साधुओं का दिल लिया और बदले में ये नियम दिए—

साधु-साध्वियां एक आचार्य के नेतृत्व में रहे।

शिष्य सब एक आचार्य के हों।

दीक्षा आचार्य के नाम से दी जाए।

विहार, चातुर्मास, धर्म प्रचार आदि आचार्य के आदेशानुसार किया जाए।

भावी आचार्य का निर्वाचन पूर्वाचार्य करे।

पुस्तकें संघपति की नेत्राय (अधिकार) में रहे, इत्यादि।

उनके समसामयिक साधुओं ने भी ऐसा ही चाहा और इस नियम-वली को सहर्ष अंगीकार कर लिया।

साधु-संघ को आचार-कुशल रखने के लिए और शिष्य-लोलुपता को अपनी मौत मरने देने के लिए ऐसा विधान जरूरी था।

विधान की पृष्ठभूमि

विधान की पृष्ठभूमि में उन्होंने अनुशासन का वातावरण बनाया। वे कवि बनकर साधुओं के दिल तक पहुंचे और शासक बनकर दिमाग में घुसे। उनकी शिक्षाएं और शासनाएं अमिट बन गईं। उन्होंने साधुओं और साध्वियों को संबोधित कर जो कहा, वह संघ के लिए वरदान बन गया—

नियम हृदय को साक्षी बनाकर पालो।

संकीचवश कोई संघ में मत रहो।

स्वेच्छाचारिता मत रखो।

नियमानुवर्ती बनो।

जो कुछ मन में आए, वह आचार्य से कह दो।

आचार्य कहे, वह मानो—समझकर या श्रद्धा से ।
 आचार्य के कार्य-कलाप में हाथ मत डालो ।
 आपस में हेत रखो ।
 आचार से संबंध रखो, व्यक्ति से नहीं ।
 किसी में दोष देखो तो तत्काल उसे जता दो, गुरु को जता दो, दूसरों
 को मत कहो । दोष को मत छिपाओ और मत फैलाओ ।
 बड़ों का सम्मान करो ।
 छोटों के साथ मृदु व्यवहार करो ।
 दैनिक कार्यों को बांट लो—बारी-बारी से करो ।
 अपनी पांती का खाओ, पिओ, पहनो । पांती की जगह में बैठो,
 सोओ, अपनी पांती में संतोष मानो ।
 रोगी साधु-साध्वी की अग्लान और निस्वार्थ भाव से सेवा करो ।
 गण-गणी के संबंध को पुष्ट करो ।
 गण के हित को अपना हित और अहित को अपना अहित समझो ।
 गण के किसी भी अंग की उतरती बात मत करो ।
 दल-बन्दी मत करो ।
 यह गण सबका है । इसे अपना समझो और अपना-अपना दायित्व
 निभाओ ।

गुरु की दृष्टि देखकर चलो आदि-आदि ।

आचार्य-केन्द्रित व्यवस्था

आचार्य भिक्षु स्थितिपालक नहीं, सुधारक थे । उन्होंने परिवर्तन किए
 और ऐसे परिवर्तन किए, जिनके लिए इतिहास के पृष्ठ खाली पड़े थे ।
 भगवान् महावीर की शासन-व्यवस्था में सात पद परम्परा से चले आ रहे
 थे । उस समय वे पद आत्मसाधना के पोषक थे किन्तु आचार्य भिक्षु के समय
 उनकी पोषकता समाप्त हो चली थी । वे साधना पथ को कंटीला बना रहे
 थे । आचार्य भिक्षु ने सारी चेतना आचार्य को सौंप दी । सातों ही पदों का
 कार्य आचार्य में केन्द्रित कर दिया ।

अपना-अपना चेला बनाने की जो प्रथा थी, उसकी जड़ ही काट दी ।
 जिस-तिस को मूंड चेला बनाने वालों की उन्होंने कटु आलोचना की—

चेला करण री चलगत ऊंधी, विकला नै मूंड किया भेला ।

उनके ये प्रसिद्ध पद्य आग्नेय-अस्त्र से कम नहीं हैं ।

प्रश्न संघ की स्थिरता का

वे मतवाद और बाड़ाबन्दी के घोर विरोधी थे । मतवाद चलाने के
 लिए जो चलते हैं, वे चेला-परम्परा को बढ़ाते हैं, साधना से परे होते हैं—

इस विचार को वे आत्मविश्वास के साथ प्रचारित करते रहे ।

आचार्य भिक्षु ने बाहर से संघ को बांधा और अन्तर में नीतिनिष्ठ बना उसे मुक्ति दी । एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा—‘प्रभो ! आपका यह संघ कब तक चलेगा ?’ आचार्य भिक्षु ने कहा—‘जब तक नीति विशुद्ध रहेगी और आचार कुशल रहेगा, तब तक संघ को आंच भी आने वाली नहीं है ।’

बल आचार-शुद्धि पर

वे शुद्ध विचार की आधार-शिला शुद्ध आचार को ही मानते थे और आचार बिना विचार कभी शुद्ध बन नहीं सकता । यही कारण है कि उन्होंने आचारशुद्धि पर अधिक बल दिया । उन्होंने जो विधान लिखा, उसका उद्देश्य बताया—‘चारित्र्य शुद्ध पले’ और ‘न्यायमार्ग चले’ इसलिए मैंने यह उपाय किया है ।

वे आदि से अन्त तक इस विचार के पोषक रहे—

कहो साधु किसका सगा, तड़कें तोड़ें नेह ।

आचारी स्यूं हिलमिलें, अणाचारी नैं छेह ॥

उन्होंने अपने जीवन-काल में १०५ शिष्य बनाए, जिनमें से ३७ शिष्य अलग भी हो गए, या कर दिए, फिर भी वे शिथिल मार्ग पर चलने को राजी नहीं हुए ।

सत्य-साधक

वे अभय थे । लोकैषणा उन्हें कभी विचलित नहीं कर सकी । सत्य की साधना में उनका जीवन बीता । उन्हें कटु-सत्य भी सुधा-घूंट की तरह पीना पड़ा किन्तु वे असत्य के लिए सत्य की बलि देने को तैयार नहीं हुए । भगवान् महावीर ने गोशालक पर मोहानुकंपा की । इसे वे धर्म कैसे मान सकते थे ? यह बड़ी समस्या थी क्योंकि भगवद्दृष्टि में वीतराग सब दोषों से परे होते हैं । साधना-काल में उनमें भी राग-द्वेष की परिणति होती है । किन्तु साधारण लोग अतिभक्तिवश ऐसा नहीं सुन सकते । यद्यपि आचार्य भिक्षु भगवान् महावीर के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थे किन्तु वे तत्त्व-विश्लेषण करने के लिए चले थे इसलिए उन्हें कटु-सत्य की कड़वी घूंट पीनी पड़ी । उन्होंने लिखा—

छैं लेश्या हुंती जद वीर में, हुंता आठूं ही कर्म ।

छयस्य चूषया तिण समं, कोई मूरख थापें धर्म ॥

इस पद्य को उनके शिष्य भारमलजी स्वामी ने देखा । उन्होंने आचार्य भिक्षु से कहा—गुरुदेव ! यह पद्य बहुत कटु है ।

आचार्य भिक्षु बोले—असत्य तो नहीं है ?

है तो सत्य ।

सत्य है तो रहने दो ।

लोगों में जो विरोध होता था वह तो हुआ ही, इसको लेकर आचार्य भिक्षु को भी बहुत कुछ सहना पड़ा ।

अहिंसा के भाष्यकार

लोगों ने आचार्य भिक्षु को इस रूप में पहचाना—‘दया के विरोधी’ ‘दान के विरोधी’ और ‘भगवान् महावीर को चूका बताने वाले ।’

यह उनकी सही पहचान है । उनकी पहचान के लिए हमें बहुत गहराई में उतरना होगा, उनका दृष्टिकोण समझना होगा । वे अहिंसा के बहुत बड़े भाष्यकार हुए हैं । उन्होंने जो दृष्टि दी है, उसे हम धर्म-संकट के प्रश्न खड़े कर टाल नहीं सकते । हम उनके द्वारा प्रतिपादित अहिंसा तत्त्व-दर्शन का मनन करें तभी हम उनके प्रति कृतज्ञ बन सकेंगे ।

हम आचार्य भिक्षु बनें

बर्नार्ड शा से किसी व्यक्ति ने कहा—आप महान् हैं, आपकी कृतियां महान् हैं। शा ने उत्तर दिया—‘पता नहीं कि मैं महान् हूँ। मैं अभी जीवित हूँ। महान् वह होता है, जिसकी कृतियां पांच सौ वर्ष बाद भी अमर रहती हैं। शेक्सपीयर महान् हैं। वे आज भी जीवित हैं अपनी कृतियों के माध्यम से। मर कर ही व्यक्ति महान् होता है। मरने के बाद ही व्यक्ति की महानता आंकी जाती है। मैं अभी जिन्दा हूँ। महान् नहीं हो सकता। मैं महान् तब बनूंगा जब मेरी कृतियां अमर बन जाएंगी।’

महान् हैं आचार्य भिक्षु

कोई भी व्यक्ति अपने जीवनकाल में महान् कहलाने का अधिकारी कम बनता है। मरने के बाद उसकी महानता आंकी जा सकती है। आचार्य भिक्षु को आज हम महान् कह सकते हैं। उन्हें हुए दो शताब्दियां बीत चुकी हैं। इन दो शताब्दियों ने उनकी महानता को सिद्ध कर दिया है और यह प्रमाणित कर दिया है कि उन्होंने जो कहा, वह आज भी उतना ही सत्य है, जितना उस समय था। दिल्ली में दिगम्बर परंपरा के विद्वान् संत उपाध्याय विद्यानन्दजी ने एक सभा में कहा था—‘आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ धर्म संघ को जो व्यवस्थाएं और मर्यादाएं दीं, उनकी आज भी वही उपयोगिता और प्रयोजनीयता है। इसलिए मैं मानता हूँ कि तेरापंथ संघ महान् है, उनके आचार्य भी महान् हैं।’

स्टेटिक नहीं, डाइनामिक

सौ वर्षों के बाद जो व्यक्ति पहचाना जाता है, वह कम-से-कम हजार वर्ष तक अवश्य ही जीवित रहता है। दो सौ वर्षों के बाद जो व्यक्ति पहचाना जाता है वह कम-से-कम दो हजार वर्षों तक जीवित रहेगा ही, इसमें कोई संदेह नहीं है। तेरापंथ धर्म संघ की कुंडली को देखकर ज्योतिषी कहते हैं—इसके ग्रहों के फलित के अनुसार यह संघ दो हजार वर्षों तक चलता रहेगा, कभी विच्छिन्न नहीं होगा। मुझे लगता है—जिस व्यक्ति ने शाश्वत को समझा है, वह दो हजार वर्ष क्या, बहुत आगे तक चलता रहेगा। जिसने शाश्वत के साथ अपना संबंध स्थापित कर लिया, किसी सामयिक सत्य के साथ समझौता नहीं किया, वह चलता ही रहेगा, बीच में विच्छिन्न नहीं होगा।

आचार्य भिक्षु ने सत्य को पकड़ा, शाश्वत को पकड़ा। उसे बुद्धि के बल पर पकड़ा। आचार्य भिक्षु बैठे सत्य को लेने वाले पुरुष नहीं थे। वे गतिशील तथ्य को ग्रहण करते थे। वे स्टैटिक नहीं, डाइनामिक थे।

परीक्षा का मूल्य

एक आदमी के पास गाय थी। वह उसे बेचना चाहता था। उसे लेकर वह एक मार्ग पर बैठ गया। एक पथिक उधर से गुजरा। उसकी नजर गाय पर पड़ी। वह गाय खरीदना चाहता था। उसने गाय खरीद ली। गाय बेचने वाला रुपये लेकर चला गया। गाय हूँट-पुँट थी। खरीददार का मन प्रसन्न था। उसने गाय को उठाया। वह उठ नहीं सकी। वह अपंग थी। खरीददार का मन उदास हो गया।

दूसरा राही आया। गाय को देख उसका मन ललचा गया। उसने पूछा—गाय बेचोगे? उसने कहा—हां बेचना चाहता हूं। राही ने कहा—मैं बैठी गाय को नहीं खरीदूंगा। तुम इसे चलाकर दिखाओ। गाय के मालिक ने कहा—यह नहीं होगा। मैंने भी बैठी गाय को ही खरीदा है इसलिए बैठी को ही बेचूंगा। राही ने कहा—तुम बेवकूफ हो सकते हो। मैं बेवकूफ नहीं बनूंगा। तुम्हें बेचना हो तो गाय को चलाकर दिखाओ।

सत्य : आगम का संदर्भ

आचार्य भिक्षु भी बैठे सत्य को लेने वाले नहीं थे। वे परीक्षित सत्य के ग्राहक थे। उन्होंने सत्य-परीक्षण में अपनी बुद्धि से काम लिया और सत्य का उद्घाटन किया। सत्य का जो पहलू नहीं जचा, उसे अस्वीकार कर दिया। उन्होंने इतना अस्वीकार किया है कि अस्वीकृतियों की एक लंबी सूची बन जाती है। नेति नेति—यह भी नहीं, यह भी नहीं—इन अस्वीकृतियों की लंबी श्रृंखला है उनके दर्शन में। उन्होंने यहां तक कह दिया—वे आगम भी मुझे मान्य नहीं हैं, जो वीतराग वाणी के विसंवादी हैं। केवल संवादी प्रकरण ही मुझे मान्य हैं। उन्होंने जो स्वीकार किया, वह भी बुद्धि के साथ और जो अस्वीकार किया, वह भी बुद्धि के साथ।

प्रथम श्रेणी के दार्शनिक

मैंने सबसे पहले आचार्य भिक्षु को अपनी मां से समझा। मैं छोटा था। मैं सोया रहता। मां जल्दी उठकर भिक्षु का स्मरण करती। वह गाती 'मंत्राक्षर सम नाम तुम्हारी,.....संत भीखणजी रो समरण कीजै।' मेरे कानों में ये शब्द पड़ते। संस्कार जमते गए। भिक्षु के प्रति मेरे अव्यक्त मन में एक श्रद्धा उत्पन्न हुई। मैं दीक्षित हुआ अपनी मां के साथ। आठ-दस वर्ष तक मुझे आचार्य भिक्षु के बारे में समझने-सोचने का अवसर ही नहीं मिला। आचार्यश्री तुलसी ने मोड़ लिया। उन्होंने सोचा—तेरापंथ के बारे

में जो भ्रामक प्रचार किया जा रहा है, संदेह उत्पन्न किया जा रहा है, उसका निवारण अपेक्षित है। यदि यह निवारण नहीं होता है तो हमारे विकास में बाधाएं उत्पन्न होती हैं। आचार्यश्री ने नए प्रकार से, आधुनिक संदर्भों में आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों की व्याख्या प्रस्तुत की। उस समय तक मैं बहुत नहीं जानता था। मैंने आचार्यश्री द्वारा प्रस्तुत तर्कों को पकड़ना प्रारम्भ किया। वि० सं० २००१ से २००८ तक यह सिलसिला चलता रहा। 'जैन सिद्धांत दीपिका' की रचना हुई और मैं उन तर्कों की गहराई में उतरने का प्रयत्न करता रहा।

मैंने आचार्य भिक्षु को तर्क की कसौटी पर कसा और उन्हें समझने का प्रयास किया। पहले श्रद्धा से समझा, बाद में तर्क से समझा। अब मैं आचार्य भिक्षु को प्रतिबिम्बों से समझ रहा हूँ, प्रतिक्रियाओं से समझ रहा हूँ। मैंने एक किताब लिखी। उसका नाम रखा 'भिक्षु विचार दर्शन।' उसमें मैंने आचार्य भिक्षु को जैसा समझा, वैसा प्रस्तुत किया है। चंडीगढ़ की लाइब्रेरी में वह किताब पहुंची। विद्वान् लाइब्रेरियन ने उसे आद्योपान्त पढ़ा। उसने पत्र में लिखा—'यह पुस्तक केवल पढ़ने की ही नहीं है। इसे पचाने की आवश्यकता है। कैसे महान् व्यक्ति थे भिक्षु स्वामी।' अनेक ग्रंथ लिखे गए। आचार्य भिक्षु का नया रूप सामने आया। उनके द्वारा प्रणीत साहित्य सामने आया। उसको देखकर विद्वान् बहुत प्रभावित हुए। आचार्य भिक्षु प्रथम श्रेणी के दार्शनिकों में गिने जाने लगे।

अनुभव का जीवन

प्रश्न होता है—क्या आचार्य भिक्षु ने इतने गूढ़ विचार दिए हैं। इतने गूढ़ सिद्धांत दिए हैं? क्या उनका चिन्तन इतना महान् था? क्या उनका दर्शन इतना गूढ़ था?

यह एक सच्चाई है—दुनिया में आज तक किसी भी व्यक्ति ने परम सत्य को अभिव्यक्ति दी है तो उस व्यक्ति ने दी है, जिसने मन से नहीं सोचा, मन से चिन्तन नहीं किया, मन से विचार नहीं किया। मन से सोचने वाला, मन से विचार करने वाला व्यक्ति कभी गूढ़ दर्शन को अभिव्यक्ति नहीं दे सकता। वह बड़ा सत्य उद्घाटित नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति को परम सत्य उपलब्ध हुआ है, उस व्यक्ति ने सोचा नहीं, साक्षात् किया है, देखा है, अनुभव किया है। अनुभव की बात ही दूसरों के लिए काम की बात बनती है। आचार्य भिक्षु अनुभव का जीवन जीने वाले व्यक्ति थे। उनका अनुभव विराट् था। उन्होंने चिरन्तन सत्य हमें दिया, व्यवस्था के क्षेत्र में, तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में और आचार के क्षेत्र में। सचमुच वे महान् थे, सहजात प्रतिभा के धनी थे। वे आए। चिरन्तन सत्य दिया और चले गए।

हम आज भी उनका पूरा मूल्यांकन नहीं कर पा रहे हैं। इसका कारण हमारी भूमिका का भिन्न होना है।—हम आचार्य भिक्षु को जिस भूमिका से देखते हैं, वह भूमिका भिन्न है और जिस भूमिका पर भिक्षु हैं, वह भिन्न है। इसीलिए यह अन्तर आ रहा है। आचार्य भिक्षु ने जो सत्य कहा, वह अपनी उच्च भूमिका पर खड़े होकर कहा था।

कहां है अंधकार

एक छोटी सी कहानी है। अन्धकार ब्रह्मा के पास गया। उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा—भगवान् ! सूर्य निरन्तर मेरा पीछा करता है। आपने मुझे बनाया है तो इस दुनिया में मुझे भी जीने का अधिकार है। आप इस बात पर ध्यान दें और सूर्य को मेरा पीछा करने से रोकें। मुझे बचाएं। ब्रह्मा ने कहा—अच्छी बात है। तुम जाओ। मैं व्यवस्था कर देता हूं।

ब्रह्मा ने सूर्य को बुलाकर कहा—तुम अंधकार का पीछा क्यों करते हो ?

सूर्य ने कहा—कौन अन्धकार ? कैसा अन्धकार ? मैं उसे नहीं जानता। मैं जानता ही नहीं कि अन्धकार कैसा होता है।

ब्रह्मा ने कहा—अभी अभी अन्धकार मेरे पास आया था। उसने कहा कि तुम निरन्तर उसका पीछा करते हो।

सूर्य बोला—क्षमा करें। मुझे पता ही नहीं है कि अन्धकार कौन है ? क्या है ? कैसा है ? मैंने उसे आज तक नहीं देखा। पीछा करने की यह बात झूठी है। आप कृपा कर उस अन्धकार को मेरे सामने लाएं तो सही। मैं देखूं कि वह कैसा है।

ब्रह्मा गए। अन्धकार से कहा—चलो, सूर्य के सामने यह प्रमाणित करो कि वह तुम्हारा पीछा करता है।—

अन्धकार बोला—भगवान् ! यह कैसी बात ? मैं सूर्य के सामने कैसे जाऊं ? कैसे खड़ा रहूं ? जहां वह आता है, वहां मेरा लोप हो जाता है। उसके समक्ष आप भी मुझे नहीं पहचान पाएंगे।

सचमुच, सूर्य को आज तक पता नहीं चला कि अन्धकार कैसा है ? उसकी अंधकार से आज तक मुलाकात नहीं हुई है।

भिक्षु की महानता

हम भी भिक्षु को समझने में सफल नहीं हुए हैं। उनकी महानता को हमने पहचाना नहीं। हम कह देते हैं—आचार्य भिक्षु ने इतने भीषण कष्ट सहे, यातनाएं भेलीं। आज यदि आचार्य भिक्षु को भगवान् के सामने खड़ा कर कहा जाए—भगवान् ! इन्होंने कितनी पीड़ा सही है,

इतना कष्ट सहा है, इतनी यातनाएं भेली हैं, निंदा सही है, अपमान सहा है। सारा जीवन सहने में ही बिताया है। आचार्य भिक्षु कहेंगे—यातना क्या होती है, मैं जानता ही नहीं। पीड़ा और निन्दा क्या होती है, मैं जानता ही नहीं। कष्ट क्या होता है, मैं जानता ही नहीं।

जो व्यक्ति प्रकाशमय बन जाता है, आत्म-केन्द्रित हो जाता है और जिसके लिए आगे-पीछे पहले और बाद में, आत्मा के अतिरिक्त कुछ शेष रहता ही नहीं, वह नहीं जानता कि यातना और पीड़ा क्या होती है? कष्ट क्या होता है? भूख और प्यास क्या होते हैं। जो व्यक्ति यातनाओं को जानता है, यातनाओं का अनुभव करता है, वह वास्तव में यातना को सह नहीं सकता। कष्टों को जानने वाला, कष्टों का संवेदन करने वाला कष्टों को सह नहीं सकता।

भिक्षु का अस्तित्व

आचार्य भिक्षु पूर्णरूपेण आत्म-केन्द्रित थे। उनके लिए तीन शब्द शेष थे—आत्मा, महावीर और जिन-आज्ञा। इन तीन शब्दों में आचार्य भिक्षु के अस्तित्व को खोजा जा सकता है। इन शब्दों के अतिरिक्त उनके अस्तित्व को खोजा नहीं जा सकता। उनकी प्रत्येक बात में सबसे पहले आत्मा की ध्वनि है। आत्मा के दो पर्याय हैं—महावीर और जिन-आज्ञा। इन तीनों में कोई अन्तर नहीं है। जो व्यक्ति इतना आत्म-केन्द्रित हो जाता है, वह यातना और पीड़ा को कभी नहीं पहचानता।

सत्य-शोध का विनम्र भाव

वस्तुतः हमने आचार्य भिक्षु को पहचाना नहीं। मेरा एक सूत्र है—आचार्य भिक्षु का जो अनुयायी होगा, वह रूढ़िवादी नहीं होगा, पुराणपंथी नहीं होगा। वह न प्राचीनता से चिपका रहेगा और न नवीनता से चिपका रहेगा। वह केवल सत्य का समर्थक होगा। वह सत्य से चिपकेगा। मैंने ढाई-तीन हजार वर्ष प्राचीन विभिन्न दार्शनिक धाराओं को पढ़ा है, धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि आचार्य भिक्षु के समान सत्य का विनम्र शोधक विरल ही मिलेगा। उन्होंने सत्य-शोधक व्यक्ति के लिए जो आचार-संहिता प्रस्तुत की, वैसी आचार-संहिता हमारे वैचारिक साहित्य में नहीं मिलेगी। उन्होंने कहा—‘जो सत्य का शोधक है उसे अनुभव की वाणी को स्वीकार करना चाहिए। उसे विचारों को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। जिन-आज्ञा का मतलब है—अनुभव की वाणी।’ उन्होंने कहा—‘जो बात जिनवाणी में न मिले, उसका निर्णय अपने निष्पक्ष, तटस्थ तथा राग-द्वेष रहित भाव से करें।’

अनाग्रह भाव

आचार्य भिक्षु ने कहा—इस प्रकार लिया गया निर्णय, यदि बुद्धि-बल से समझ में आए तो उसे बुद्धि से स्वीकार करे। यदि बुद्धि से समझ में न आए तो श्रद्धा से स्वीकार करे और यदि वह श्रद्धागम्य न हो तो उसे केवलीगम्य कर दे। केवलीगम्य करने का मतलब है—अनन्तकाल, अनन्तदेश और अनन्तसत्य के लिए अपने तुच्छ विचारों का समर्पण।

आचार्य भिक्षु का यह स्वर, उनका यह अनाग्रह भाव सत्य के प्रति उनकी आस्था व्यक्त करता है और सत्य-शोध के प्रति उनके विनम्र भाव को प्रमाणित करता है।

क्या विनम्र सत्य-शोधक आचार्य भिक्षु के अनुयायी रूढ़िवादी हो सकते हैं? आचार्य तुलसी कभी थोड़ा-सा परिवर्तन करते हैं तो लोगों का दिमाग झनझना उठता है। वे नहीं जानते—आचार्यश्री जो कर रहे हैं, उसके पीछे कौन-सा तत्त्व है? क्या वे अपने मन से कर रहे हैं? वे अपने मन से परिवर्तन नहीं करते। उसके पीछे आचार्य भिक्षु की, सत्य-शोध की इतनी प्रबल परम्परा है कि उन्हें परिवर्तन करने में कोई कठिनाई नहीं होती। जो आचार्य भिक्षु के परिवर्तनों को जानता है, उसे आचार्य तुलसी के परिवर्तनों के विषय में कोई आश्चर्य नहीं हो सकता।

समर्पण जिनवाणी के प्रति

मैंने भिन्न-भिन्न समयों में आचार्य भिक्षु के भिन्न-भिन्न रूपों को देखा है। उनमें एक रूप था—जिनवाणी, जिन-आज्ञा के प्रति अटूट श्रद्धा।

आचार्य भिक्षु जिनवाणी के प्रति सर्वात्मना समर्पित थे। उनकी जिन-वाणी के प्रति दृढ़ श्रद्धा थी।

आचार्य भिक्षु ने उस समय जो सपने लिए थे, उन्हें पूरा करने वाले उनके पास कोई नहीं थे। काश! हम उस समय होते तो उनके सारे सपने साकार कर देते। हम नहीं थे। उन्होंने जिस जिनवाणी के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की थी, उस जिनवाणी को सामयिक अभिव्यक्ति देने के लिए आचार्य तुलसी प्रयत्नशील हैं।

रूप महान् योगी का

आचार्य भिक्षु का एक रूप अभी हमारे सामने नहीं आया है। वह है—योगी का रूप। उनके बहुत सारे रूप हमारे सामने प्रस्तुत हो चुके हैं। वे आगमों के कुशल व्याख्याता थे, निपुण साहित्यकार थे, तपस्वी और कष्ट-सहिष्णु थे। ये सारे रूप हमारे सामने हैं किन्तु वे बहुत बड़े योगी भी थे।

जब आचार्य भिक्षु का देहावसान हुआ तब वे पद्मासन की मुद्रा में

बैठे थे। शरीर शांत, मन शांत और सब कुछ शांत था। मृत्यु से कुछ ही क्षणों पूर्व एक दर्जी आया। हाथ की सूई को अपनी पगड़ी में खोंसते हुए बोला—सब तैयार है। शव-यात्रा का विमान तैयार है। अभी-अभी मैं उसका काम पूरा कर आ रहा हूं। आचार्य भिक्षु ने कहा—हम भी तैयार हैं। लो, अब मैं भी चला। यह कहते-कहते उनके प्राण निकल गए। उसी पद्मासन की मुद्रा में आचार्य भिक्षु संसार को अलविदा कह गए।

पद्मासन की मुद्रा में उसी व्यक्ति का प्राण विसर्जित होता है, जिसकी योग साधना परिपक्व हो चुकी होती है। यह जागृत मृत्यु है। ऐसी मृत्यु योगियों की ही होती है। निश्चित ही वे योगी थे।

हमारा कर्त्तव्य

आचार्य तुलसी कुछ भी नया नहीं कर रहे हैं। वे आचार्य भिक्षु के सपनों को साकार करने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रेक्षा ध्यान की परम्परा उसी की एक कड़ी है।

हम आचार्य भिक्षु के अनुयायी हैं। हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम उनके सपनों को सिद्ध करते चले जाएं, हम स्वयं आचार्य भिक्षु बन जाएं। आचार्य भिक्षु की स्थिति तक पहुंचने में अनेक तूफानों और बवंडरों का सामना करना पड़ सकता है हम उनका सामना करते रहें, आगे बढ़ते रहें और उनके सभी सपनों को सिद्ध करने में प्रतिपल प्रयत्नशील बने रहें। ऐसा करके ही हम आचार्य भिक्षु बन सकते हैं।

अध्यात्म-स्रोत के धनी : आचार्य भिक्षु

युग परिवर्तन के साथ-साथ कुछ महापुरुष पैदा हुए और उन्होंने धर्म के क्षेत्र में धर्म-चक्र का परिवर्तन किया। आचार्य भिक्षु का अभिनिष्क्रमण, नई दीक्षा का स्वीकरण एक धर्म-चक्र का प्रवर्तन था। तेरापंथ उसकी निष्पत्ति में प्रस्तुत हो गया। जो व्यक्ति शाश्वत के प्रति समर्पित होता है, शाश्वत का गुणगान करता है, संगान करता है, व्याख्यान करता है, वह कृत्रिम से अकृत्रिम की ओर प्रस्थान करता है। बाह्य जगत् में सब कुछ कृत्रिम होता है। तर्कशास्त्र का सूत्र है—जो किया हुआ होता है, वह अनित्य होता है। शाश्वत वह होता है, जो किया नहीं जाता, अकृत होता है।

बाहरी दुनिया का नियम

खलील जिब्रान जा रहे थे। उन्होंने देखा—खेत में एक हड़प्पा खड़ा है, बनावटी आदमी खड़ा है। खलील जिब्रान उसके पास जाकर बोले—भैया ! कबसे खड़े हो ? क्या थकते नहीं हो ? हड़प्पा बोला—पक्षी आते हैं। उन्हें डराने में मुझे बड़ा मजा आता है, इसलिए मैं थकता नहीं हूँ। जिब्रान बोले—आदमी को डराने में तो मुझे भी मजा आता है। बनावटी आदमी बोला—क्या तुम भी मेरी तरह बनावटी हो ?

जहाँ सब कुछ बनावटी होता है, नकली होता है, बनाया जाता है वहाँ दूसरे को ही डराने में मजा आता है। अपने आप में कुछ भी नहीं होता है।

दूसरे को भरना और अपने आप में रिक्त होते जाना, यह हमारी बाह्य दुनिया का शाश्वत नियम है। इसे कभी टाला नहीं जा सकता। जिस धर्म-संघ में आध्यात्मिक चेतना का जागरण नहीं होता, केवल बाह्य, बाह्य और बाह्य होता है, वह धर्मसंघ भी बनावटी और नकली बन जाता है।

स्थायित्व की समस्या

कहा जाता है—आचार्य भिक्षु ने मर्यादाएं बनाईं, व्यवस्थाएं दीं। कहा जाता है—अनुशासन स्थापित किया, धर्म-संघ स्थापित किया। पर मुझे लगता है—उन्होंने न कोई मर्यादा बनाई, न कोई नियम बनाया, न कोई व्यवस्था दी। उन्होंने कुछ नहीं किया। उन्होंने शाश्वत सत्य का जीवन जिया और उसमें से जो उद्गार निकल गया, वह निकल गया। अगर

किया हुआ होता तो आचार्य भिक्षु के काल में ही समाप्त हो जाता या उनकी चिन्ता में ही समाप्त हो जाता। दी हुई बान बहुत चलती नहीं है। वह व्यक्ति के साथ-साथ समाप्त हो जाती है। व्यक्ति के देखते-देखते समाप्त हो जाती है। हम देखते हैं—कितने लोग नियम बनाते हैं, अनुशासन चाहते हैं, संगठन बनाना चाहते हैं। पर देखते-देखते आंखों के सामने ही वे संगठन टूटते नजर आते हैं, नियम भंग होते नजर आते हैं। उनके प्रति न कोई आस्था का भाव होता है और न कोई उनका महत्त्व होता है।

शाश्वत का स्रोत

स्थायी वह होता है, जिसके पीछे शाश्वत का स्रोत होता है। बरसाती नदियां चाहे कितनी ही बाढ़ क्यों न लाती हों, स्थायी पानी नहीं दे सकतीं। स्थायी नदियां वे हैं, जिनका स्रोत है गंगोत्री, जिनका स्रोत है यमुनोत्री। जिनके पीछे शाश्वत का स्रोत है और निरंतर हिमालय का स्रोत बहता रहता है, वे नदियां बारह मास पानी से छलाछल भरी रहती हैं। वर्षा होने पर लूनी नदी बड़ी खतरनाक लगती है। जसोल और बालोतरा के लोग घबरा जाते हैं। किन्तु वर्षा समाप्त होते ही लूनी नदी में रेत उड़ने लग जाती है। वह सूखी की सूखी रह जाती है।

जिसका स्रोत आध्यात्मिक नहीं होता, उस व्यक्ति के द्वारा किया गया विधान, उस व्यक्ति के द्वारा की गई मर्यादाएं और उस व्यक्ति के द्वारा खड़ा किया गया संगठन बरसाती नदी की भांति होता है। एक बार तो पानी की बाढ़ सी आती है किन्तु थोड़े दिनों के बाद धूल उड़ने लग जाती है, रेत उड़ने लग जाती है। उसके विधान का, उसकी मर्यादा का और उसके अनुशासन का कोई मूल्य नहीं होता।

मुक्ति का स्वर

आचार्य भिक्षु ने अध्यात्म का जीवन जिया। वे एक आध्यात्मिक पुरुष थे, आध्यात्मिक व्यक्तित्व के धनी थे। उनमें कोई बनावटीपन नहीं था, नकलीपन नहीं था। जो अन्दर में रहा, वह बाहर सहज ही निकल गया। उसे अभिव्यक्ति मिली और वह दूसरों के लिए शाश्वत सत्य बन गया। जो व्यक्ति आध्यात्मिक नहीं होता, वह दूसरों को बांधना चाहता है। एक कसौटी हो गई—जो व्यक्ति आध्यात्मिक होता है, वह दूसरों को मुक्त करना चाहता है। आचार्य भिक्षु ने कभी किसी को बांधा नहीं। उन्होंने मुक्तता दी, स्वतंत्रता दी और विवेक को जगाया। इतनी स्वतंत्रता पूरे धार्मिक इतिहास में, वैचारिक और दार्शनिक इतिहास में बहुत कम आचार्यों ने दी होगी। प्रत्येक आचार्य ने यही लिखा—मैं जो कुछ लिखता हूं, आगे आने वाली पीढ़ी उसका अक्षरशः पालन करे। यह बात सैकड़ों स्थानों पर देखने को मिलती है

पर वह बात विरल मिलती है, जो आचार्य भिक्षु ने कही। आचार्य भिक्षु ने कहा—मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे उत्तरवर्ती आचार्य, भावी आचार्य, भविष्य में होने वाले आचार्य अगर आवश्यक समझें तो उसमें परिवर्तन कर दें, संशोधन कर दें। उसको बदल दें। क्या यह मुक्ति का स्वर, स्वतंत्रता का स्वर कभी बंधन का स्वर हो सकता है? क्या यह कभी बाह्य जगत् से उद्घाटित हो सकता है? कभी संभव नहीं।

परिवर्तन का उपयोग

आचार्य को यह स्वतंत्रता होती है कि वह अपनी संपदा का जैसा चाहे वैसा उपयोग करे। यह स्वतंत्रता आचार्य भिक्षु ने दी और इसका उपयोग हमारे आचार्यों ने किया, जयाचार्य ने किया, आचार्य तुलसी ने किया। थोड़ी बहुत मात्रा में प्रत्येक आचार्य ने इस स्वतंत्रता का उपयोग किया है। लगभग सबा दो सौ वर्षों के इतिहास में हमारे आचार्यों ने जो परिवर्तन किए हैं, उनकी एक लम्बी तालिका है। बहुत सारे लोग इस परिवर्तन से परिचित नहीं हैं इसलिए वे कभी-कभी कह देते हैं—आचार्य तुलसी ने कितना बदल दिया। पहले वाले आचार्यों ने कितना बदला था, इस बारे में उन्हें कोई जानकारी नहीं है। हम लोग इस बात का अनुभव करें, जो व्यक्ति आध्यात्मिक होता है वह दूसरों को बांधता नहीं है किन्तु दूसरों को मुक्त करता है, स्वतंत्र करता है, स्वतंत्रता की ओर ले जाता है।

शाश्वत सत्य के व्याख्याकार : आचार्य भिक्षु

मैं सबसे पहले आचार्य तुलसी को प्रणाम करता हूँ क्योंकि उन्होंने मुझे आचार्य भिक्षु को समझने का सुअवसर दिया। यदि यह अवसर प्राप्त नहीं होता तो आचार्य-भिक्षु मेरे लिए मात्र तेरापंथ के आद्य-प्रवर्तक होते, इससे ज्यादा नहीं होते। आचार्य भिक्षु मात्र तेरापंथ के आद्य-प्रवर्तक ही नहीं हैं, वे और भी कुछ हैं। वे शाश्वत सत्य के प्रशस्त व्याख्याकार भी हैं। एक पंथ के प्रवर्तक अनेक हो सकते हैं, पंथ को चलाने वाले अनेक हो सकते हैं, किन्तु शाश्वत सत्यों की उद्घोषणा करने वाले विरले ही होते हैं, शाश्वत सत्यों के व्याख्याकार कुछेक ही होते हैं, बहुत कम होते हैं।

अर्थ नए और पुराने

आचार्य भिक्षु बौद्धिक पुरुष नहीं थे। वे अनुभव पुरुष थे। उन्होंने अनुभव के स्तर पर सत्य को उपलब्ध किया। बुद्धि के स्तर पर सत्य की व्याख्या करने वाले सत्य को सीमित कर देते हैं। वे सत्य को बांट देते हैं, तोड़ देते हैं, उसे सामयिक बना देते हैं। बुद्धि का सत्य हमेशा सामयिक होता है। जैसे-जैसे समय के चरण आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे सामयिक सत्य पुराना होता जाता है। पुराने का अर्थ है—वर्तमान के लिए अनुपयोगी, व्यर्थ। जैसे-जैसे समय के चरण आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे शाश्वत सत्य नया होता जाता है। नए का अर्थ है—आज के लिए उपयोगी, सार्थक।

आचार्य भिक्षु ने अपने अनुभव के आधार पर जिस सत्य की व्याख्या की है, वह सत्य इतना व्यापक और विराट् है कि उसे तेरापंथ की सीमा में नहीं बांधा जा सकता।

सहज भाषा : शाश्वत सत्य

एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा—आप कहते हैं—एक महाव्रत टूटता है तो पांचों टूट जाते हैं, यह कैसे? एक टूटता है तो एक टूटेगा, पांचों कैसे टूटेंगे?

आचार्य भिक्षु ने अपनी सहज अनुभव वाणी में कहा—सुनो भाई! एक भिखारी को कुछ आटा मिला। वह रोटी पकाने बैठा। उसने एक रोटी सेक ली। एक रोटी सिक रही थी। एक रोटी का आटा कठोती में था। एक रोटी का आटा उसके हाथ में था। एक रोटी अंगारों पर थी। इतने में एक

कुत्ता आया। जो कठोती में था उसे ले भागा। आदमी उसके पीछे दौड़ा। जो हाथ में था, वह नीचे गिरकर धूल में मिल गया। पीछे से एक बिल्ली आई। वह सिकी रोटी ले गई। तब पर रखी रोटी जल गई। अंगारों पर रखी रोटी भी जल गई। पांचों रोटियां समाप्त हो गईं। एक समाप्त, पांचों समाप्त। एक टूटा, पांचों टूटे।

इतनी सहज भाषा में उन्होंने एक शाश्वत सत्य का निरूपण कर डाला।

अनुभव होता है सीमातीत

मुझे आश्चर्य तब हुआ जब मैंने पद्मपुराण का एक श्लोक देखा। मुझे लगा—अनुभव की वाणी कितनी विराट् और व्यापक होती है। उसे सीमा में बांधा नहीं जा सकता। पद्मपुराण का श्लोक है—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च, क्षमाशौचतपोदम।

सन्तोषः सत्यमस्तेयं, व्रतानि तु विशेषतः ॥

एकेन व्रतहीनेन, व्रतमस्य तु लुप्यते।

हम देखें—सत्य कितना समीकृत है। जो स्वर आचार्य भिक्षु का था, वही स्वर सैकड़ों वर्ष पहले रचे गए पद्मपुराण में उल्लिखित है। उस स्वर का अर्थ है—ब्रह्मचर्य, अहिंसा, क्षमा, शौच, तप, दम, सन्तोष, सत्य और अस्तेय—ये नौ व्रत हैं। यदि इनमें से एक भी व्रत टूटता है तो सारे व्रत टूट जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने कहा—एक महाव्रत टूटने पर पांचो महाव्रत टूट जाते हैं। पद्मपुराणकार ने कहा—एक व्रत के टूटने पर नौ व्रत टूट जाते हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर सामयिक सत्यों में होता है। जहां हमारी सामायिक सत्य की पकड़ होती है, वहां बेरियर खींचे जाते हैं, दीवारें खींची जाती हैं।

सामयिक सत्य : शाश्वत सत्य

एक गुरु के दो शिष्य थे। दोनों गुरु-सेवा के लिए उत्सुक थे। गुरु ने अपने शरीर को दो भागों में बांट दिया और कहा—एक भाग की सेवा तुम करो और दूसरे भाग की सेवा तुम करो। गुरु नींद ले रहे थे। दोनों शिष्य पैर दबा रहे थे। नींद का भोंका आया और दायां पैर बाएं की ओर चला गया। बाएं पैर के अधिकारी शिष्य ने दाएं पैर पर जोर से मुक्का मारा और कहा—मेरे हिस्से में आता है। बेचारे गुरु मार से छटपटाकर उठ गए।

सामयिक सत्य ऐसे होते हैं। इसमें यह नहीं सोचा जाना कि पैर किसका है, गुरु का है या और किसी का? मेरी सीमा में वह नहीं आना चाहिए। भले फिर वह गुरु का हो या बाप का हो, किसी का हो, कोई चिंता

नहीं है। यह सीमा की बात, विभाजन की बात सामयिक सत्यों के साथ जुड़ी हुई होती है। इसे टाला नहीं जा सकता।

तेरापंथ के दो अर्थ

आचार्य भिक्षु ने सामयिक सत्यों के साथ-साथ शाश्वत सत्यों की घोषणाएं भी कीं। यह उनकी महत्वपूर्ण और अमर देन है। हम आचार्य भिक्षु को केवल तेरापंथ की व्यवस्था, तेरापंथ का संगठन, तेरापंथ की मर्यादाओं तक ही सीमित न रखें। यह उनका एक छोटा-सा पक्ष है। यह उनके कर्तृत्व की एक स्फुरणा और अंकुर है किन्तु उनके अनुभव की चेतना भी बहुत विराट् थी। अपेक्षा है—हम उनके विराट् रूप को देखें और समझें।

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का अर्थ करते हुए कहा—जो साधक पांच महाव्रत, पांच समितियां और तीन गुप्तियां—इन तेरह नियमों का पालन करता है, वह तेरापंथी है। तेरापंथ का एक अर्थ है—हे प्रभो ! यह तेरापंथ। एक अर्थ है—सैद्धांतिक और दूसरा है—प्रणतिपूरक।

पूज्यपाद : आचार्य भिक्षु

दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य पूज्यपाद ने एक ग्रंथ लिखा। उसका नाम है निर्वाणभक्ति। मैं उसे पढ़ रहा था। वहां महावीर की स्तुति में आचार्य कहते हैं—प्रभो ! आपने तीन गुप्तियां, पांच समितियां और पांच महाव्रत—इस तेरह प्रकार के धर्म का प्रतिपादन किया, जो पहले किसी तीर्थंकर ने नहीं किया। यह तेरह प्रकार का धर्म पहले किसी आचार्य ने प्रतिपादित नहीं किया। आपने वह किया इसलिए आपको नमस्कार करता हूं।

मैंने सोचा—आचार्य भिक्षु पूज्यपाद में कहां से प्रविष्ट हो गए या पूज्यपाद की आत्मा आचार्य भिक्षु में कहां से प्रविष्ट हो गई ? हम यह याद रखें शाश्वत सत्य के बीच कोई रेखा नहीं होती। वह सत्य कालातीत और देशातीत होता है। यह प्रत्येक देश और काल में समान रूप से उपलब्ध होता है।

यह अनुभव की वाणी आचार्य भिक्षु को कैसे उपलब्ध हुई, यह एक प्रश्न है। कोई कहता है—उन्हें यह सहज उपलब्ध हुई किन्तु यह कथन भी विचारणीय है। मैं नहीं सोचता कि उन्हें यह सहज उपलब्ध हुई है।

आगे तक जाएँ

आचार्य भिक्षु बहुत बड़े मर्यादा-पुरुष थे। उन्होंने बहुत बड़ी मर्यादाएं कीं और कठोरता से उनका पालन भी किया। प्रश्न होता है—क्या इस भूमिका पर जीवन बिताने वाला कोई भी व्यक्ति इतना अनुभव-सिद्ध पुरुष बन

सकता है ? इन्द्रियों के स्तर पर, मन के स्तर पर और बुद्धि के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति क्या इतने गूढ़ रहस्यों का, सत्यों का प्रतिपादन कर सकता है ? यह बात समझ में नहीं आती । हम यह कहकर इस प्रश्न को समाहित कर देते हैं कि आचार्य भिक्षु औत्पत्तिकी बुद्धि के धनी थे । औत्पत्तिकी बुद्धि अर्थात् प्रातिभज्ञान । उन्हें प्रातिभज्ञान उपलब्ध था । किन्तु प्रश्न है कि वह ज्ञान कैसे हुआ ? इस प्रश्न को हल करने के लिए हमें बहुत आगे तक जाना होगा ।

रहस्य : प्राण-नियंत्रण का

आचार्य भिक्षु एक महान् अध्यात्म साधक थे । उन्होंने जो कुछ पाया, वह इसी साधना से पाया । वे गहरे में उतरते थे । एक बार आचार्य भिक्षु ने कहा था—यदि दो घंटे में मुक्ति मिलती है तो दो घंटे तक श्वास रोककर भी रह सकता हूं ।

जिस व्यक्ति ने अपने प्राण को वश में नहीं किया, क्या वह इतनी अतिशयोक्तिपूर्ण बात कह सकता है ? कभी नहीं कह सकता । एक साधक इतना बड़ा झूठ नहीं बोल सकता । आचार्य भिक्षु के इस कथन की पृष्ठभूमि में उनके प्राण-नियंत्रण का रहस्य होना चाहिए ।

महान् साधक

कहा जाता है—आचार्य भिक्षु जब अन्तिम अवस्था में थे तब उन्हें अवधिज्ञान हुआ, पूर्वाभास हुआ । उन्होंने पहले की घटनाएं जान लीं । यह क्यों हुआ ? आचार्य भिक्षु का स्वर्गवास पद्मासन की मुद्रा में बैठे-बैठे हुआ । क्या बैठे-बैठे कोई आदमी मरता है ? उनकी इच्छा-मृत्यु हुई । यह इच्छा-मृत्यु एक महान् साधक की जागरूक अवस्था में हो सकती है, सामान्य साधक की नहीं । वे महान् साधक थे । क्या ऐसा भी कोई व्यक्ति हो सकता है, जो इतना सहिष्णु हो ? वे चलते गए, चलते गए, चलते गए । कभी नहीं थके । चलने वालों में वे खड़े थे । खड़े रहने वालों में वे बैठे थे । बैठे लोगों में वे सोए हुए थे और सोए हुए व्यक्तियों में वे इतने जागरूक थे कि उनका शिथिलीकरण चरम-बिन्दु पर पहुंच गया, शिखर पर पहुंच गया ।

बुद्धि का स्तर : आत्मा का स्तर

एक बहुत बड़ा साधक जा रहा था । सामने से एक डाकू आया । वह बोला—खड़े रहो । साधक ने कहा—मैं तो खड़ा हूं, तुम चल रहे हो । डाकू बोला—यह कैसे ? मैं तो खड़ा हूं और तुम चल रहे हो । साधक ने कहा—जिसका मन चलता है, वह खड़ा हुआ भी चल रहा है । जिसका मन शान्त है, वह चलता हुआ भी खड़ा है ।

आचार्य भिक्षु चलने वालों में खड़े थे और इस प्रकार खड़े थे कि सब आश्चर्यचकित थे। किसी ने छाती में मुक्का मारा, किसी ने गालियां दी, वे विचलित नहीं हुए। विचलित वह होता है, जो बुद्धि के स्तर पर जीता है। किन्तु आत्मा के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति कभी विचलित नहीं होता। उस तक ये सारी बातें पहुंच ही नहीं पातीं।

आचार्य भिक्षु ने आत्मा के स्तर पर अपने जीवन को जिया इसीलिए वे कष्टों में अविचल बने रहे। कहा जा सकता है—आचार्य भिक्षु की स्मृति आत्मा के स्तर पर जीने वाले व्यक्तित्व की स्मृति है। जो व्यक्ति मन, बुद्धि और इन्द्रिय से परे आत्मा के स्तर पर जीना सीख लेता है, वह आदर्श व्यक्तियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित हो जाता है। आचार्य भिक्षु इसी अर्थ में तेरापंथ धर्मसंघ के प्रत्येक सदस्य के लिए आदर्श-पुरुष बने हुए हैं।

जयाचार्य की कल्पना का व्यक्तित्व

श्रद्धा और बुद्धि

जयाचार्य निर्माता थे। वे स्वयं निर्मित थे। दूसरों का निर्माण करना उन्हें इष्ट था। उनका अपना विशेष दृष्टिकोण था। वे व्यक्तित्व को अध्यात्म से अनुप्राणित करना चाहते थे। अध्यात्म यानी समभाव। उससे एक अणुमात्र भी हटकर वे व्यक्तित्व की रेखा खींचने को तैयार नहीं थे। उन्हें समभाव केवल शिष्य के लिए ही नहीं, गुरु के लिए भी मान्य था। जयाचार्य की कल्पना में आचार्य एक परिपूर्ण व्यक्ति है। शिष्य को परिपूर्ण बनना है। इसलिए उसका कर्तव्य है आचार्य के इंगित को देखकर चलना।

दूसरों के इंगित पर चलना बुद्धिवादी धारणा के प्रतिकूल है, पर जयाचार्य का मानस श्रद्धा से आप्लावित था। वे जीवन-व्यवहार में तर्क को अवांछनीय और विकास का अवरोधी मानते थे।

बुद्धि में विश्लेषण-शक्ति है, उससे संघटन की अपेक्षा विघटन अधिक होता है। श्रद्धा विश्वास की घनीभूत दशा है। उसमें विश्लेषण की अपेक्षा संघटन के तत्त्व अधिक हैं।

जयाचार्य की कल्पना के व्यक्तित्व का केन्द्र श्रद्धा है। वे हर परिस्थिति में श्रद्धा को अखण्ड रखने का आग्रह करते हैं। उनका विश्वास था—खंडित श्रद्धा से व्यक्ति जीवन-विकास के शिखर तक नहीं पहुंच पाता। अखंड श्रद्धा व्यक्ति को परिपूर्ण व्यक्तित्व प्रदान करती है। उसमें संतोष और आनन्द की धार तीव्रगति से बहती है। फलतः कोई भी परिस्थिति उसकी समरसता का अपहरण नहीं कर सकती।

स्वार्थ का पूरा न होना एक परिस्थिति है। उसमें भावना क्लुषित हो जाती है पर जयाचार्य को यह अभिप्रेत नहीं था। उन्होंने लिखा—

संतां ! स्वारथ पूगं आपरो, स्वारथ पूगं नहिं किण बार ।

संतां ! क्लुषभाव मत आदरो, थारे होसी लाभ अपार ॥

अपेक्षा : इच्छा का दमन

विहार कितना कष्टदायी है। पैदल चलना, सर्दी-गर्मी सहना, स्थान की कठिनाई, आहार-पानी की कठिनाई, और भी क्या-क्या कष्ट नहीं

होता ? फिर भी जयाचार्य ने इस अपेक्षा को व्यक्तित्व का एक अंग माना कि चातुर्मास समाप्त होने पर आचार्य के दर्शन किए जाएं। उनकी वाणी है—

सतियां ! चउमासो उतरियां छतां, राखो गुरु दर्शन रो कोड ।

सतियां ! शीघ्र आय गुरु पद प्रणमिये, जाणो सुविनीतां री जोड़ ॥

अपनी इच्छा का दमन करना सबसे कठिन कर्म है। जयाचार्य ने उसे सर्वसुलभ करने का यत्न किया है। वे इस भाषा में सोचते हैं—यदि तुम अपने साथियों का, अपना और गण का हित चाहते हो तो आचार्य की इच्छा का अनुगमन करो—

सतियां ! मुख आगे थारें आरज्यां, तयारो बंधो मुख उदार ।

बंधो टोला मैं मुख तुम तणो, तो थे चालो गुरु चित्त अनुसार ॥

मानवीय प्रकृति की दुर्बलता

जयाचार्य आपे का पूर्ण विसर्जन चाहते हैं। वे नहीं चाहते कि उनकी कल्पना का व्यक्तित्व किसी भी स्थिति में रुष्ट या असंतुष्ट हो। कठोर-वचन तथा सार्वजनिक रूप से प्रदत्त उलाहने को सहन करना मानवीय प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है। फिर भी जयाचार्य ने अपनी कल्पना के व्यक्तित्व की रेखाएं इसी सीमा में खींची हैं—

कठिन वचन में गणपति सीख दे, च्यार तीरथ में दिये निषेध ।

तो पिण कलुष भाव आणें नहीं, सुविनीत शासन तिलक संवेद ॥

स्पर्धा या ईर्ष्या मानवीय प्रकृति की दुर्बलता है। दूसरों की विशेषता देखकर अपनी हीनता का अनुभव होता है। उस समय विशेषता-प्राप्त व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, और उसके प्रति भी, जो उसे विशेषता प्रदान करता है किन्तु जयाचार्य के संस्कार किसी दूसरी दुनिया के हैं। वे अपने पात्र को इस विकट परिस्थिति में भी समभाव से विचलित हुआ देखना नहीं चाहते।

जयाचार्य की भाषा

कुरब बधावै मुनि अज्जा तणो रे,

तो पिण विमन न हुवै मन मांही रे ।

न करे जेहनो लेधो ईसको रे,

राखे तिण सूं पिण हेत अथाय रे ॥

दीक्षा में दीर्घ तथा लघु मुनि अज्जा रे,

बुद्धिकरी अल्प तथा अधिकाय रे ।

कुरब बधावै गणपति तेहनो रे,

तिण सूं पिण अनुकूल बरते ताय रे ॥

गुरु आपे असणादिक उपधि अन्य भणी रे,
 क्षेत्र भलावे चोखो जाण रे ।

तो पिण न करे तिणरो ईसको रे,
 सुविनीत नां लक्षण एह पिछाण रे ॥

बांको नहीं बरते तिण सू सवंथा रे,
 छल बल मायो न करे रंच रे ।

अखंड आराधं मर्यादा गुणी रे,
 अधिकी गणपति सू प्रीत सुसंचरे ॥

खंडित व्यक्तित्व का चिह्न

गुरु वचन को प्रमाण मानो, उसमें कोई तर्क मत करो—यह कहने में जितना आत्म-विश्वास अपेक्षित होता है, उससे अधिक अपेक्षित होता है आत्म-साहस । वचन का प्रामाण्य क्या बुद्धि को ताला लगाना नहीं है ? यदि है तो क्या कोई बुद्धिवादी आदमी ऐसी बात कर सकता है ? पर जयाचार्य ने ऐसी बात कही है । उन्होंने गुरु-वचन के प्रति तर्क करने वाले व्यक्तित्व को खण्डित और त्रुटित व्यक्तित्व माना—

संतां ! ठाम-ठाम कह्यो गुरुवयण नै, धारै विनय संत सुविशेख ।

तरक काढे तिको अविनीत हो, तिणरै अविनय कर्मक रेख ॥

साधना का क्षेत्र ही कुछ अद्भुत है इसीलिए साधक के मुंह से कुछ अद्भुत-सी बातें निकलती हैं । जिन लोगों का साधना से कोई लगाव नहीं होता, उनके लिए वे दुर्गम्य ही नहीं, अगम्य जैसी हैं ।

विनीत : अविनीत

जयाचार्य ने खंडित व्यक्तित्व को 'अविनीत' और परिपूर्ण व्यक्तित्व को 'विनीत' कहा है । अविनीत की तुलना मोम के गोले से और विनीत की तुलना मिट्टी के गोले से होती है । उन्होंने लिखा—

अविनीत गोलो मेण नों, तप्त गलै तत्काल ।

सुविनीत गोलो गार नों, ज्यूं धमै ज्यूं लाल ॥

जिस व्यक्ति में सहिष्णुता विकसित होती है, उसके लिए दूसरे ही आधार नहीं होते, वह भी दूसरों का आधार बन जाता है । जिस व्यक्ति में सहिष्णुता विकसित होती है, वह दूसरों पर भार नहीं होता, उसमें भार वहन की क्षमता आ जाती है । जयाचार्य ने लिखा—

एहवा शिष्य सुविनीत रो, सर्व कार्य में सार ।

गणपति नै आधार छै, जिम घरा सहे भार ॥

समर्पण

जयाचार्य ने व्यक्तित्व की जो कल्पना की है, वह गुरु के प्रति इतना

समर्पित है कि परिस्थिति उसके मानस का स्पर्श भी नहीं कर पाती। उसके मन में सुगुरु से परम प्रेम होता है इसलिए वह अपने मन, वाणी और शरीर को उनसे अभिन्न कर देता है—

तन मन सूं सेवा करे कांड, शासन रा सिणगार ।

छ्यार तीरथ जाणै तसु, इण रे सुगुरु थकी अतिप्यार ॥

परम प्रीत सतगुरु थकी कांड त्रिहुं योगे करि तेम ।

साताकारी ए सही कांड, गणपति जाणै एम ॥

(शिक्षा चौपाई १९।३,४)

कबीर, कृष्ण और जयाचार्य

आचार्य मानतुंग की भांति जयाचार्य भी अपनी कल्पना के व्यक्तित्व को उसके आराध्य की कोटि में ला बिठाते हैं। वे विनीत शिष्य और गंभीर आचार्य को शासन-तिलक की कोटि में ला रखते हैं—

विनयवंत शिष्य एहवा कांड, गणपति इसा गभीर ।

शासन तिलक सुहामणा कांड, निमल पयोदधि क्षीर ॥

(शिक्षा चौपाई १९।१६)

योगिराज कृष्ण अर्जुन को 'मामेकं शरणं ब्रज' कहकर उसे अपनी शरण में लेते हैं और उससे पूर्ण समर्पण की बात कहते हैं। कबीर की धारणा है—मैं और गुरु—दोनों साथ नहीं रह सकते। उनकी अनुभव-वाणी है—

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं मैं नाहि ।

प्रेम गलि अति सांकरी, तामें दो न समाइ ॥

जयाचार्य ने भी व्यक्तित्व का चित्र इन्हीं रेखाओं, रंगों और तूलिका से किया है।

आश्वासन का सूत्र

वे कल्प्यमान व्यक्ति से कोरा समर्पण नहीं चाहते किन्तु योगिराज कृष्ण की भांति उसे 'त्वामहं तारयिष्यामि' का आश्वासन देते हैं। हम उनकी भाषा को पढ़ें—

एहवा शिष्य सुविनीत ने कांड गणपति गणसिणगार ।

चरण पलावै निरमलो कांड, थेट उतारे पार ॥

आराधन विध करी कांड, संतोषै सुखकार ।

ए भणै परिषद नैं विषे कांड, ए गण नों आधार ॥

आचारज मोटा हुबै कांड, बारु सुण ना जाण ।

भरण पंडित हुबै ज्यां कांड, तोडै नहीं करताण ।

नवमै दशवैकालिके कांड, कन्या नों बुष्टान्त ।

जनक कन्या नें पालनें कांइ, प्रवर मिलावै कंत ॥
 तिम गुरु शिष्य मुनिनीत नों कांइ, प्रवर बधावै तोल ।
 पदवी जोग करी तसु कांइ, गणपति तिलक अमोल ॥
 विनयवंत के मुनिवर भणी, गुरु जाणें अति हितकार ।
 शीणी रहस्य सिद्धान्त नों कांइ, तास धरावै सार ॥
 ए अधिक प्रीत वाला तणो कांइ, सतगुरु गणरें मांय ।
 कुरब बधावै अतिघणो कांइ, विविध प्रकारें तोय ॥
 अन्त समय आराधना कांइ, हुवै जिहां लग ताम ।
 छेह न देवें तेहने कांइ, गणपति जी गुण धाम ॥
 छेह न देवें तेहने कांइ, हरख बधावै हीर ।
 सदा प्रसन्न राखें तसु कांइ, पिण न करे दिलगीर ॥
 शिष्य विनयकरी रीझबियां कांइ, तसु फल इह भव एह ।
 आराधक पद पामनें कांइ, वेगी मुक्ति वरेह ॥

(शिक्षा चौपाई १९।६-१५)

यदि शिष्य इस भावना से आचार्य की आराधना करे कि आचार्य उसका सम्मान बढ़ाए तो वह सौदे की भावना है। उस व्यक्तित्व को जयाचार्य की मान्यता नहीं है। शिष्य जो करे, उसे अपना धर्म समझकर करे, अपने अन्तस्तल में विराजमान प्रभु को प्रसन्न रखने के लिए करे। वह प्रभु सम्मान मिलने से तुष्ट नहीं होता और अपमान से रुष्ट नहीं होता। वह तुष्ट होता है इस बात से कि मेरा पुजारी मेरे मन्दिर की परिधि में ही रहे ।

तेरापन्थ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी

महापुरुष के जीवन में विकल्प नहीं होता । उसमें कुशल कलाकार की तुलिका और कवि की मनोहारी लेखनी चरम नहीं बनती, तब दूसरा क्यों कुछ सोचे ।

उस महापुरुष के बारे में लिखना कठिन होता है, जो अपने अन्तर्जगत् में खिलकर संसार के सामने आए, जिसे अपनी श्रीवृद्धि में बहिर्जगत् का प्रत्यक्ष सहयोग न मिले ।

मैं एक ऐसे धर्माचार्य के जीवन की कुछ गाथाएं लिख रहा हूं, जो आत्मलीन रहकर ही जनता को अपने में लीन कर पाए । वे हैं आचार्यप्रवर श्री कालूगणी ।

विक्रम सं० १९३३ में जन्मे, एकाकी माता के प्यार-दुलार में पले-पुसे, ग्रामीण शिशुओं की पंक्ति में बालक्रीड़ा की, विक्रम सं० १९४४ में ग्यारह वर्ष की अवस्था में आचार्यश्री मधवागणि (पांचवें आचार्य) के पास दीक्षित हुए । श्याम गौरवर्ण, गहरे बाल, लम्बा कद, गोल चेहरा, बड़ी और चमकती आंखें, सुडोल, सुगठित और मजबूत शरीर, गम्भीर और तेज वाणी, मौन प्रवृत्तियां जहां दूसरों के लिए विस्मय का कारण थीं वहां आचार्य श्री के लिए आत्मतुष्टि का ।

अध्ययन

जीवन की वृत्तियां प्रत्येक क्रिया के साथ सम्बन्ध किए चलती हैं, अतएव आचार्य श्री का अध्ययन-क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा । भगवान् महावीर ने कहा—साधु योगजन्य विभूतियों का गोपन करे । यह आदर्श हमें कालूगणी की अध्ययन विभूति में ही मिल जाता है । आचार्य श्री का अध्ययन इतना प्रच्छन्न हुआ कि दूसरे क्या, वर्तमान आचार्य भी उसका पूरा परिचय नहीं पा सके । उस समय तेरापन्थ संघ में संस्कृत अध्ययन की परम्परा बहुत कम थी और जो थी, वह भी आगे जाकर कुछ समय के लिए प्रायः लुप्त हो चुकी थी । मधवागणी के सुकुमार अनुशासन और वात्सल्यपूर्ण प्रेरणा ने कालूगणी के मानस में विद्या के व्यापक अध्ययन और संस्कृत के व्यापक प्रसार का बीजारोपण कर दिया । फिर भी वह तत्काल सम्पन्न नहीं हो सका ।

जयाचार्य के अनन्य शिष्य, सतत अन्तेवासी और सुयोग्य उत्तराधिकारी होने के कारण मधवागणी में जो विशाल अनुभूति और गंभीर पांडित्य आया, वह अपने आप में पूर्ण था। आचार्यश्री कालूगणी के लिए वह एक स्वर्ण अवसर था। मधवागणी की सूक्ष्म दृष्टि और कालूगणी की सर्वग्राही प्रतिभा के मेल से एक नया रंग खिलता किन्तु मधवागणी की स्वभाव-कोमलता और कालूगणी की आत्म-निर्भरता या अतिरिक्त शालीनता से यह कल्पना साकार नहीं बन सकी। ऐसे प्रसंग में हमें नियति के सफल दर्शन होते हैं। जो कुछ होता है, वह ठीक ही होता है—इसमें कहीं-कहीं तथ्य मिलता है। शायद इसीलिए वैसा नहीं हुआ। आगे चलकर बाईस वर्ष की चिर-प्रतीक्षा के बाद वह एक विशाल घट-वृक्ष के रूप में परिणत हुआ।

विकास क्रम

मधवागणी के स्वर्गवास के बाद कालूगणी करीब साढ़े चार वर्ष तक माणकगणी के शासन में रहे। कालूगणी की जागरूकता उत्तरोत्तर बढ़ती रही। माणकगणी का आकस्मिक देहावसान जहाँ समूचे संघ के लिए चिन्ता का विषय बना वहाँ आचार्य कालूगणी के लिए कुछ और अधिक। कालूगणी वहीं मौजूद थे और समस्या की गहराई तक पहुँचने की योग्यता रखते थे। आचार्यश्री डालगणी के संघ द्वारा निर्वाचित न होने तक अढ़ाई मास के अन्तरकाल में संघ की अन्तरंग व्यवस्था में कालूगणी का महत्वपूर्ण योग रहा। इस प्रसंग में मंत्री मुनिश्री मगनलाल स्वामी को नहीं भुलाया जा सकता, जो कालूगणी के अभिन्न सहयोगी रहे हैं।

कालूगणी बारह वर्ष तक डालगणी के शासनकाल में अपनी योग्यता बढ़ाते रहे। इस काल में प्रकाश-किरणें गुप्त रखने की चेष्टा किए जाने पर भी गुप्त नहीं रह सकीं। मानस जगत् में कालूगणी की प्रतिभा निखर उठी। डालगणी ने युवाचार्य का पत्र लिख दिया पर उसको प्रकाशित नहीं किया। उनका स्वर्गवास हो जाने पर साधारण जन यह नहीं जान सके कि आचार्य कौन होंगे? इधर कालूगणी की लीला भी निराली थी। कालूगणी की प्रवृत्ति से यह विश्वास होना कठिन था कि वे ही आचार्य होने वाले हैं। युवाचार्य का पत्र पढ़ा गया तो भी बहुतों ने आश्चर्य के साथ सुना कि हमारे भावी आचार्य श्री कालूगणी हैं।

वि० सं० १९६६ भाद्र शुक्ला १५ को कालूगणी का पट्टाभिषेक हुआ। तेतीस वर्ष की अवस्था में पूज्य कालूगणी तेरापन्थ के अधिनायक बने।

वय और विद्या

विद्याध्ययन के लिए काल की कोई मर्यादा नहीं है। समूचा जीवन

उसी के लिए है और होना चाहिए। ज्ञान-विज्ञान की अनन्तचर्चा में स्वल्प जीवन गोचर नहीं होता, फिर भी विद्योन्मुख व्यक्ति बहुत कुछ आगे बढ़ जाता है, नई-नई शाखाओं पर अधिकार कर लेता है। कालूगणी का समूचे जीवनकाल में विद्या के प्रति प्रबल अनुराग बना रहा। साठ वर्ष की आयु में भी हाथ में पन्ने का सतत योग दर्शकों के लिए आश्चर्य का विषय था। आचार्य बनने के बाद तेतीस वर्ष की अवस्था में कालूगणी ने अढ़ाई महीनों में 'सिद्धांत चन्द्रिका' समग्र कंठस्थ की। आचार्यश्री हेमचन्द्र कृत 'अभिधान चिन्तामणिकोष' को पहले ही वे कंठाग्र कर चुके थे। यथासमय कालूगणी की शिक्षा सम्बन्धी बहुमुखी प्रवृत्तियां सजीव हो उठीं। अपने शिष्य-समुदाय को शिक्षा-विकास की प्रेरणा दी। अनेक अर्द्धवयस्क या वयस्क साधु इस महायज्ञ में जुट गए।

महान् कृति

आचार्य कालूगणी की इच्छा हुई—एक बाल सुबोध व्याकरण बनाई जाए, जिससे ज्ञान की कमी न रहे और समय कम लगे। उसके अभाव में अन्तर्काल में 'सिद्धांत चन्द्रिका' का अध्ययन चालू रहा। सं० १९८० में व्याकरण की रचना का कार्य प्रारम्भ हुआ। इस शिवाल कार्य में मुनिश्री चौथमलजी और आशुकविरत्न पं० रघुनन्दनजी ने अपना पूर्ण योग दिया। उस महाव्याकरण का नाम है 'भिक्षुशब्दानुशासन।' तेरापन्थ की शिक्षा-प्रणाली में उसी का प्रयोग होता है। वह सांगोपांग महाव्याकरण कालूगणी के शासनकाल की महान् कृति और तेरापन्थ के विद्या-विकास का राजद्वार है। व्याकरण-निर्माण के बाद आप साहित्य, दर्शन आदि-आदि विषयों को एक-एक कर व्यापक बनाते चले गए। साहित्य-रुचि के कारण साधु-संघ में कविता की अविरल धारा बह चली। राजस्थानी भाषा के अच्छे-अच्छे कवि कालूगणी के सम्पर्क में आए और साहित्य-निधि को देख बड़े आश्चर्यान्वित हुए। उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कवियों ने जो गीत और श्लोक लिखे हैं, वे उनकी हादिक श्रद्धा को व्यक्त करने वाले हैं।

निर्माण के कुशल शिल्पी : आचार्य कालूगणी

महामनस्वी कालूगणी का व्यक्तित्व विराट् था। केवल अपनी विशेषताओं के कारण ही विराट् नहीं था किन्तु दूसरों के व्यक्तित्व-निर्माण में सिद्धहस्त होने के कारण भी विराट् था। उन्होंने अनेक व्यक्तियों के जीवन का निर्माण किया। उनके जीवन की क्षमताओं को पल्लवित, पुष्पित और फलित होने का अवसर दिया। व्यक्तित्व निर्माण की मुख्य सामग्री थी—प्रेम, अनुशासन और विकास के प्रति जागरूकता। अनुशासन करना बहुत लोग चाहते हैं पर अनुशासन करना बहुत कम लोग जानते हैं। जितना विराट् प्रेम उतना सुदृढ़ अनुशासन।

संदर्भ हस्तलिपि का

आचार्यवर के हृदय में प्रेम या वात्सल्य की अजस्र धारा बहती थी। उसमें स्नान कर भी व्यक्ति सहज ही निष्णात हो जाता था।

उन दिनों की घटना है। हम अनेक बाल-साधु अध्ययन कर रहे थे। हमारे संघ में हस्तलिपि की कला विकसित थी और प्रत्येक विद्यार्थी साधु हस्तलिपि करने में कौशल अर्जित करता था। नव-सिखुओं के लिए रेत में वर्णमाला लिखी जाती। वे उसे देख-देख अक्षर जमाने का अभ्यास करते। आचार्यवर की हस्तलिपि बहुत सुन्दर थी। उन्होंने वर्णमाला की अनेक काठपट्टियाँ लिख रखी थीं। जो साधु हस्तलिपिका का अभ्यास करते वे हरताल से लिखी हुई वर्णमाला पर खडिया मिट्टी और बरू की कलम से लिखते। हम लोग एक दिन में अनेक बार वे पाटियाँ लिखते और लिखकर आचार्यवर को दिखाते। इसके बाद स्वतंत्र लिखकर आचार्यवर को दिखाते। मेरे सहपाठी सभी साधु हस्तलिपि में दक्ष हो गए थे। मेरी हस्तलिपि सुन्दर नहीं बनी।

वि० सं० १९८९ की घटना है। आचार्यवर बीदासर में विराज रहे थे। हम सबने अपनी-अपनी हस्तलिपि आचार्यवर के सामने प्रस्तुत की। मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी वहीं उपस्थित थे। वे सबकी हस्तलिपि को सराहते गए। जब मेरा लिखा हुआ पन्ना उनके सामने आया तो वे बोले—‘नत्थू का अक्षर तो डागले सुखावे जिसा है।’ अर्थात् गोबर के उपले जैसे हैं। यह सुनकर आचार्यवर ने कहा—‘कोई चिंता की बात नहीं है, इसके अक्षर अपने

आप ठीक हो जाएंगे।' मैं आचार्यवर के आत्म-विश्वास पर मुग्ध हो गया। मैंने मन ही मन संकल्प किया कि मैं हस्तलिपि को सुन्दर बनाकर रहूंगा।

संकल्प की पूर्ति

आचार्यवर की मारवाड़ यात्रा शुरू हुई। छोटी खाटू में हम सबकी हस्तलिपि की फिर परीक्षा हुई। उसमें भी मुझे छोड़कर सब उत्तीर्ण हुए। उस समय भी आचार्यवर ने मुझे प्रोत्साहित किया। कुछ दिनों बाद मेरी आंखों में दाने हो गए। कई महीनों तक मैं लिख-पढ़ नहीं सका। उस वर्ष का चातुर्मास जोधपुर में हुआ। आंखों के कुछ दाने कम हुए। मैंने लिखना-पढ़ना शुरू किया। चातुर्मास सम्पन्न होने पर आचार्यवर पाली पधारे। वहां मैंने भगवान् पार्श्व की यमक स्तुति लिखी। वह मैंने मेरे विद्यागुरु मुनि तुलसी को दिखाई। उन्होंने उसे देखकर हर्ष प्रकट किया। उनके स्मित चेहरे को देखकर मैं समझ गया कि मेरा संकल्प पूर्ण हो गया है। मैं अपने संकल्प की पूर्ति का हर्ष लिए हुए आचार्यवर के पास पहुंचा और वह प्रति आचार्यवर के हाथों में रखी। आचार्यवर उसे देखते ही प्रसन्न हो गए। वे बोले—'अब तुम्हारी हस्तलिपि ठीक हो गई है। अब तुम कुछ हस्तलिपियां तैयार करो।' आचार्यवर का आत्म-विश्वास सफल हुआ और मेरा संकल्प पूर्ण हुआ। मैं हस्तलिपि करने में भी दक्ष माना जाने लगा। मैंने मुनिवर तुलसी के आदेशानुसार 'उपदेश की चौपाई' लिखनी शुरू की। उसका एक पन्ना लिखता और उसे आचार्यवर को दिखा देता। प्रत्येक पन्ने पर आचार्यवर हर्ष प्रकट करते। आचार्यवर की उस हर्षित मुद्रा ने मेरी हस्तलिपि का ही परिष्कार नहीं किया किन्तु मेरे विकास की लिपि को भी परिष्कृत कर दिया। कितना अच्छा होता कि उनकी उपस्थिति में ही मैं इस अज्ञात रहस्य को ज्ञात कर पाता।

व्यक्तित्व की व्याख्या : दो रूप

'ज्योति राख से आवृत न हो'—यह था उस व्यक्तित्व का केन्द्र, जिसका अनुभव प्रथम दर्शन में ही हो जाता था।

'ज्योति की रश्मियां सुदूर तक फैलें'—यह थी उस व्यक्तित्व की परिधि, जिस तक पहुंचना सबके लिए सुलभ था।

आचार्यवर कालूगणी के व्यक्तित्व की सम्पूर्ण व्याख्या इन दो सूत्रों में है। इनसे हटकर हम उनके व्यक्तित्व को व्याख्यायित नहीं कर सकते।

जिसके पास पहुंचकर कोई अनावरण का अनुभव नहीं करता, वह कैसा सन्त और कैसा उसका व्यक्तित्व? जिसके पास पहुंचकर कोई प्रकाश का अनुभव नहीं करता, वह कैसा संत और कैसा उसका व्यक्तित्व?

आचार्यवर इस कसौटी पर उत्तीर्ण सन्त थे। उनके पास जो कोई भी

पहुँचा, उसकी ज्योति अनावृत हुई और उसने अपना जीवन-पथ आलोक से आलोकित देखा ।

करुणा का स्रोत

आचार्यवर करुणा के धारावाही स्रोत थे । उनकी वाणी, आँखों, हाथों और कर्म से उसकी धारा प्रवाहित होती रहती थी । उससे सब लोग लाभान्वित होते रहते थे । ऐसा त्रेजस्वी नक्षत्र किसी विरल व्यक्ति की ही कुंडली में होता है, जिसके प्रभाव से हर कोई यह अनुभव करे कि मेरे नेता का अनुग्रह मुझ पर बहुत होता है । कोई हीनता का अनुभव न करे, दूरी का अनुभव न करे, यह कितनी बड़ी बात है । वह बड़ी बात आचार्य कालूगणी के व्यक्तित्व में घटित थी । उन्होंने करुणा का इतना दान दिया कि जितना हर कोई नहीं दे पाता । उनके करुणा-जल का सिंचन पाकर मेरे जैसे अनेक बीज विराट् की दिशा में गतिशील हुए हैं । अतीत का अवगाहन करने पर कुछ स्मृतियाँ उभर रही हैं । वे साक्ष्य हैं उनकी करुणा की धारा के प्रवाह की ।

बड़ा बनने का गुर

वि० सं० १९८९ की घटना है । आचार्यवर टमकोर से विहार कर राजगढ़ जा रहे थे । एक छोटे से गांव में प्रवास था । मैं और मुनि बुद्धमल्लजी आचार्यवर की सन्निधि में बैठे थे । उस समय कालूगणी ने हमें एक श्लोक सिखाया—

बालसखित्वमकारणहार्यं स्त्रीषु विवादमसज्जनसेवा ।

गर्दभयानमसंस्कृतवाणी, षट्सु नरो लघुतामुपयाति ॥

बच्चे के साथ मित्रता, बिना कारण हंसना, स्त्रियों के साथ विवाद, दुर्जन की सेवा, गधे की सवारी और अशुद्ध वाणी—इन छह बातों से आदमी छोटा बनता है ।

आचार्यवर ने कहा— जो बड़ा बनना चाहे, उसे इन बातों से बचना चाहिये । आचार्यवर का यह सहज स्वर हमारे अवचेतन तक पहुँच गया । हम छुटपन की एक बीमारी से मुक्त हो गए । हम दोनों में अकारण हंसने की आदत थी । हम आहार और अध्ययन करते समय भी बैठे-बैठे हंसने लग जाते । कोई छोटी-मोटी बात होने पर भी अपनी हंसी को रोक नहीं पाते । तारानगर में आहार करते समय हम हंस पड़े । मुनि पूनमचंदजी उसमें साथ थे । उनके लिए हमें मंत्री मुनि मगनमलजी का उलाहना सहना पड़ा । वहीं 'अभिधानचिंतामणि' नाममाला के श्लोकों का वाचन करते समय हम हंसी को रोक नहीं पाए । फलतः हमारे विद्यागुरु महामनीषी मुनि तुलसी ने कुछ दिनों तक हमारा वाचन बन्द कर दिया । हम चाहते थे कि हम अकारण ही

न हंसे या छोटी-सी बात पर आने वाली हंसी को रोक सकें। किन्तु सहज ही कोई ऐसी आदत अजित हो गई थी कि हम अपनी हंसी पर रोक नहीं लगा पा रहे थे।

आचार्यवर द्वारा प्रदत्त बोधपाठ जैसे-जैसे अवचेतन की गहराइयों में उतरा वैसे-वैसे हम उस आदत से मुक्त होते चले गए और एक दिन उससे पूर्ण मुक्त हो गए।

स्वावलम्बन का पाठ

आचार्यप्रवर श्री कालूगणी जोधपुर की ओर विहार कर रहे थे। डीडवाना से प्रस्थान होना था। सूर्योदय हो गया। प्रस्थान की तैयारी हो रही थी। मैं आचार्यवर के पास जाकर खड़ा हो गया। उन्होंने मुझे देखा और ध्यान से देखा। फिर पूछा—तुम्हारा बोझ कहाँ है? यह प्रश्न स्वाभाविक था। हर मुनि अपना बोझ स्वयं उठाता है। मेरे कंधे खाली थे। इसलिए उन्हें यह प्रश्न पूछना आवश्यक लगा।

मैंने उस प्रश्न के उत्तर में कहा—मैं आज अस्वस्थ हूँ इसलिए दूसरे संतों ने मेरा बोझ ले लिया है। आचार्यवर ने स्वर को तेज करते हुए कहा—क्या इतने अस्वस्थ हो कि कुछ बोझ लेकर चल नहीं सकते। मैंने कहा—ऐसा तो नहीं है पर संत मुझे बोझ लेने नहीं दे रहे हैं, तब मैं क्या करूँ? आचार्यवर ने कहा—सामान्य अवस्था में खाली नहीं चलना चाहिए। आचार्यवर ने मुनि तुलसी (आचार्य तुलसी) को बुलाकर कहा—इसे अपनी निश्चा का बोझ दे दो। वह खाली कैसे चलेगा? मुझे अपनी निश्चा का बोझ मिल गया और डीडवाना से प्रस्थान हो गया।

करुणा का निदर्शन

लाडनूँ में मर्यादा-महोत्सव हो रहा था। सर्दी तेज पड़ रही थी। बर्फीली हवा चल रही थी। मुनि तुलसी के लिए सूरजमल बैंगानी के घर से होमियोपैथी दवा की पुड़िया लानी थी। मैं दवा लेने गया। आचार्यवर जंगल में घूमकर स्थान पर आए। उन्होंने आते ही पूछा—‘नत्थू कहाँ है?’ संतों ने कहा—दवा लाने गए हैं। आचार्यवर ने कहा—आज सर्दी बहुत है। देखो! वह कम्बल ओढ़कर गया है या नहीं। संतों ने मेरी निश्चा के उपकरण देखे, कम्बल वहीं पड़ा था। मैं उसे ओढ़कर नहीं गया था। संतों ने आचार्यवर को इसकी सूचना दी। उन्होंने कहा—वह सर्दी से ठिठुर जायेगा। कम्बल लेकर उधर चले जाओ, जिधर वह गया है। दो मुनि कम्बल लेकर मेरे सामने पहुँचे। मैं आचार्यवर की करुणा से अभिभूत हो गया। उन्होंने मुझे सर्दी की ठिठुरन से ही नहीं बचाया किन्तु उस प्रकरण से भी बचा लिया, जिसके आघात से हर आदमी

प्रकम्पित है।

दो घटनाएं

सं० १९८९ की घटना है। आचार्यवर श्री डूंगरगढ़ में विराज रहे थे। मैं उनके उपपात में बैठा था। उन्होंने अपने पुट्टे से भर्तृहरि के 'नीतिशतक' की एक बहुत सुन्दर हस्तलिखित प्रति निकाल कर मुझे दी। मैं मेरे सहपाठियों के बीच गया। मैंने वह प्रति मुनि बुद्धमल्लजी को दिखाई। वे तत्काल आचार्यवर के पास गए और 'नीतिशतक' की एक प्रति मांगी। आचार्यवर ने कहा—अब उसकी प्रति कहां है? वह तो दे दी गई। उन्होंने फिर मांग की। आचार्यवर का करुणाशील मानस पसीज गया। उन्होंने मुनिश्री चौथमलजी के पुट्टे में जो 'नीतिशतक' की प्रति थी, वह मंगा कर मुनि बुद्धमल्लजी को दी। ऐसी ही एक घटना कविता के एक पत्र को लेकर हुई। मुनि बुद्धमल्लजी को वह मिल गया। मैं वहां उपस्थित नहीं था। मुझे नहीं मिला। मुनि बुद्धमल्लजी ने वह पत्र मुझे दिखाया। मैंने आचार्यवर के पास जाकर वैसा ही पत्र मांगा। वैसा कविता-पत्र उपलब्ध नहीं था तब आचार्यवर ने उन्हीं कविताओं का एक पत्र लिखवा कर मुझे दिया।

घटना मूल्यवान् नहीं होती

घटनाएं बहुत छोटी-छोटी सी लगती हैं। हम लोग घटनाओं की दुनिया में अधिक जीते हैं इसलिए उन्हीं घटनाओं का ही मूल्यांकन करना जानते हैं। घटना के पीछे जो प्राण होता है, जो चेतना होती है, जो घटना को जन्म देती है, उसका मूल्यांकन करना नहीं जानते। इसीलिए बड़ी घटनाओं पर हमारा ध्यान जाता है। छोटी घटनाओं की हम उपेक्षा कर जाते हैं। यही हमारे जीवन की सबसे भयंकर भूल होती है।

जीवन का निर्माण बड़ी या छोटी घटना से नहीं होता। उसके पीछे छिपी हुई करुणा से होता है, हृदय की सद्भावना से होता है। पीछे भी सद्भावना से भरे व्यक्ति के हाथों से जलाभिषेक पाकर लहलहा उठते हैं और क्रूर हाथों से जलसिंचन पाने वाले मुरझा जाते हैं। फिर विकसित चेतना वाले मनुष्यों की जीवन-संरचना की सरणि इस विधि का अपवाद कैसे हो सकती है?

श्रम और अनुशासन

आचार्यवर की करुणा छत्र बनी हुई थी उन सबके लिए, जो मानसिक ताप से संरक्षण चाहते थे। दूसरों की सुरक्षा उनका पवित्र कर्तव्य हो गया था। वे स्वयं में बहुत सुरक्षित थे। उनका संयम इतना सघन था कि वे सहज ही दूसरों को त्राण दे सकते थे। एक बार कालूगणी तारानगर से विहार कर सरदारशहर पधार रहे थे। रास्ते में बूदाबूदी होने लगी। बादल मंडरा

रहे थे । उस समय प्लास्टिक के आवरण सुलभ नहीं थे । कपड़े पर मोम लगाकर खोलियां बनाते थे और उनसे हस्तलिखित प्रतियों की सुरक्षा करते थे । तेज वर्षा में उनकी सुरक्षा कठिन हो जाती । आचार्यवर हस्तलिखित ग्रन्थों की सुरक्षा के लिए बहुत सजग थे । वर्षा तेज हो गई । आचार्यवर ने सब साधुओं को एक जगह खड़े रहने का आदेश दिया । सब साधु खड़े हो गए । पुस्तकें उनके कन्धों पर थी । ऊपर से दो चिलमिलियां तान दीं । आचार्यवर घुटने के दर्द के कारण हाथ में गेडिया रखते थे । उन्होंने गेडिया ऊंचा कर उन चिलमिलियों को ढलवां कर दिया । पानी नीचे सरकता गया । आचार्यवर आधा घंटा तक खूब परिश्रम करते रहे । उनके श्रम ने पुस्तकों को भीगने से बचा लिया ।

उस करुणा की मिट्टी में निर्माण के बीज नहीं उगते, जिसमें श्रम और अनुशासन के तत्त्व नहीं होते । आचार्यवर श्रम के देवता और अनुशासन के अधिष्ठाता थे । उनकी अनुशासनात्मक कठोरता कम नहीं थी । वे अनुशासन के पक्ष में वज्र से भी कठोर थे पर वह कठोरता कटुता का रूप नहीं ले सकी । इसका कारण भी उनकी करुणा की व्यापकता है ।

अपेक्षा है—हमारे मानस की करुणा के सुप्त बीज उनकी करुणा के महास्रोत से कुछ सिंचन पाएं । उनकी स्मृति का परिणाम हमारे जीवन की एक परिणति बन जाए ।

आचार्य तुलसी : नए मूल्यों की स्थापना

एक आदमी ने पूछा—आचार्य तुलसी कौन हैं। मैंने कहा—मनुष्य हैं। उसे सन्तोष नहीं हुआ। फिर पूछा तो मैंने कहा—धार्मिक हैं। उसने सोचा—मैं कुछ छिपा रहा हूँ। फिर जिज्ञासा की तो मैंने बताया—जैन धर्म में दीक्षित हैं। 'इससे आगे भी उनका कोई परिचय है?' इस प्रश्न के उत्तर में मैंने कहा—तेरापन्थ के आचार्य हैं। जिज्ञासा का तार और आगे बढ़ा तो मैंने कहा—अणुव्रत-आंदोलन के प्रवर्तक हैं।

प्रश्नकर्त्ता दो क्षण के लिए चिन्तन की गहराई में डूब गया। उसके ललाट पर रेखाएँ खिंच गईं। वह प्रकृतिस्थ होकर बोला—आप बुरा न मानें तो मैं एक शंका का समाधान चाहता हूँ।

—इसमें बुरा मानने की क्या बात है? जो आपके मन में हो, वह कहिए?

—मैंने सुना है कि अणुव्रत-आंदोलन असांप्रदायिक है। क्या एक सम्प्रदाय का आचार्य असांप्रदायिक आंदोलन का प्रवर्तन या संचालन कर सकता है?

—आचार्यश्री तुलसी अनेकांत में विश्वास करते हैं। अनेकांत का अर्थ है—दो विरोधी धर्मों के सह-अस्तित्व का स्वीकार। इसलिए एक व्यक्ति में सांप्रदायिक और असांप्रदायिक—दोनों भाव हो सकते हैं।

—सम्प्रदाय का अर्थ जानना चाहता हूँ।

—सम्प्रदाय का अर्थ है निश्चित गुरु-परम्परा का स्वीकार।

—तब इसमें बुरा क्या है?

आचार्यश्री बहुत बार कहते हैं—सम्प्रदाय बुरा नहीं है। बुरी है सांप्रदायिकता।

—सांप्रदायिकता का अर्थ?

—अपने सम्प्रदाय से भिन्न सम्प्रदायों के प्रति घृणा, तिरस्कार तथा अनादर का भाव रखने वाली मनोवृत्ति। इस संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण ही सम्प्रदाय बदनाम हुए हैं।

—आचार्यश्री की मनोवृत्ति असंकीर्ण कहां है? उनका मानवीय पक्ष धार्मिकता से, धार्मिक पक्ष जैन-धर्म से और जैन-धर्म तेरापन्थ से सीमित है। इस सीमाकरण में असंकीर्णता कैसे हो सकती है?

—बुले आकाश में कोई भी नहीं रह सकता । प्रत्येक आदमी रहने के लिए घर बनाता है । घर में कमरा बनाता है । कमरे में एक चारपाई रखता है । घर कमरे से सीमित, कमरा चारपाई से और चारपाई उसके शरीर से सीमित है किन्तु इस सीमा में असीम का विरोध नहीं है । वही सीमाकरण हानिकर होता है, जिसमें असीम के लिए कोई अवकाश नहीं रहता । वह सम्प्रदाय सीमित होकर भी असीम से कटा हुआ नहीं होता, जो अनन्त सत्य को अपनी ही बांहों में सिमटा हुआ नहीं मानता ।

—आचार्यश्री जिस सम्प्रदाय का नेतृत्व कर रहे हैं, क्या वह इतना उदार है कि दूसरे सम्प्रदायों की अच्छाइयों को स्वीकार कर सके ?

—अनुदार सम्प्रदाय उदार आचार्य को सहन नहीं कर सकता । आचार्यश्री घर में आकाश का अस्तित्व मानते हैं किन्तु दूसरों के घरों में आकाश नहीं है, ऐसा नहीं मानते ।

—आप बुरा न मानें तो एक बात और पूछना चाहता हूं ?

—जिज्ञासा में कोई बुराई नहीं है, यदि केवल जिज्ञासा ही हो ।

उसने सकुचाते हुए पूछा—तेरापन्थ दूसरे सम्प्रदायों के साधुओं को साधु नहीं मानता । क्या यह सच है ?

मैंने मुस्कराते हुए कहा—क्या यह सच है कि मेरे घर में जो बिजली है, उससे प्रकाश होता है और दूसरे के घरों में जो बिजली है, उससे अंधेरा होता है ?

—यह कैसे हो सकता है ?

—तो यह भी कैसे हो सकता है कि एक सम्प्रदाय की सीमा में ही साधुत्व हो और दूसरे में उसका अभाव ही हो । कोई भी प्रबुद्ध समाज यह दावा नहीं करता कि हमारे सिवाय सब बुरे हैं । हम भले हैं, यह मानने का अधिकार हो सकता है और इतना आत्मविश्वास होना ही चाहिए । किन्तु अपूर्णता की प्याली में विष-बिन्दु नहीं घोलने चाहिए कि इस प्याली के बाहर जो है, वह सारा का सारा जहर ही है ।

—आपकी सहिष्णुता ने मुझे बहुत प्रभावित किया है । क्या मैं अन्तिम प्रश्न भी पूछ सकता हूं ?

मैंने अन्तिम प्रश्न का आशय पूछा तो उसने कहा—प्रारम्भ में मैं उसे पूछने की धृष्टता नहीं कर सकता था किन्तु क्या अब पूछ सकता हूं ?

मैंने उसे प्रश्न प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी तो उसने कहा—मैंने सुना है कि तेरापन्थ दया-दान का विरोधी है ?

—कोई भी धर्म है और वह दया का विरोधी है, यह ठीक वैसे ही है जैसे अग्नि है और उष्णता का विरोधी है । दया धर्म का आधार है । जिसका हृदय क्रूर होता है, वह धार्मिक नहीं हो सकता । धार्मिक वही हो

सकता है, जिसके अन्तःकरण में दया का विर्भर प्रवाहित रहता है।

—क्या यह बिलकुल झूठा आरोप है ?

—नहीं, बिलकुल झूठा नहीं है। इसमें आंशिक सच्चाई भी है। दया को अनेक प्रचलित पद्धतियों में तेरापन्थ का विश्वास नहीं है।

—जैसे ?

—चींटियों को आटा डालना और दूकान में बैठकर ग्राहकों को घोखा देना—इस दोहरी नीति में दया की अपेक्षा छलना ही अधिक प्रतीत होती है।

—ग्राहकों को घोखा देना अपनी रोटी का प्रश्न है, उसे आप दया के साथ क्यों जोड़ते हैं ?

—चींटियों के प्रति दया का व्यवहार और मनुष्यों के प्रति क्रूरता का व्यवहार, क्या यह अंतस् का विरोधाभास नहीं है ? नहीं है तो कैसे ? यदि है तो क्या दया की धारणा परिमार्जनीय नहीं है ?

—परिमार्जन का मतलब ?

—सामाजिक न्याय और औचित्य को धार्मिक रूप देना धर्म और सामाजिक कर्तव्य की मर्यादा का अतिक्रमण या सम्मिश्रण करना है। यह अवांछनीय स्थिति है। इसका परिमार्जन अपेक्षित है।

—परिमार्जन का रूप क्या हो सकता है ?

—सामाजिक कर्तव्य को सामाजिक मूल्य देना और धर्म को धार्मिक मूल्य देना।

—इससे दया के पुराने मूल्य विघटित हो जाएंगे।

—प्राचीन मूल्यों के विघटन के भय से नए मूल्यों की स्थापना नहीं की जानी चाहिए ?

—नए मूल्यों की स्थापना का निषेध नहीं किया जा सकता। किन्तु....

—‘किन्तु’ से आपका तात्पर्य है कि उससे समाज की व्यवस्था डगमगा जाएगी। जिस समाज में दया दान न हो, वह समाज कैसे चल सकता है ?

मैंने विनोद की भाषा में कहा—भाई साहब ! दया-दान का युग बीत चुका है, अब सहयोग और अधिकार का युग आ गया है। आज दया के नाम पर वे ही लोग जीते हैं, जो पिछड़े हुए हैं। आज का प्रगतिशील व्यक्ति दया के नाम पर भीख मांगना नहीं चाहता, वह सामाजिक न्याय और अधिकार चाहता है।

आज का प्रबुद्ध वर्ग दान के प्रचलित रूप को बढ़ावा देकर अपने राष्ट्र को भिखारियों का देश बनाना नहीं चाहता।

—फिर समाज के असहाय या असमर्थ अंग की व्याख्या कौन करेगा ?

—सरकार करेगी या समाजसेवी संस्थाएं करेंगी ।

—वे किसलिए करेंगी ?

—सरकार जनता की है । वह जनता से कर लेती है । इसलिए जनता के जीवन-यापन की व्यवस्था करना उसका कर्तव्य है ।

समाज की आधारभूति है—परस्परता यानी एक-दूसरे का सहयोग करना । अतः समाज के असमर्थ वर्ग का सहयोग करना समाज-सेवी संस्थाओं का कर्तव्य है ।

—व्यक्तिगत रूप से भी सामाजिक सहयोग करना व्यक्ति का कर्तव्य है ।

—किन्तु इस कर्तव्य को सामाजिक भूमिका से हटाकर धार्मिक या आध्यात्मिक भूमिका में आरोपित करने का अर्थ क्या है ? यह समझ में नहीं आता ।

मैं समझा, आप दया-दान का निषेध नहीं करते । उनका रूपांतर और स्थानांतर चाहते हैं ।

—आपने ठीक कहा । हम दया-दान को मिटाना नहीं चाहते किन्तु उनकी भूमिकाओं को स्पष्ट करना चाहते हैं । हमारा स्पष्ट अभिमत है कि जब तक मनुष्य सामाजिक रहेगा, तब तक अनुकम्पा और सहयोग की भावना भी न्यूनाधिक मात्रा में रहेगी । जो धर्म में विश्वास करता है, उसमें भी रहेगी और जो धर्म में विश्वास नहीं करता, उसमें भी रहेगी । हम मनुष्य की इस सामाजिक प्रकृति को धार्मिक प्रकृति का रूप देकर उन लोगों को कष्ट और सहयोग की भावना से वंचित करना नहीं चाहते, जो धर्म में विश्वास नहीं करते ।

समाज की व्यवस्था तब डगमगाती है जब हम कष्ट और सहयोग को समाज के लिए अनावश्यक मानते हैं । हम ऐसा नहीं मानते । हम उन्हें सामाजिक जीवन की प्रकृति मानते हैं । क्या समाज अपनी प्रकृति को छोड़कर चल सकता है ? सुगंध को छोड़ देने पर फूल का अस्तित्व ही क्या रह जाता है ?

—मैंने आपके आशय को इस रूप में समझा है कि तेरापथ दया-दान का विरोधी नहीं है । दया-दान की प्रचलित व्याख्याओं और भूमिकाओं से उसका मतभेद है ।

—आपने ठीक रेखा खींची है । मतभेद और विरोध को भिन्न मानने पर उलझनें समाप्त हो जाती हैं । अहिंसा को सभी धर्म वाले मानते हैं पर उसकी परिभाषा में बहुत मतभेद है । परिभाषा एक न होने पर क्या किसी

पर अहिंसा-विरोधी होने का आरोपण किया जा सकता है ?

—तेरापन्थ पर यह आरोपण क्यों किया जाता है ?

—मनुष्य की यह सहज प्रकृति है। वह चाहता है—दूसरे उसी भाषा में सोचे, जिसमें वह सोचता है, उसी भाषा में बोले, जिसमें वह बोलता है और वही आचरण करे, जो वह करता है। नए विचारों को वह सुनना-समझना पसंद नहीं करता इसलिए अंतरिक्ष के किसी कोने में नया स्वर उठता है तो सामने से प्रतिक्रिया का स्वर गूँज उठता है।

उसका चिन्तन मनुष्य-स्वभाव के विश्लेषण में खो गया और मैं इस चिन्तन में तदात्म हो गया कि मनुष्य जितना दूसरों के लिए सोचता है, उतना अपने लिए नहीं सोचता।

आचार्य तुलसी : यथार्थ की व्याख्या

मानवतावाद का युग

पुराना युग अवतारों और भगवानों का युग था। आज मानवता का युग है। किन्तु आज भी अनेक धर्मनेता भगवान् बनने की धुन में अपने आपको खोए जा रहे हैं। वे भगवान् बनने के लिए इतने लालायित हैं कि येन-केन प्रकारेण वे अपने आपको भगवान् कहलाना चाहते हैं। किन्तु आचार्यश्री से कोई पूछता है—आप कौन हैं? आचार्यश्री कहते हैं—‘मैं सबसे पहले मानव हूँ।’ इसका अर्थ है—वे मानव ही बने रहना चाहते हैं। इसीलिए मैंने लिखा—

तुम्हें भगवान् बनना पसन्द नहीं है,
भगवानों को इन्सान रहना पसन्द नहीं है।
तुमने इन्सान रहना पसन्द किया,
हमने इन्सान को ही सम्मान देना पसन्द किया,
तुम हमें पसन्द हो,
हम तुम्हें पसन्द हैं,
इसीलिए यह युग तुम्हारे लिए भी अच्छा है,
हमारे लिए भी अच्छा है।

आचार्यश्री ने जब से तेरापन्थ की बागडोर संभाली है तब से उनका मन निष्प्राण परम्पराओं के प्रति विद्रोह करता रहा है। मैंने प्रारम्भ से इस विद्रोही चिन्तन को देखा है।

प्रश्न विशुद्ध मानवता का

चालीस वर्ष पहले की बात है। आचार्यश्री के मन में जातिवाद के प्रति एक चिन्तन उठा। उनका चिन्तन था—‘मानव-मानव एक है। मानव की विभिन्न जातियां उसके लिए अभिशाप सिद्ध हुई हैं।’

मैंने इस विचार को पकड़ा। एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी। उसमें ‘जातिवाद’ के विषय में एक अध्याय था। आचार्यश्री ने उसे देखा और कहा—अभी रहने दो। समाज इसको पचा सकेगा या नहीं, कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। उन्होंने दो क्षण सोचकर दृढ़ता के साथ कहा—‘हमें जब इन तथ्यों की स्थापना करनी ही है तो फिर भय किसका। ऊहापोह

होगा, होने दो।' इस किताब को लोगों के सम्मुख रख दो। यह विशुद्ध मानवता का प्रश्न है।' यह था उनका साहस।

मानवता की गाथा गाने वाले आज के इस युग में आचार्यश्री का नाम पहला रखा जाएगा या पहले के आस-पास रखा जाएगा। इसलिए मैं मानता हूँ कि आज मानवतावाद का युग है।

दोनों ओर बगावत है

आचार्यश्री को अपनी नौका दो तटों के बीच सँ खेनी पड़ रही है। एक ओर महान् तार्किकों को साथ लिए चलना पड़ रहा है तो दूसरी ओर सामान्य अनपढ़ लोगों को भी साथ लिए चलना पड़ रहा है। एक ओर है मार्क्सवाद और दूसरी ओर है अनपढ़ लोगों की धार्मिक आस्था। इन दोनों तटों के बीच आचार्यश्री अपनी नौका निपुणता से खे रहे हैं। एक ओर परम्पराओं को निभाते जाना है तो दूसरी ओर क्रांति की सड़क का भी निर्माण करना है। दोनों ओर बगावत है, इसीलिए मैंने लिखा।

तुम कभी रेतीले रास्ते पर चलते हो।

जब धूल पैरों को पकड़ने लगती है तब

सड़क जमा लेते हो।

तुम दोनों पैरों से चलते हो,

इसलिए यह युग

तुम्हारे लिए भी अच्छा है

हमारे लिए भी अच्छा है।

तुम पठार के रास्ते पर चलते हो,

नुकीले पत्थर जब पैरों को छीलने लग जाते हैं

तब मखमली जूते पहन लेते हो।

तुम बौं धोड़ों पर एक साथ चलते हो।

इसलिए यह युग

तुम्हारे लिए भी अच्छा है

हमारे लिए भी अच्छा है।

बदल चुका है युग

आचार्यश्री ने धर्म का यथार्थवादी रूप प्रस्तुत कर मानव जाति का हित किया है। पौराणिक बात सबको पसन्द आती है इसीलिए हमारे प्राचीन आचार्यों ने धर्म की पौराणिक बातों को कहकर जनता को आकृष्ट किए रखा किन्तु आज युग बदल चुका है। आज यथार्थवाद को प्रश्रय मिल रहा है।

आज ही मैंने पाकिस्तान के राष्ट्रपति भुट्टो का भाषण पढ़ा।

उन्होंने सचाई के साथ अपने हाकी खिलाड़ियों की भूल स्वीकारते हुए जर्मनी से क्षमायाचना की और सारी स्थिति का यथार्थ विश्लेषण किया। उसे पढ़कर लगा—आज के धार्मिक भी इतने साहस के साथ सचाई को प्रकट नहीं कर सकते। वे कतरा जाते हैं।

वर्तमान मनुष्य धर्म के यथार्थवादी रूप को स्वीकार कर सकता है, समझ सकता है, क्रियान्वित कर सकता है। जब तक धर्म का आभास मात्र बना रहता है तब तक यथार्थ सामने नहीं आता।

क्रान्ति : सफलता का आधार

मैंने आचार्यश्री को सत्यद्रष्टा और सत्य के प्रबल समर्थक के रूप में देखा है, स्वीकार किया है। बहुत बार आचार्यश्री ऐसी बात कह जाते हैं कि लोग असमंजस में पड़ जाते हैं, साधु भी असमंजस में पड़ जाते हैं। किन्तु उनका यह साहस उनकी आत्मिक सचाई और अपने हृदय की अनुभूति को न दबाने की मनोवृत्ति का परिणाम है। वे सचाई को रोकते नहीं, उसे जनता के सामने प्रकट कर देते हैं।

वर्तमान की परिस्थिति में सचमुच धर्म को बहुत बड़ी चुनौतियाँ मिल रही हैं, लोग क्रान्ति की बात कर रहे हैं किन्तु कोई भी क्रान्ति, कोई भी परिवर्तन जिसके नीचे नैतिकता का धरातल मजबूत नहीं होता, वह सफल नहीं हो सकती, टिक नहीं सकती। आज जो क्रान्ति आ रही है, वह नैतिकता-विहीन क्रान्ति आ रही है।

आचार्यश्री ने जो नैतिकता का सूत्र प्रारंभ किया है, आंदोलन शुरू किया है, उसका मूल्य इसीलिए हमारी समझ में आ रहा है।

नैतिक क्रान्ति के सूत्रधार

जब अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात हुआ तब लोगों ने बहुत स्वागत नहीं किया क्योंकि उसका आवरण बढ़िया नहीं था। किन्तु निष्पत्ति-काल में देखेंगे—वह कितना सफल हुआ है। चाहे हिन्दुस्तान की कोई सामाजिक क्रान्ति हो या आर्थिक, उसके नीचे हमेशा नैतिक क्रान्ति को महत्त्व देना होगा। नैतिक क्रान्ति को छोड़कर कोई क्रान्ति सफल हो नहीं सकती। आज नैतिक क्रान्ति के सूत्रधार के रूप में आचार्यश्री तुलसी हमारे सामने हैं। हम एक नैतिक क्रान्ति के सूत्रधार के रूप में उनका अभिनन्दन कर रहे हैं और हम यह शुभ कामना करते हैं कि उनकी नैतिक क्रान्ति की लो ज़्यादा-से-ज़्यादा प्रज्वलित हो, वह भारतीय समाज को ज़्यादा-से-ज़्यादा प्रकाश दे।

आचार्य तुलसी : ज्योतिर्मय साधक

गुरु और गुरुत्व

मुनि होना जीवन की एक बहुत बड़ी घटना है। और कुछ होने में आदमी संचित करता है, मुनि होने वाला विसर्जन करता है—शरीर का विसर्जन, इच्छा का विसर्जन, संकल्प का विसर्जन और अहं का विसर्जन। शिष्यत्व अहं का विसर्जन है, इसीलिए शिष्य गुरु को चुनता है। तुलसी एक दिन मुनि बने, शिष्य बने। महामना कालू को अपना गुरु चुना। अहं से इतने खाली हुए कि गुरु ने उन्हें भर दिया। इतना भरा कि बाईस वर्ष की छोटी-सी अवस्था में स्वयं गुरु बन गए। तेरापंथ की परम्परा में गुरु ही किसी को गुरु बनाता है, अतः कहा जा सकता है कि गुरु प्रदत्त होता है किन्तु गुरुत्व प्रदत्त नहीं हो सकता। आचार्य तुलसी ने अपने गुरुत्व को विकसित किया और इतना किया कि जिससे यह अनुभव नहीं हुआ कि वह गुरु प्रदत्त है। उन्होंने विद्या का वितरण किया—अपने शिष्यों में, गुरु-भाइयों में और आस-पास के समूचे वातावरण में। कुछ ही वर्षों में तेरापंथ का मनीषी वर्ग ज्ञान के शिखर को छूने लगा।

नैतिकता और धर्म

ज्ञान तभी कृतार्थ होता है जब उसकी निष्पत्ति आचार में होती है। ग्यारह वर्ष तक ज्ञान की अजस्र धारा प्रवाहित कर आचार्यश्री ने आचार की प्रतिष्ठा की। क्रियाकांड से आवृत धर्म अनावृत किया। नैतिकता का स्वर मुखर हो गया। लगा, जैसे कोई मसीहा आया है—सचाई, ईमानदारी और प्रामाणिकता के परांग को बिखेरने के लिए। उसके कण इतने विकीर्ण हो गए हैं कि आज नैतिकता-शून्य धर्म की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। कोई श्रेय दे या न दे, किन्तु इतिहासकार यह श्रेय देने में कृपण नहीं करेगा कि नैतिकता-विहीन धर्म की धारणा को आचार्यश्री तुलसी ने बदला है।

नेतृत्व की निष्पत्ति

मैं नहीं मानता कि कोई आदमी सबका हृदय बदल दे और सबको ईमानदार बना दे। किन्तु जो आदमी जनता को इसकी अनुभूति करा दे कि वह धर्म व्यक्ति और समाज का भला नहीं कर सकता, जिसकी पहली निष्पत्ति नैतिकता का विकास न हो, वही वास्तव में धर्म का नेता होता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि आचार्य तुलसी ने इस युग में धर्म का नेतृत्व किया है, साथ-साथ समन्वय का नेतृत्व किया है। धर्म के मंच पर संगठन और एकता को प्राणवान् बनाया है। उन्होंने और भी बहुत कुछ किया है किन्तु जीवन का यह एक ही पहलू ऐसा है, जिसमें बहुत कुछ समा जाता है। यह मुनित्व की निष्पत्ति है, गुरुत्व की निष्पत्ति है और धर्म के नेतृत्व की निष्पत्ति है।

साधना का पचासवां वर्ष

आचार्य तुलसी केवल मुनि नहीं हैं, जो अपने में लीन रहे। वे केवल गुरु नहीं हैं, जो अपने संप्रदाय का नेतृत्व करे। वे धर्म की उस महान् परम्परा के नेता हैं, जिसमें समूची मानवजाति और प्राणी-जगत् का हित सन्निहित है। उनका कार्य है—सबके लिए प्रकाश की रश्मियों को प्रसारित करना।

उनकी ज्योतिर्मय साधना का पचासवां वर्ष (वि० सं० १९८२-२०३२) पूरा हो रहा है, इसका सबको हर्ष और गौरव है। सब चाहते हैं कि इस ज्योतिर्मय साधना के अग्रिम वर्ष और अधिक ज्योति को विकीर्ण करे। अध्यात्म और विज्ञान में ऐसा समन्वय करे, जिससे बुद्धि धर्म के प्रति प्रणत हो जाए और धर्म की गरिमा को बढ़ाए।

आचार्य तुलसी को आलोक रेखाएं

आचार्यश्री तुलसी भारतीय आत्मा के उज्ज्वल प्रतीक हैं। वे जैन मुनि हैं। निवृत्ति की धारा के महान् समर्थक हैं। फिर भी वे न अकर्मण्य हैं और न निराशावादी। उनकी कर्मण्यता बहुत आश्चर्य में डाल देती है। वे अनेक बार अपने खाने और सोने का समय भी दूसरों के लिए अर्पित कर देते हैं। उनका आशावाद बहुत बार असफलता को भी सफलता में परिणत कर देता है। उनकी भाषा में—‘अन्तरतम की हित-साधना की प्रवृत्ति का नाम ही निवृत्ति है।’ संन्यास को वे पलायन नहीं किन्तु आन्तरिक चैतन्य के विकास के लिए मौन व एकान्त परिस्थिति मात्र मानते हैं।

अणुव्रत आंदोलन का लक्ष्य

उनका कार्यक्षेत्र न केवल वैयक्तिक है और न केवल सामाजिक। वे सापेक्षवाद में विश्वास करते हैं। इसलिए व्यक्ति और समाज को न सर्वथा भिन्न मानते हैं और न सर्वथा अभिन्न, किन्तु भिन्नाभिन्न मानते हैं। उन्होंने व्यक्ति और समाज—दोनों की शुद्धि के लिए अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। स्वतंत्र भारत के शैशव में इस आन्दोलन में चरित्र-विकास की जो प्रेरणाएं दी हैं, जन-मानस को नैतिक आधार दिया है और बढ़ती हुई अनैतिकता के विरोध में जो क्रांति की है, वह स्वयं में एक महान् इतिहास है।

आचार्यश्री ने अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से जीवन के सभी क्षेत्रों का स्पर्श किया है। वे भौतिक विकास की उपेक्षा सामाजिक प्रणाली के लिए संभव नहीं मानते। उन्होंने यही कहा है—‘भौतिक विकास के साथ नैतिक विकास का संतुलन बना रहे। आज जो भय, संदेह और अशांति है, उसका हेतु अध्यात्म-पक्ष की दुर्बलता है। अणुव्रत-आंदोलन का लक्ष्य है आध्यात्मिक चेतना को जागृत करना।’

जीवन का क्रियात्मक पक्ष : संयम

युग का प्रवाह विज्ञान की ओर है। बुद्धिवाद का स्थान सर्वोपरि है। फिर भी जटिलताएं बढ़ रही हैं। मनुष्य उलझ रहा है। सहज ही प्रश्न होता है—ऐसा क्यों? इसका समाधान आचार्यश्री ने एक छोटे से वाक्य में दिया है। वह यह है—‘आज का मनुष्य अज्ञ नहीं किन्तु मूढ़ है।’ मोह से

लिप्त ज्ञान-विज्ञान मनुष्य के लिए वरदान नहीं होता। इसीलिए आचार्य श्री ने सुभाया कि प्रत्येक व्यक्ति संयमी बने। कुछ लोगों की मान्यता रही—संयम जीवन का निषेधात्मक पक्ष है, उससे जीवन का विकास नहीं होता। आचार्यश्री ने अपना अनुभव इस भाषा में प्रस्तुत किया—‘मैं संयम को जीवन का सर्वोपरि क्रियात्मक-पक्ष मानता हूँ। असंयम स्वीकारात्मक-पक्ष है, इसलिए वह जीवन की महानता का ध्वंसात्मक रूप है। संयम अस्वीकारात्मक-पक्ष है, इसलिए वह जीवन की महानता का निर्माणात्मक रूप है।’

समाज और राज्य का आधार : नैतिक चेतना

समाज, राज्य और धर्म-संप्रदाय—ये तीन महान् संस्थान हैं। इनकी सम्यक् स्थिति पर ही अरबों व्यक्तियों का भाग्य निर्भर है। उन्हें कर्तव्य-बोध देते हुए आचार्यश्री ने कहा—‘कुछ सामाजिक प्रथाएं आज बन्धन बन गई हैं। उनसे जकड़े हुए लोग नैतिकता को तिलांजलि दे रहे हैं। इस स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि सभी समाजों की समान स्थिति के लिए एक समान आचार-संहिता बने और वह समाज के लोगों द्वारा ही बने। उसका आधार नैतिक चेतना को उत्तेजना मिले, यह होना चाहिए।

राजनीति की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के प्रति दुःख प्रकट करते हुए आचार्यश्री ने सुभाया—‘राजनयिक एक सामान्य आचार-संहिता को मान्य करें और सभी राजनयिक दलों के प्रतिनिधियों का एक ऐसा संस्थान हो, जो आचार-संहिता की साधारण बातों के पालन और अपालन का सह-विमर्श कर सके और अपने-अपने दल को चेता सके।’

साम्प्रदायिक सद्भाव के पांच सूत्र

आचार्यश्री एक धर्म-संप्रदाय के आचार्य हैं। फिर भी साम्प्रदायिकता पर उन्होंने सदा प्रहार किए हैं। धार्मिक लोगों की दुर्बलता को वे स्वयं स्वीकार करते हैं। वे बहुधा कहते हैं—धार्मिकों में अभेद की अपेक्षा भेद खोजने की वृत्ति अधिक है। धर्म की व्याख्या भिन्न होने पर भी हमें असहिष्णु नहीं होना चाहिए। दूसरे धर्म या सिद्धांत के प्रति असहिष्णु होने वाला सबसे पहले धर्म को नष्ट करता है। सम्प्रदाय-मैत्री के लिए समान आचार-संहिता होनी चाहिए। आचार्यश्री ने अपने विश्वास को समन्वय के पांच सूत्रों में अभिव्यक्ति दी।^१ वह पंचसूत्री कार्यक्रम समन्वय की दृष्टि से आज भी महत्वपूर्ण बना हुआ है।

विद्या भी खतरा है

आचार्यश्री शिक्षा को बहुत आवश्यक मानते हैं पर अनुशासन और

चरित्रविहीन शिक्षा को वे बहुत उपयोगी नहीं मानते। उन्होंने इस बात पर बल दिया—‘उच्च शिक्षा का अधिकारी वही माना जाए जौ विनय, अनुशासन और संयम के प्रति निष्ठावान् हो।’ अनुशासनहीनता की कटु अनुभूतियों के बाद अब शिक्षा-अधिकारियों में भी यह चिन्तन होने लगा है। आचार्यश्री ने विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए कहा—‘चारित्रिक संतुलनविहीन विद्या भी खतरा है। विद्यार्थी को पहले चरित्रार्थी होना चाहिए, फिर विद्यार्थी। चरित्रार्थी विद्यार्थी न हो तो भी चल सकता है। इसमें विशेष प्राप्ति नहीं है तो मूल में भूल भी नहीं है। किन्तु विद्यार्थी चरित्रार्थी न हो तो वह मूल में भूल है।’

तेजस्विता का मूलमंत्र

युवक की भाषा में कहते हैं—‘आदमी शक्ति का पुंज है, क्या वह कभी बूढ़ा होता है ? तुम मत मानो कि मैं बूढ़ा हो गया हूं, फिर देखो तुम कैसे बूढ़े होते हो ? निराशा असमय में बूढ़ा बना देती है। आशावान् सदा युवक रहता है।’ आचार्यश्री अवस्था और जवानी का गठबन्धन स्वीकार नहीं करते। उनका मत है—जिस व्यक्ति में उत्साह, आशा और प्रसन्नता है, वह सत्तर वर्ष का होकर भी युवा है। जिसमें ये तत्त्व नहीं हैं, वह बत्तीस वर्ष का होकर भी बूढ़ा है।

आचार्यश्री के उत्साह ने भावना को संपुष्टि दी है और भावना ने कर्म को। उनका धर्म-समन्वित कर्म उनकी तेजस्विता का मूल मंत्र है।

राष्ट्रीय चेतना के सजग प्रहरी : आचार्य तुलसी'

चेतना और संपदा

राष्ट्र की समृद्धि के दो प्रधान अंग होते हैं—चेतना और सम्पदा । जो राष्ट्र चेतना से समृद्ध किन्तु सम्पदा से विहीन होता है, वह विकलांग होता है । जो राष्ट्र सम्पदा से समृद्ध किन्तु चेतना से विहीन होता है, वह विकलांग और खतरनाक होता है । सकलांग और कल्याणकर वही होता है, जो चेतना और सम्पदा—दोनों से समृद्ध हो ।

समृद्धि के इस परिप्रेक्ष्य में हम पर्यालोचन करें तो प्रतीत होगा कि हिन्दुस्तान के लिए चेतना और सम्पदा—दोनों का विकास अपेक्षित है ।

हिन्दुस्तान : वर्तमान स्थिति

आज हिन्दुस्तान की चेतना ऊर्ध्वमुखी नहीं है । यदि सामाजिक चेतना ऊर्ध्वमुखी होती तो भेद-बुद्धि इतनी नहीं बढ़ती । हर सामाजिक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपने ही समाज का अंग मानकर उसके साथ प्रामाणिक, न्याय पूर्ण, नैतिक और संतुलित व्यवहार करता किन्तु आज ऐसा नहीं है ।

यदि आध्यात्मिक चेतना ऊर्ध्वमुखी होती तो भेद-बुद्धि इतनी नहीं बढ़ती । प्रत्येक आध्यात्मिक मनुष्य पदार्थों को अपना और अपने लिए ही नहीं मानता किन्तु आज ऐसा हो रहा है । इसी स्थिति का अंकन करते हुए आचार्यश्री ने एक बार कहा था—‘आज का भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में व्यक्तिवादी हो रहा है और अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में समाजवादी हो रहा है । वह सामाजिक होकर अपनी ही चिन्ता करता है इसलिए वह समाज के परिप्रेक्ष्य में व्यक्तिवादी है और वह आध्यात्मिक कहलाकर भी दूसरों के सुधार जाने के बाद अपने सुधार की बात सोचता है इसलिए वह अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में समाजवादी है ।’

यह अंकन ही उनके कार्यक्रमों का आधार है । अणुव्रत आन्दोलन इसी अंकन की उपज है । यह आन्दोलन हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता के साथ-साथ प्रवृत्त हुआ । वह इसी दिशा में काम करता रहा है कि सामाजिक चेतना का प्रवाह स्वार्थ की दिशा में न जाए और आध्यात्मिक चेतना का प्रवाह साम्प्रदायिक संकीर्णता की ओर न जाए ।

सत्य और सम्प्रदाय

आचार्यश्री तुलसी सत्य के अनुसंधित्सु हैं। वे जैन मुनि हैं। एक महान् सम्प्रदाय के आचार्य हैं। किन्तु उनका मुख सम्प्रदाय की ओर नहीं है। उन्होंने आत्म-विश्लेषण करते हुए लिखा—मैं संप्रदाय की गतिशील परम्परा के अर्थ में स्वीकार करता हूँ। साम्प्रदायिकता रूढ़ परम्परा में पनपती है। साम्प्रदायिकता की रेखा संप्रदाय को माध्यम न मानकर, मूल मानने से खिचती है। मूल सत्य है। सत्य की उपलब्धि के लिए सम्प्रदाय मुझे मान्य है। जब सत्य सम्प्रदाय के लिए हो जाता है तब सम्प्रदाय साध्य बन जाता है, यह स्थिति मुझे मान्य नहीं है। मैं मानता हूँ—जहाँ सम्प्रदाय सत्य से शासित नहीं होता किन्तु सत्य संप्रदाय से शासित होने लग जाता है वहाँ धर्म निष्प्राण और तेज-शून्य हो जाता है।

जरूरी है योग

अणुव्रत सत्य की शोध और अभिव्यक्ति का सर्व सामान्य मंच है। वह सत्य से आबद्ध है, किसी संप्रदाय से आबद्ध नहीं है। उसके परिपार्श्व में सामाजिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकार की चेतना के जागरण का प्रयत्न हुआ है। कोरी सामाजिक चेतना के जागरण से समाजवादी व्यवस्था की ओर गति हो सकती है पर उससे आन्तरिक शून्यता नहीं भरती। कोरी आध्यात्मिक चेतना के जागरण से आन्तरिक शून्यता भरने की ओर गति हो सकती है पर उससे सामाजिक अपेक्षाएं परिपूर्ण नहीं होती। व्यवस्था के परिशोधन और आत्मिक उद्बोधन—इन दोनों का समुचित योग ही जीवन के प्रति सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण है।

उभयप्रकाशी है अध्यात्म

आचार्यश्री अध्यात्म जगत् के उज्ज्वल नक्षत्र हैं। वे अध्यात्म को उभय प्रकाशी मानते हैं। उनकी मान्यता का स्वर है—केवल स्व-प्रकाशी होना शेष जगत् का अस्वीकार है। केवल पर-प्रकाशी होना अपने आपका अस्वीकार है। स्व-पर-प्रकाशी होना अहं और जगत्—दोनों का स्वीकार है। यह स्वीकृति ही पूर्णता की स्वीकृति है।

आचार्यश्री ने धार्मिक जगत् के सम्मुख यह प्रश्न बहुत तीव्रता से प्रस्तुत किया है—धार्मिक के अन्तःकरण में, आलोक और व्यवहार में अंधकार, इस द्वैध ने धर्म के प्रति अ-निष्ठा का भाव जगाया है। धार्मिक जगत् यदि धर्म के प्रति पुनः निष्ठा की प्रतिष्ठा चाहता है तो उसके लिए उभयप्रकाशी होना आवश्यक है।

अध्यात्म के ध्रुव सत्य

आचार्यश्री ने अध्यात्म के ऐसे ध्रुव सत्य प्रस्तुत किए हैं, जो वर्तमान

समाज की प्रगति के लिए नितान्त अपेक्षित हैं—

- अध्यात्म-शून्य बुद्धिवाद मनुष्य को भटकाने वाला होता है ।
- साधना की गहराई में समुदायवाद और व्यवहार की चोटी पर व्यक्तिवाद—ये दोनों भ्रान्त हैं ।
- नग्न सत्य के बिना सवस्त्र सत्य कोरा आभास होता है तो सवस्त्र सत्य के बिना कोरा नग्न सत्य अनुपादेय । इसलिए इन दोनों की सहावस्थिति ही मनुष्य को सत्य की उपलब्धि करा सकती है ।
- धर्म-संस्थान के बिना अध्यात्म प्रगतिशील नहीं रह सकता ।
- भौतिकता मनुष्य को विभक्त करती है । उसकी एकता अध्यात्म के क्षेत्र में ही सुरक्षित है ।
- धर्म-संस्थान राजनीति और परिग्रह से निर्लिप्त रहकर ही अपना अस्तित्व रख सकते हैं ।
- वर्तमान जीवन में मोक्ष की अनुभूति करके ही कोई धार्मिक या आध्यात्मिक बन सकता है । केवल परलोक के लिए धर्म करने वाला अच्छा धार्मिक नहीं बन सकता ।
- आध्यात्मिक एकता का विकास होने पर ही सह-अस्तित्व का सिद्धांत क्रियान्वित हो सकता है । जातिवाद, भाषावाद, संप्रदायवाद और राष्ट्रवाद की सीमाएं निर्विकार हो सकती हैं । अभेद-बुद्धि को विकसित किए बिना कोई भी व्यक्ति दूसरों को नहीं अपना सकता ।
- धर्म को सर्वोच्च उपलब्धि मानकर ही मनुष्य साम्राज्यवादी या आक्रामक मनोवृत्ति को त्याग सकता है ।

यथार्थ दृष्टि

आचार्यश्री हर समस्या को यथार्थ की दृष्टि से देखते हैं । वे जहां एकीकरण के समर्थक हैं वहां विश्लेषण के भी समर्थक हैं । वे हिंसा को अहिंसा मानने में विश्वास नहीं करते । वे इस बात में विश्वास करते हैं कि सामाजिक जीवन में अहिंसा का विकास क्रमिक होता है । हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की लड़ाई चल रही थी । उन दिनों आचार्यश्री दिल्ली में थे । कविवर दिनकरजी मिलने आए । बातचीत के प्रसंग में वे बोले—आपकी अहिंसा के साथ इस युद्ध की संगति कैसे हो सकती है ?

आचार्यश्री ने कहा—हमारी अहिंसा की संगति जैसे परिग्रह के साथ होती है वैसे ही युद्ध के साथ हो सकती है ।

दिनकरजी—कैसे ?

आचार्यश्री—परिग्रह और सुरक्षा—दोनों एक ही रस्सी के दो सिरे हैं। जिसने जिस क्षण परिग्रह किया है, उसने उसी क्षण सुरक्षा का दायित्व भी अपने पर ओढ़ा है। अहिंसा जब परिग्रह को ही मान्यता नहीं देती तब वह युद्ध को मान्यता कैसे देगी ? किन्तु इस कोटि की अहिंसा किसी अकिंचन साधक की हो सकती है, सामाजिक व राष्ट्रीय भूमिका की नहीं हो सकती।

यह था यथार्थ का स्वीकार। उसने वार्ता का आकार यहीं सम्पन्न कर दिया।

बोध : उद्बोध : संबोध

आचार्यश्री ने साहित्य-जगत् को बड़ी देन दी है। प्राकृत-साहित्य की विशाल राशि को हिन्दी-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत करने का महान् कार्य उनके यशस्वी हाथों से सम्पन्न हो रहा है। वे स्वयं समर्थ लेखक, कवि और व्याख्याता हैं। उन्होंने उभय-प्रकाशी के सिद्धांत को व्यवहार में भी क्रियान्विति दी है। उनके हाथों से अनेक समर्थ लेखक, कवि और साहित्यकार निर्मित हुए हैं।

आचार्यश्री मनसा मृदु और वचसा पटु हैं। उनकी मृदुता और पटुता ने जन-जन को उद्बुद्ध किया है। एक बार कुछ लोग आए, उन्होंने आचार्यश्री के साथ शास्त्रार्थ की स्थापना का आग्रह किया। आचार्यश्री ने कहा—आप शास्त्रार्थ किसलिए चाहते हैं ? उन्होंने स्पष्ट भाषा में कहा—आपको हराने के लिए। आचार्यश्री ने सस्मित उत्तर दिया—आपका उद्देश्य सत्य की उपलब्धि का नहीं है, केवल हराने का है। उसके लिए शास्त्रार्थ के समारंभ की क्या आवश्यकता है ? आप ऐसे ही मान लीजिए—मैं हार गया और आप जीत गए। इस मृदुता ने उन्हें सदा के लिए उद्बुद्ध बना दिया। बोध, उद्बोध और संबोध की कथावस्तु के कुशल कथाशिल्पी का हम शत-शत अभिनन्दन करते हैं और कामना करते हैं कि वे चिरायु हों।

जीवन कला के केन्द्र : आचार्य तुलसी

बहुत कम लोग हैं जीवन को समझने वाले और उनसे भी बहुत कम हैं जीवन को जीने वाले। आचार्य श्री तुलसी जीवन को जीने वालों की पंक्ति में प्रथम व्यक्ति हैं। हमारा जीवन अनेक सीमा बंधनों में बंधा हुआ है। कर्म संस्कार, आनुवंशिकी, पर्यावरण आदि-आदि की परतंत्रता से नियंत्रित जीवन जीना और उसमें स्वतंत्रता की अनुभूति करना एक विशेष उपलब्धि है। परतंत्रता के घेरे में स्वतंत्रता की अनुभूति वही कर सकता है, जिसका पराक्रम, पुरुषार्थ और उदात्त चिन्तन अमाप्य होता है। आचार्य श्री तुलसी को मैंने पराक्रम और पुरुषार्थ के मूर्तिमान व्यक्ति के रूप में देखा है।

पराक्रम और पुरुषार्थ का योग

बाईस वर्ष की अवस्था से बहत्तर वर्ष की अवस्था तक एक जैसे पराक्रम का प्रस्फुटन होना और सतत कार्य में संलग्न रहना कोई छोटी बात नहीं है। मानव धर्म के व्याख्याता के रूप में आचार्य श्री ने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। नैतिकता विहीन धर्म समाज के लिए धोखा बन जाता है और नैतिकता विहीन समाज मानव जाति के लिए अभिशाप बन जाता है। इस सचाई को समझने के लिए लंबी-लंबी पदयात्राएं की। पंजाब से कन्या-कुमारी तक और राजस्थान से बंगाल तक साठ-सत्तर हजार किलोमीटर की पदयात्रा अपने आप में एक आश्चर्य है। एक गांव से दूसरे गांव में जाना, प्रवचन करना, हजारों-हजारों लोगों से साक्षात् संपर्क करना, उन्हें सचाई समझाना—ये सारी प्रवृत्तियां यात्रा के दौरान चलतीं। इन प्रवृत्तियों के साथ-साथ स्वाध्याय, ध्यान, साहित्य निर्माण तथा आगम-संपादन आदि कार्य निष्पन्न करना पराक्रम और पुरुषार्थ के योग के बिना संभव नहीं हो सकता।

परिवर्तन ही विश्राम है

सुविधावादी दृष्टिकोण और सुविधावादी जीवन जीना सही अर्थ में जीवन को नहीं जीना है। श्रमनिष्ठ दृष्टिकोण और श्रमपूर्ण जीवन ही वास्तविक जीवन को जीना है। आचार्य श्री ने ऐसा जीवन जिया है। इसलिए जो जीवन जीने की कला सीखना चाहते हैं, उन सबके लिए वे वंदनीय बने हुए हैं। बहुत लोग अनुरोध की भाषा में कहते हैं—आचार्यप्रवर ! आप विश्राम किया करें। आचार्यश्री उन्हें दो उत्तर देते हैं। पहला उत्तर होता

है—कार्य परिवर्तन ही मेरा विश्राम है। जब मैं एक कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य में लग जाता हूँ तब मैं अपने आपको बिल्कुल ताजा अनुभव करता हूँ। दूसरा उत्तर होता है—मैं बाहर में प्रवृत्ति करता हूँ और भीतर में निवृत्ति रहता हूँ। थकान उसको आती है, जो भीतर में प्रवृत्ति करता है, प्रवृत्ति और निवृत्ति में संतुलन बनाना नहीं जानता। यह संतुलन एक आध्यात्मिक व्यक्ति ही बना सकता है।

समस्या है प्रवृत्ति का अतिवाद

पटना विश्वविद्यालय में आचार्य श्री का स्वागत किया जा रहा था। स्वागत में बोल रहे थे—राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर'। उन्होंने कहा—आज की समस्या है—प्रवृत्ति का अतिवाद। आचार्यवर हम आपसे निवृत्ति का पाठ पढ़ना चाहते हैं, हमारे प्रवृत्ति चक्र ने हमें अणु-अस्त्रों के युग तक पहुंचा दिया है। उसकी विभीषिका से बचने का एक मात्र कोई उपाय है तो वह है प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन।

जीवन जीना है और प्रवृत्ति के साथ जीना है। निवृत्ति से जीवन नहीं जिया जा सकता। शांतिपूर्ण जीवन जीना है तो वह निवृत्ति के साथ ही जिया जा सकता। प्रवृत्ति से कभी शांतिपूर्ण जीवन नहीं जिया जा सकता।

दो समस्याएं

आज का विश्व मानसिक शांति और विश्व शांति—दोनों समस्याओं में उलझा हुआ है। आचार्य श्री ने इन दोनों समस्याओं को सुलझाने में अपना योग दिया है। उसमें उनका उदात्त चितन बहुत सार्थक रहा है। एक प्रसंग बना। कुछ लोग आए और बोले—आचार्यवर ! हमारा बहुत बड़ा विरोध हो रहा है। इस विरोध में विद्यार्थी भी सम्मिलित हो गए हैं। बड़ा जुलूस निकलेगा। पूरे शहर में अशांत वातावरण बन जाएगा। उन लोगों ने परिस्थिति को भयावह चित्र खींचा। आचार्य श्री ने तत्काल शांत स्वर में कहा—चिंता नहीं, चितन करो। व्यथा नहीं, व्यवस्था करो। चिंता चितन में बदल गई। आने वाले व्यक्तियों ने समस्या के विभिन्न पहलुओं पर चितन किया, पहाड़ जैसी समस्या पाषाण बनकर रह गई।

अन्तर्दृष्टि सम्पन्न व्यक्तित्व

समाज को बौद्धिक लोगों की जरूरत होती है पर उनसे भी अधिक जरूरत होती है अन्तर्दृष्टि-संपन्न व्यक्तियों की। वह समाज, संगठन और राष्ट्र सीमाग्यशाली होता है, जिसका मार्गदर्शन अन्तर्दृष्टि (इन्ट्यूशन पावर) संपन्न व्यक्ति करते हैं। आचार्य श्री को अन्तर्दृष्टि सहज ही अपनी साधना से प्राप्त है। उन्होंने अनेक बार समाज को भविष्यत् का दर्शन दिया है। अणुव्रत आन्दोलन के साथ-साथ उन्होंने नए मोड़ का कार्यक्रम शुरू किया। सर्वप्रथम

सोने के आभूषण पहनना कम करो—यह अभियान चलाया। उस समय स्वर्ण नियन्त्रण प्रस्ताव नहीं आया था। आचार्य श्री ने कहा—तेरह तोले से ज्यादा सोना नहीं पहना जाए। सैंकड़ों-सैंकड़ों तोला सोना पहनने वाली महिलाओं के लिए यह एक नई बात थी। इस बात को आश्चर्य के साथ सुना गया। कुछ लोगों ने इसका विरोध भी किया। अभियान चलता रहा, बल पकड़ता रहा और हजारों-हजारों परिवार इससे प्रभावित हुए। स्वर्णाभूषण पहनने की रूढ़ि बदलने लगी। जब स्वर्ण-नियन्त्रण की विधि मोरारजी भाई ने प्रस्तुत की तो सहज नियन्त्रण वाली बात जनता के लिए आश्चर्य का विषय बन गई।

नेतृत्व और भविष्य-दर्शन

राजस्थान में पर्दा प्रथा को समाप्त करने वाली बात भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझी जा सकती है। नेतृत्व और भविष्य-दर्शन—दोनों एक साथ जुड़े हुए हैं। अच्छा नेता भविष्य-द्रष्टा होगा। भविष्य-दर्शन के बिना कुशल नेतृत्व नहीं दिया जा सकता। तत्कालीन केन्द्रीय वित्तमंत्री सी० सुब्रमण्यम ने काले धन की समस्या सामने रखी। आचार्यश्री ने कहा—दो नंबर को एक नंबर बनाने का अवसर दिया जाए तो क्या समाधान नहीं हो सकता? वित्तमंत्री ने उस सूत्र को पकड़ा। उसका प्रयोग किया। सफलता का गुर समझ में आ गया।

पराक्रम और पुरुषार्थ निस्पृहता का पोषण पाकर ही चिरजीवी हो सकते हैं। आचार्यश्री पदार्थ जगत् के प्रति बहुत निस्पृह हैं। स्पृहा मनुष्य को दुर्बल बनाती है। हमें यात्राओं के दौरान अनुभव हुआ कि स्पृहा नहीं है इसलिए अनायास सुविधाएं उपलब्ध हो जाती हैं।

अमृत महोत्सव

आचार्य श्री ने एक सम्प्रदाय के आचार्य का जीवन जिया है। उस जीवन में उदार दृष्टिकोण की सुगन्ध, मानवता के कल्याण की सरसता और अध्यात्म के अन्तस्तल की प्रतिध्वनि है। उसमें सृजनात्मक प्रवृत्ति के बीज पल्लवित हुए हैं। इस दुनिया में जन्म लेने वाला कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो समीक्षणीय न हो, जिसकी आलोचना न होती हो। पर ऐसे व्यक्ति विरल होते हैं, जो समीक्षा और आलोचना को अमृत की भांति पी जाए। आचार्य श्री ने अनेक बार विष को अमृत की भांति पिया है। इसीलिए उनका जीवन जीने जैसा जीवन है। जनता उनसे जीना सीखे। अमृत महोत्सव के पवित्र अवसर पर हम बंदना करते हैं और यह आशंसा करते हैं—दीप से दीप जले, प्रकाश की एक रश्मि वातावरण को आलोकमय बनाए।

पूर्णता के साधक : आचार्य तुलसी

महानतम देन

आचार्यश्री का आज साठवां जन्म-दिवस है। आचार्यश्री तुलसी ने अतीत को देखा है और उसे अपूर्णता के सन्दर्भ में देखा है। बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं, जो अतीत को बहुत सुनहला मानते हैं, पूर्ण मानते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने अतीत को देखा। अतीत के साथ जुड़ी हुईं जो कमियाँ हैं, उनको भी देखा। कमियों को देखा किन्तु रुके नहीं, साथ-साथ में उन कमियों को पूरा करने का प्रयत्न भी किया। यह अतीत की कमियों को पूरा करने का प्रयत्न ही आचार्य तुलसी के जीवन की महानतम देन है।

आचार्य तुलसी और नैतिकता

आचार्य तुलसी ने देखा—धर्म है किन्तु धर्म के साथ नैतिकता नहीं है। नैतिकता-विहीन धर्म आज चल रहा है। बड़ी अजीब बात है कि धर्म तो चले किन्तु नैतिकता को उससे काट दिया जाए। कहा जाता है—हाथी तो निकल जाता है किन्तु पूँछ अटक जाती है। हाथी पूरा का पूरा समा जाता है किन्तु पूँछ के लिए अवकाश नहीं है।

प्रश्न है—नैतिकता-विहीन कोई धर्म हो सकता है? जिस धर्म की निष्पत्ति नैतिकता न हो, वह अगर धर्म हो सकता है तो उस धर्म से बढ़कर दुनिया में और कोई धोखा नहीं हो सकता। दुनिया के साथ अगर कोई बड़ा विश्वासघात है तो वह धर्म है, जिसके साथ नैतिकता नहीं है, जिसका प्रतिबिम्ब और परिणाम नैतिकता नहीं है। आचार्यश्री तुलसी ने इस बात को पकड़ा और खूब तेजी के साथ पकड़ा इसीलिए आज नैतिकता आचार्य तुलसी का पर्याय बन रही है। आचार्य तुलसी माने नैतिकता और नैतिकता माने आचार्य तुलसी।

नया कदम

आश्चर्य की बात है—जिस धर्म ने क्षमा की बात कही, जिस धर्म ने आत्मा की समानता की बात कही, जिस धर्म ने एक ब्रह्म को ही सबका रूप बतलाया, शास्त्रों के इन सिद्धांतों को धार्मिक लोग दुहराते जाते हैं, रटते जाते हैं किन्तु जहाँ व्यवहार का प्रश्न होता है वहाँ सब-कुछ भुला बैठते हैं। जब व्यवहार की बात आती है तो एक दरी पर भी बैठने के लिए तैयार

नहीं होते। इस दरी पर अगर तुम पानी पीते हो तो मैं उठकर चला जाता हूँ, यह बात उपस्थित हो जाती है। यह कितना बड़ा मजाक है धर्म के साथ ! इससे बढ़कर धर्म का कोई मखोल हो नहीं सकता। किन्तु यह मखोल चल रहा है। आचार्यश्री तुलसी ने इसका अनुभव किया और उन्होंने जो भगवान् महावीर का पुराना स्वर था—मनुष्य जाति एक है—उसके लिए काम शुरू किया।

भीतर और बाहर का अन्तर

आचार्यश्री तुलसी की लोग प्रशंसा करते हैं। शायद प्रशंसा का पलड़ा भारी नहीं है। जितनी प्रशंसा मिलती है, उससे ज्यादा आलोचना होती है। कहा जाता है—गुरु की आलोचना नहीं करनी चाहिए। किन्तु मैंने देखा है—आचार्य श्री तुलसी की आलोचना तो उनके शिष्य भी करते हैं और वे शिष्य करते हैं, जो उनके सामने उनके चरणों में सिर रखते हैं और बाहर जाकर कहते हैं—देखो ! आचार्यश्री को क्या हो गया है ? अब तो वे भंगियों और महाजनों को एक करना चाहते हैं। यह क्या हो रहा है ? इतनी आलोचना शायद मैंने किसी धर्माचार्य की नहीं सुनी। वे यह भी नहीं कहते—आचार्यश्री बुरा करते हैं। वे कहते हैं—आचार्यश्री बहुत अच्छे हैं, संयम पालते हैं, अहिंसा का व्रत पालते हैं, अपरिग्रह का व्रत पालते हैं, सब कुछ ठीक है किन्तु कुछ काम ऐसे करते हैं, जिन्हें समाज स्वीकृत नहीं कर सकता। न जाने समाज को कहां ले जाएंगे ? ये वही लोग हैं, जो बाहर आलोचना करते हैं।

आलोचना की पृष्ठभूमि

आचार्यश्री का जीवन विविधताओं का जीवन है। बहुत सारी बातें अजीब-सी लगती हैं। यह आलोचना की भूमिका स्वयं आचार्यश्री तुलसी ने तैयार की है। वे स्वयं इन बातों की पृष्ठभूमि अपने हाथों से बना रहे हैं। यदि जनता को सीधा मोक्ष या भगवान् से मिलाने वाला हो तो उसकी पूजा होगी, प्रशंसा होगी, आलोचनाएं नहीं होंगी। किन्तु आचार्यश्री तुलसी यह नहीं कहते कि खूब आनन्द करते चले जाओ, मौज-मस्ती से जियो और मोक्ष भी मिल जाएगा, भगवान् भी मिल जाएंगे। आचार्य तुलसी हर जगह 'क्यों' और 'कैसे' का प्रश्न उपस्थित कर देते हैं। वे 'कैसे' पर विचार करते हैं। वे कहते हैं—धर्म को आगे बढ़ाया जा सकता है पर 'कैसे' ? नैतिकता की प्रभावना की जा सकती है पर 'कैसे' ? आचार्यश्री ने 'कैसे' को कभी नहीं भुलाया। आचार्यश्री उन व्यक्तियों में नहीं हैं, जो सिद्धांत की बात कहें और अमल दूसरों पर छोड़ दें।

प्रश्न निर्णय और क्रियान्विति का

एक चूहा बिल्ली से बहुत डरता था। उसने सोचा—क्या करूँ ? उल्लू उसका पुराना मित्र था। वह अपने मित्र के पास जाकर बोला—बिल्ली से बहुत डर लगता है, क्या करूँ ? उसने कहा—तुम बिल्ली बन जाओ। चूहा बोला—आपने बहुत सुन्दर सुझाव दिया। चूहा फूला नहीं समाया और अपने घर चला गया। घर पर जाने के बाद सोचा—बिल्ली तो बन जाऊँ, पर कैसे ? बिल्ली बनना कोई हाथ की बात तो नहीं है। फिर जाकर उल्लू से बोला—आपने बिल्ली बनने का बहुत सुन्दर सुझाव दिया, किन्तु बन् कैसे ? उल्लू बोला—यह भी मुझसे ही पूछना चाहते हो ? नीति का निर्णय करना मेरा काम है और अमल करना तुम्हारा काम है।

निदर्शन

आचार्य तुलसी ऐसे व्यक्तियों में नहीं है, जो नीति का निर्णय स्वयं करें और उसका अमल दूसरों पर छोड़ दें। वे जो नीति का निर्णय देते हैं, उसकी क्रियान्विति भी स्वयं करते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने जब हरिजनों का काम अपने हाथ में लिया तो सारे पहलुओं पर चिंतन किया। सबसे पहले इस पहलू पर सोचा कि इस प्रश्न पर हमारे साधु-संघ की ओर से क्या-क्या प्रश्न आ सकते हैं और उनका हम कैसे समाधान देंगे ? अगर हम स्वयं समाधान नहीं कर सकते तो दूसरों के लिए चर्चा करने का अर्थ नहीं होगा। कुछ साधुओं तथा आसपास के लोगों ने भी पूछा—अगर कोई हरिजन दीक्षा लेने के लिए तैयार है तो क्या आपकी दीक्षा देने की तैयारी है ? आचार्यश्री ने कहा—क्यों नहीं ! अगर योग्य है तो मैं दीक्षा देने के लिए आज भी तैयार हूँ। लोगों ने पूछा—क्या हरिजनों के यहां भिक्षा लेंगे ? आचार्यश्री ने कहा—कोई रुकावट नहीं है। जहां भी शुद्ध भोजन मिलेगा, हम भिक्षा लेने के लिए तैयार हैं। दीक्षा के लिए तैयारी, भिक्षा के लिए तैयारी। उसके बाद दूसरों के सामने बात रखी गयी। हम तो वैसे के वैसे रहेंगे किन्तु आप लोग पुण्य कीजिए, दान दीजिए, गंगा-स्नान कीजिए, कृतार्थ हो जाइए, ऐसी बात करने वालों में आचार्य तुलसी नहीं हैं।

अभय और साहस

आचार्यश्री में इतना साहस है, इतना अभय है कि वे जो स्वीकार कर लेते हैं, उसे फिर कर ही डालते हैं। आसपास का वातावरण कुछ कहे, चाहे दूसरा कुछ कहे। भगवान् महावीर की अहिंसा का सबसे बड़ा सूत्र था—अभय ! अभय ! अभय ! भगवान् ने कहा—‘जो डरता है, उसे भूत सताते हैं। जो नहीं डरता, उसे कोई नहीं सताता। दुनिया में कोई ताकत नहीं,

जो अभय को सता सके। लोग उस व्यक्ति को सताते हैं, जो डरता है। आचार्यश्री ने डरना कभी नहीं सीखा। बड़ी-बड़ी घटनाएं होती हैं, लोग रात-रात भर जाग जाते हैं, चिंता करते हैं। किन्तु आचार्यश्री की आकृति पर यह कभी नहीं देखा कि आज कुछ विचित्र-सा हो रहा है ! इतना अभय और इतना साहस, जो एक नेता में होना चाहिए, वह आचार्यश्री में पूर्णता से विद्यमान है।

पुरुषार्थ और कर्तृत्व

आचार्यश्री ने एक क्रान्ति की मशाल जगाई है और इसलिए बहुत सारे लोग आचार्यश्री को आज भी नहीं समझ पा रहे हैं। यह बात भी सत्य है कि क्रान्तिकारी को दो-चार-पांच सौ वर्ष के बाद समझा जाता है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है—क्रान्ति की सफलता के लिए जो आवश्यक सामग्री होती है, वह प्राप्त नहीं होती। आचार्यश्री ने वह सामग्री अपनी ताकत के बल पर जुटाई है। उनका अपना पुरुषार्थ है, अपना कर्तृत्व है।

आचार्यश्री आज साठ वर्ष के होने जा रहे हैं किन्तु जब उनके श्रम को देखते हैं, उनकी लगन को देखते हैं तो ऐसा लगता है—साठ वर्ष के स्थान पर कहीं आठ वर्ष के तो नहीं होते चले जा रहे हैं। हम लोग, जो अवस्था में उनसे बहुत छोटे हैं, उनके श्रम और लगन के सामने नत-मस्तक हो जाते हैं।

नई दिशा का उद्घाटन

आचार्य तुलसी ऐसी मशाल हैं, जिनके सहारे हजारों-हजारों दीप जल रहे हैं और वे उन्हें प्रेरणा दे रहे हैं। आचार्यश्री ने हमारे सामने अनेक दिशाएं उद्घाटित कीं। जैन-धर्म को नया रूप दिया। जैन धर्म को ही क्यों, धर्म को एक नया रूप दिया। क्रान्ति का सूत्र दिया। आज का युवक, आज का छात्र धर्म को रूढ़िवादिता का प्रतीक मानता है, आचार्य तुलसी ने यह सिद्ध किया है कि धर्म हमारे जीवन की एक क्रान्ति है, रूढ़ि नहीं।

आचार्यश्री ने अभी-अभी एक दिशा को और उद्घाटित किया है। लगभग एक महीने तक अज्ञातवास में रहे, साधना में रहे। एक प्रयोग शुरू किया है। साठ वर्ष आते-आते एक नई दिशा और उद्घाटित हो गई। क्योंकि आचार्यश्री व्यवहार के स्तर पर जितना जीते हैं, उतना ही आन्तरिक स्तर पर भी जीते हैं।

पूर्ण कौन

एक घमण्डी फकीर ने पानी से भरा हुआ एक कटोरा गुरुनानक के पास भेजा। नानक ने कटोरे को देखा। वे समझ गए। उन्होंने एक फूल

मंगाया और कटोरे पर रख दिया। फिर कटोरा फकीर के पास भेजा। फकीर ने कटोरे को देखा वह गुरुनानक के चरणों में झुक गया। फकीर ने कहा—आज से मेरा अहंकार टूट गया। फकीर के मन में यह अहंकार आ गया था—मैं वैसे ही भर गया हूँ, पूर्ण हो गया हूँ, जैसे यह कटोरा पानी से लबालब भरा है। गुरुनानक ने कहा—भरा हुआ कोई पूर्ण नहीं हो सकता। कटोरा पानी से भर गया है किन्तु फूल इसमें आ सकता है।

घड़ा खाली है, उसे खाली नहीं किया जा सकता। दूध से प्याला भरा है, चीनी उसमें डाली जा सकती है, चीनी उसमें समा सकती है। किन्तु खाली प्याले में कुछ भी नहीं समाता। खाली को फिर खाली नहीं किया जा सकता। वास्तव में मनुष्य की पूर्णता है खाली होना। जो आदमी सत्ता के अहंकार से, पद के अहंकार से, धन के अहंकार से, मान और प्रसिद्धि के अहंकार से भर जाता है, वह दुनिया में कभी पूर्ण नहीं हो सकता। पूर्ण वही हो सकता है, जो खाली होना जानता है। जो अहंकार से खाली हो जाता है, वह आदमी वास्तव में पूर्ण हो सकता है।

पूर्णता के साधक

आचार्यश्री तुलसी ने साठ वर्ष की अवस्था आते-आते खाली होने की, पूर्णता की दिशा का उद्घाटन कर यह संकेत दिया है—यदि तुम पूर्ण बनना चाहते हो तो खाली होना सीखो। जिसका मन अहंकार से खाली हो गया, उससे बढ़कर दुनिया में कोई पूर्ण नहीं हो सकता। वह सबसे अधिक पूर्ण होता है। आचार्यश्री तुलसी इस अर्थ में अब पूर्ण होने जा रहे हैं क्योंकि वे खाली होने की साधना में लगे हैं। आचार्यश्री तुलसी इसीलिए धर्म के सूत्र-धार होते चले जा रहे हैं क्योंकि वे धर्म को नैतिकता से कभी टूटा हुआ स्वीकार नहीं करते। आचार्यश्री तुलसी मानवता के मसीहा होते चले जा रहे हैं इसीलिए वे मानव-मानव में कोई भेद करना नहीं जानते। आचार्यश्री तुलसी धर्म की मूल आत्मा, समाज की मूल आत्मा में जो पवित्रता है, उस पवित्रता के महान् प्रहरी हैं। पवित्रता के द्वारा उन्होंने मनुष्य का कल्याण किया है।

तीन चित्रकार चित्र बनाकर लाए। कौन-सा चित्र सबसे श्रेष्ठ है, इस निर्णय के लिए तीनों चित्र जज के सामने प्रस्तुत किए गए। पहला चित्र एक फूल का था। सभा में रखा गया तो भंवरा उस फूल का पराग लेने के लिए गुंजार करने लगा। भंवरा उस फूल पर झूम पड़ा। जज ने सोचा—कितना सजीव चित्र है! दूसरा चित्र सामने रखा गया। वह फल था। बेल सबके सामने उस फल को खाने के लिए आगे बढ़ा। कितना सजीव था! तीसरा चित्र सामने आया, जो एक पर्दा था। जज स्वयं उठा यह देखने के लिए कि

पर्दे के पीछे क्या है ? जज पर्दा उठाने चला किन्तु किसे उठाये ? वह तो चित्र था । जज ने निर्णय दिया— सर्वोत्तम चित्र है तीसरा । लोगों ने पूछा— क्यों ? जज ने कहा— फूल ने भंवरे को ठगा, फल ने बैल को ठगा किन्तु पर्दे ने स्वयं जज को ठगा, मुझे ठगा ।

आचार्यश्री उस तीसरे चित्रकार जैसे हैं, जो मनुष्य को भी ठगते चले जा रहे हैं । आज मनुष्य यह नहीं समझ पा रहा है कि आचार्यश्री पर्दा दे रहे हैं या पर्दे के भीतर कुछ और दे रहे हैं ।

हम कामना करते हैं—यह क्रान्ति की लौ इसी प्रकार जलती रहे और इस ठगाई में आकर भी मनुष्य अपना कल्याण करता रहे । आचार्यश्री का षष्ठी प्रवेश क्रान्ति को और अधिक प्रज्वलित करता रहे । उसके आलोक में मनुष्य अपना मार्ग निर्धारित और निमित्त करता रहे ।

जीवन-निर्माता : आचार्य तुलसी

एक सन्त के पास एक व्यक्ति आया। उसने पूछा—‘समय क्या है?’ सन्त ने गम्भीर होकर उत्तर दिया—‘जब तक तुमने यह प्रश्न नहीं पूछा था तब तक मैं जानता था कि समय क्या है? अब तुमने पूछ लिया है—समय क्या है? इसलिए मैं नहीं जानता कि समय क्या है?’

ऐसा ही प्रसंग मेरे सामने है। लोग पूछते हैं—आचार्य तुलसी क्या हैं? कौन हैं? जब तक नहीं पूछते हैं तब तक तो मैं जानता हूँ कि आचार्य तुलसी क्या हैं? और जब पूछ लेते हैं—तुलसी कौन हैं, मैं गहरे में चला जाता हूँ और नहीं जान पाता कि तुलसी कौन हैं? पर व्यवहार की दुनिया इसे मानती नहीं है। वह कुछ और आगे जानना चाहती है।

शोषण भी वरदान

तुम महान् हो।

तुम्हारा! अनुदान भगवान् बन जाता है।

तुम महान् हो।

तुम्हारा शोषण वरदान बन जाता है।

लोग कहते हैं—शोषण मत करो। किन्तु आचार्यश्री तुलसी जैसा शोषण करने वाला शायद ही दूसरा कोई व्यक्ति हो। लोगों का शोषण होता है किन्तु फिर भी लोग समझते हैं कि वरदान लेने जा रहे हैं। समूचे मन को खो देते हैं, वरदान कहाँ मिलेगा? पंजाब, कलकत्ता, दिल्ली, बम्बई आदि स्थानों से सैकड़ों आदमी आते हैं। बहुत दूर-दूर से आते हैं, क्योंकि उनका मन आचार्यश्री ने छीन लिया है। आचार्यश्री मन का शोषण कर लेते हैं और भोले-भाले लोग समझते हैं कि वे वरदान लेने आए हैं।

अनुदान का आरोपण

मेरा पूरा निर्माण आचार्यश्री ने किया है। आचार्यश्री ने एक दिन मेरे बारे में कहा था—ये चलना नहीं जानते थे, खाना नहीं जानते थे और बोलना भी नहीं जानते थे।

यह बिलकुल ठीक बात है। अगर किसी के निर्माण की बात बतानी हो तो जो स्वयं निर्मित है, उसकी गाथा नहीं गाई जाती। जो निरा बुद्ध होता है, उसकी गाथा गाई जाती है और मैं लगभग वैसा ही था। मैं आज

भी अपने को कुछ नहीं मानता । यह अनुदान है आचार्यश्री का, जो मुझमें आरोपित हो गया । लोग मुझे न जाने क्या-क्या मानने लग गए और यही आचार्यश्री की महानता है । इसीलिए मैंने कहा—

तुम महान् हो

तुम्हारा सत्य आरम्भ में झूठ समझा जाता है ।

तुम महान् हो

तुम्हारा आलोक प्रारम्भ में स्वप्न समझा जाता है ।

तुम महान् हो

तुम्हारा धर्म कर्म समझा जाता है,

तुम्हारी सहज वाणी को मर्म समझा जाता है ।

आचार्यश्री की महानता

दुनिया में जितने महान् सत्य हुए हैं, वे प्रारम्भ में झूठ समझे गए हैं । आचार्य तुलसी के बारे में भी यही बात लागू होती है । आचार्यश्री आज कोई भी बात कहेंगे, लोग उसे झूठ समझ लेंगे । दूर के लोग ही नहीं, नजदीक के लोग भी ऐसा समझ लेते हैं । महान् व्यक्ति की आरंभ में हर बात झूठी समझी जाती है, मिथ्या समझी जाती है और वही बात दस वर्ष के बाद सत्य समझी जाती है । मैंने बैंगलोर में एक भाई से पूछा—अरे ! तुम कैसे आ गए ? तुम तो घोर आलोचकों में से हो ? उस भाई ने कहा—दस वर्ष पहले मैं घोर आलोचक था किन्तु मैं देख रहा हूँ कि आचार्यश्री तुलसी जो बातें पन्द्रह वर्ष पूर्व कहते थे, आज वे घटित हो रही हैं । अब मुझे लगता है—आचार्यश्री कोई हस्ती तो जरूर हैं । मैं इसे आचार्यश्री की महानता मानता हूँ ।

सहजता में छिपी मामिकता

डालमचन्दजी सेठिया समाज के एक विद्वान् व्यक्ति थे, बैरिस्टर थे । छापार में आचार्यश्री ने धर्म के बारे में, धर्म-क्रांति के बारे में कुछ बातें रखीं । सेठियाजी मेरे पास आकर बोले—धर्म-गुरुओं का यह स्वभाव होता है कि वे स्वप्न बहुत लेते हैं, कल्पनाएं बहुत करते हैं । मैं देखता हूँ—आचार्यश्री का आलोक स्वप्न समझा जाता है, धर्म कर्म समझा जाता है और सहज वाणी को मर्म समझा जाता है । आचार्यश्री की कसौटी है—बहुत बार इनकी साधारण-सी बात को भी मामिक समझ लिया जाता है । श्रावक ही नहीं, साधु-साधवियां भी कहते हैं—आचार्यश्री ने अमुक बात कही है, इसलिए-इसके पीछे कोई राज होना चाहिए, कोई रहस्य होना चाहिए ।

आचार्यश्री धर्म की बात कहते हैं और लोग सोचते हैं—आचार्यश्री

धर्म की बात को छोड़कर कर्म की ओर जा रहे हैं। वे कहते हैं—आचार्यश्री का समाज-सुधार से क्या मतलब ? मानवता से क्या मतलब ? नैतिकता से क्या मतलब ? लोगों ने मान रखा है—धर्म का क्षेत्र अलग है, नैतिकता और मानवता का क्षेत्र अलग है। लोगों ने दो विभाग कर रखे हैं लेकिन आचार्यश्री ने उनके दो विभाग नहीं किए हैं।

नास्तिक भी हैं आचार्य तुलसी

आचार्यवर के जीवन में ये कुछ विरोधी बातें हैं। जिसमें विरोधों का अम्बार नहीं होता, वह आदमी महान् नहीं होता। महान् वह होता है, जिसके जीवन में विसंगतियाँ और विरोध होते हैं। आचार्यश्री ने मानवता के लिए बहुत कार्य किया है। युग की नब्ज को पहचाना है। युग को दिशा-दर्शन दिया है। युग को एक दवा दी है। धर्म के क्षेत्र में यह मान्यता हो गई थी कि धर्म करो, परलोक सुधर जाएगा। परलोक के नाम से धर्म करने वालों की भीड़ बढ़ गई, धर्म के नाम पर अधर्म होने लग गया। लोग अस-मंजस में पड़ गए। धर्म से दूर भागने लग गए। आचार्यश्री ने इस नब्ज को पहचाना और एक दवा दी। उन्होंने कहा—परलोक की चर्चा छोड़ दें, परलोक की चिंता छोड़ दें। यह ऐसा सूत्र था मानो कोई नास्तिक कह रहा हो। आचार्य तुलसी में जितनी आस्तिकता है, नास्तिकता भी उससे कम नहीं है। मेरी मान्यता है—जो घोर नास्तिक नहीं होता, वह आस्तिक भी नहीं हो सकता। आचार्यश्री ने कहा—वर्तमान को सुधारो, वर्तमान को आनन्द-मय बनाओ और उसके लिए धर्म का आध्यात्मिक रूप जनता के सामने प्रस्तुत किया। यही कारण है—आज हजारों-हजारों बुद्धिजीवी अपने मन की शांति और पवित्रता के लिए आचार्य तुलसी के चरणों में आते हैं और शांति का अनुभव करते हैं।

आचार्यश्री तुलसी के जीवन का इतिहास तेरापण्य का इतिहास या जैन समाज का इतिहास नहीं है। वह मानवता का इतिहास है, वह प्रामाणिकता, सचाई और भारतीय संस्कृति का इतिहास है। वह इतिहास और अधिक व्यापक होता चला जाए तथा आचार्यवर निरन्तर आगे बढ़ते जाएं, यही कामना है।

संकल्प और पुरुषार्थ की प्रतिमा : आचार्य तुलसी

अर्थवाद : यथार्थवाद

अभी मेरे पास एक पुस्तक थी। मैं उसकी भूमिका देख रहा था। मन में विचार आया—भक्त लोग इतनी प्रशंसा करते हैं कि वह भगवान् को बहुत महंगी पड़ती है। एक भक्त ने अपने आचार्य की जिन शब्दों में प्रशंसा की है, उन शब्दों को पढ़कर मैं हैरान हो गया। क्या प्रशंसा की इतनी स्थूल बात कहने से वह व्यक्ति बहुत बड़ा बन जाएगा? आज के यथार्थवादी युग में जहाँ मनुष्य यथार्थ की तुला पर प्रत्येक वस्तु को देखना चाहता है वहाँ प्रशंसा के इतने लम्बे-चौड़े गीत गाना, इतने पुल बांधना क्या समझदारी है? परन्तु दुनिया में सब कुछ चलता है। एक आचार्य ने लिखा है—

‘नन्नस्स वयणा चोरो, नन्नस्स वयणा मुनी ।

अप्पा अप्पं विजाणंति, जे वा उत्तमनाणिणो ॥’

किसी के कहने से कोई चोर नहीं होता और किसी के कहने से कोई मुनि नहीं होता। अपनी आत्मा अपने को जानती है कि मैं चोर हूँ या मुनि हूँ। दूसरे के कहने से कुछ नहीं होता।

दूसरों की अयथार्थ बातें पढ़कर मेरे यथार्थवादी मानस पर चोट-सी लगती है, आघात-सा लगता है। हम व्यर्थ में ही शब्द की शक्ति का क्यों अपव्यय करें और क्यों शब्दों का दुरुपयोग करें? अर्थवादी युग आज से पाँच सौ वर्ष पहले बीत चुका है। आज बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी में निश्चित ही उसका मूल्य नहीं है इसलिए मैं अयथार्थ बात कहकर यथार्थ का गला घोटना नहीं चाहता।

धर्म की स्थिति

आज धर्म के क्षेत्र में अवतारों और भगवानों की बाढ़-सी आ गई है। जो जनसुधारण हैं, वे आचार्य बनने को दौड़ रहे हैं और जो आचार्य हैं, वे भगवान् बनने को दौड़ रहे हैं। धार्मिक व्यक्ति में जितनी लालसा है, गृहस्थ तो उतना सोच भी नहीं सकते। धार्मिक बनने के बाद यह लालसा प्रबल बन जाती है। व्यक्ति सोचता है—धार्मिक बना और आचार्य या भगवान् नहीं कहलाया तो जीवन का अर्थ ही क्या? धार्मिक बनकर आचार्य या

भगवान् नहीं बना तो सारा-का-सारा जीवन ही निकम्मा चला गया। अवतार नहीं बना तो जीवन व्यर्थ चला गया। धार्मिक लोग प्रशंसा के इतने भूखे, बड़प्पन के इतने भूखे, अहंपोषण के लिए इतने लालायित हैं कि उनके बारे में क्या कहा जाए ? लगता है—आज दुनिया में सबसे बड़ा जो अधर्म का प्रवाह बह रहा है, वह हमारे धार्मिक अवतारों या भगवानों के द्वारा बह रहा है। आज ये हमारे अवतार और भगवान् भारतीय समाज से समाप्त हो जाएं तो भारत का कोई नुकसान होने वाला नहीं है और धार्मिक जगत् का एक इन्च मात्र भी विघटन होने वाला नहीं है।

यथार्थ की ओर

लोग कहते हैं—अन्धकार को अन्धकार पैदा करता है, दीप अंधकार नहीं करता। किन्तु आज ऐसा लगता है—दीप तो क्या, सूर्य भी अन्धेरा कर रहा है। धार्मिक-दुनिया से जो बातें आज आ रही हैं, वे अधर्म की दुनिया से नहीं आ रही हैं। इस वातावरण में आज सचमुच यथार्थ की आंख से प्रत्येक बात को देखने की जरूरत है।

मैं नहीं चाहता—आचार्यश्री तुलसी भगवान् बनें। आचार्यश्री ने दक्षिण की सम्पूर्ण यात्रा में एक ही बात को अपनाया। कोई पूछता—आप कौन हैं ? आचार्यश्री कहते—सबसे पहले मनुष्य हूं, उसके बाद मैं धार्मिक हूं, जैन हूं और जैनाचार्य हूं।' आचार्यश्री को न भगवान् बनना है, न अवतार बनना है, न और कुछ बनना है। मनुष्य होने में ही उनकी वह महानता प्रगट होगी, जो आज तक हुई है, हो रही है।

महानता : मानवीय पक्ष

आचार्य तुलसी जो महान् बने हैं, वे अपने मानवीय पक्ष के कारण बने हैं। आचार्य तुलसी को लोगों ने समझा है, उनके मानवीय धरातल को समझा है। आचार्य तुलसी जो कर रहे हैं, उसका जो मूल्यांकन हुआ है, वह मानवीय धरातल पर हुआ है। अगर भगवान् बन जाते तो हमारे लिए अतीत की वस्तु बन जाते। वह मेरु पर्वत, वह कल्पवृक्ष, वह चिन्तामणि रत्न और वह कामधेनु हमारे कोई काम की नहीं, जो हमारे पास नहीं है। वे केवल कल्पना की वस्तुएं हैं, सपने की वस्तुएं हैं। हमें वह गाय चाहिए, जो दूध दे और हम पी लें। हमें वे वृक्ष चाहिए, जिनके फल तोड़ें और खा लें। मेरु पर्वत की कोई जरूरत नहीं, कामधेनु की कोई जरूरत नहीं और चिन्तामणिरत्न की भी कोई जरूरत नहीं है।

सफलता का आधार : संकल्प-शक्ति

आचार्यश्री ने अपनी महानता दो कोणों से प्रमाणित की है। एक कोण है संकल्प का और दूसरा कोण है पुरुषार्थ का। मैंने देखा—आचार्यश्री

की अट्ठावन वर्ष की अवस्था हो रही है। बचपन बीत चुका है। उसको भी थोड़ा-थोड़ा देखा है। यौवन अब प्रौढ़ता की दहलीज पर जा रहा है परन्तु संकल्प और पुरुषार्थ—ये दोनों अभी भी बचपन की अवस्था में हैं और यौवन की ओर जा रहे हैं। इतना दृढ़ संकल्प मैंने बहुत कम व्यक्तियों में देखा।

सफलता का सबसे बड़ा आधार होता है—संकल्प, संकल्प-शक्ति का विकास। जिस व्यक्ति का संकल्प सही दिशा में प्रवाहित नहीं होता, वह व्यक्ति नीचे चला जाता है।

संकल्प का परिणाम

श्रीकृष्ण और पांडव द्रौपदी की खोज में गए। ज्ञात हुआ—राजा पद्मनाभ द्रौपदी का अपहरण कर ले गया है। दूत भेजा। पद्मनाभ युद्ध करने के लिए सामने आ गया। श्रीकृष्ण ने पांडवों से पूछा—‘बोलो, तुम लड़ोगे या मैं लड़ूँ?’ पांडवों ने कहा—‘आप देखते रहें, हम लड़ते हैं।’

इधर से पांडव गए और उधर से पद्मनाभ आ गया। पांडवों ने कहा—‘अम्हे वा पउमनाभे वा राया।’ पद्मनाभ ! या हम रहेंगे इस दुनिया में या तुम रहोगे, या तुम नहीं रहोगे या हम नहीं रहेंगे।’ लड़ाई शुरू हो गई। पांडव बहुत शक्तिशाली थे परन्तु पद्मनाभ इतनी तीव्रता के साथ लड़ा कि पांडव भाग खड़े हुए। दौड़कर श्रीकृष्ण के पास पहुंचे। श्रीकृष्ण ने सोचा—यह क्या हुआ ? पांडव भाग खड़े हुए ? पलायन कर गए ? श्रीकृष्ण ने पांडवों से पूछा—क्यों आए ? पांडवों ने कहा—महाराज ! बहुत बुरी-तरह से मार पड़ी। भाग आए।

श्रीकृष्ण योगिराज थे। उनकी दृष्टि अन्तर्भेदी थी। उन्होंने पूछा—तुमने पद्मनाभ से क्या कहा था ?

पांडव बोले—महाराज ! हमने कहा था—‘अम्हे वा पउमनाभे वा राया।’ या हम होंगे या पद्मनाभ राजा होगा।

श्रीकृष्ण ने तत्काल कहा—तुम्हारी हार शक्ति के अभाव के कारण नहीं हुई है, तुम्हारी हार तुम्हारे संकल्प की दुर्बलता के कारण हुई है। तुमने ऐसा क्यों कहा कि या हम रहेंगे या तुम रहोगे ? यहीं पर तुम्हारी कमजोरी हुई है। चलो, बैठ जाओ।

श्रीकृष्ण गए। जाते ही बोले—‘अहं नो पउमनाभे राया’—मैं रहूंगा, पद्मनाभ मेरे भ्रामने नहीं टिक सकता, नहीं टिक सकता और नहीं टिक सकता। लड़ाई हुई। दो मिनट में ही पद्मनाभ पीछे खिसकने लगा और श्रीकृष्ण उसके पीछे दौड़ने लगे।

संकल्प के धनी

यह था संकल्प का बल। यह थी संकल्प की शक्ति। दृढ़ संकल्प के

अभाव में जिस पचनाभ ने पांडवों को भगा दिया था, धनुर्धारी अर्जुन को भगा दिया था, महाभारत के परम विजेता अर्जुन को खदेड़ दिया था, वही दृढ़ संकल्प-शक्ति के सामने पलायन कर गया।

जिस व्यक्ति का संकल्प ठीक दिशा में प्रवाहित होता है, वह व्यक्ति महान् हो जाता है। आचार्यश्री का संकल्प इतना दृढ़ है कि वे जिस बात को पकड़ लेते हैं, सोच-समझकर निर्णयपूर्वक पकड़ लेते हैं, उस पर पूरी तरह दृढ़ रहते हैं। दूसरे लोग बहुत कम दृढ़ रह पाते हैं। जो व्यक्ति संकल्प का धनी होता है, वह विजयी होता है, अपने जीवन में सफल होता है तथा वह कुछ कर गुजरता है।

पुरुषार्थी व्यक्तित्व

दूसरा है पुरुषार्थ। आचार्यश्री परम पुरुषार्थवादी हैं। हम कई बार आचार्यश्री से निवेदन करते हैं कि आप परिश्रम कुछ कम कर दीजिए। परन्तु आचार्यश्री शायद यह बात जानते ही नहीं। हम लोग निवेदन करते हैं कि साधु-साधवियों को दूसरे साधु भी पढ़ा सकते हैं। आचार्यश्री अपना समय क्यों लगाते हैं परन्तु आचार्यश्री तो आगे पढ़ाते ही चले जा रहे हैं। जिस व्यक्ति का पुरुषार्थ प्रबल होता है, उसे कौन रोक सकता है? वह व्यक्ति कुछन-कुछ कर ही जाता है।

श्रीकृष्ण का पुरुषार्थ

श्रीकृष्ण द्रौपदी को खोजने जा रहे थे। बीच में लवणसमुद्र आ गया। देवता की आराधना की। सुस्थिर नाम का देवता आया और आकर बोला—कहिए, क्या आदेश है? आप बताएं—मैं क्या करूं?

श्रीकृष्ण ने कहा—पचनाभ द्रौपदी को ले गया है। मुझे उसके पास जाना है। लवणसमुद्र में जाने का रास्ता दे दो। उसने कहा—आप क्यों कष्ट करते हैं? मैं अभी जाकर द्रौपदी को उठा लाता हूं। श्रीकृष्ण ने कहा—नहीं, मैं इतना अहसान सहना नहीं चाहता। तुम मुझे केवल रास्ता दे दो, मैं लाऊंगा और केवल अपने बाहुबल से लाऊंगा?

अगर आज कोई देवता आकर कहे कि मैं नास्ता बना दूं तो शायद बहनें चूल्हा भी नहीं जलाएंगी? कौन कष्ट करे? अगर कोई कहे—व्यापार करने की जरूरत नहीं है, स्वतः ही धन आ जाएगा, बरस जाएगा तो कोई भी आदमी बंगाल और आसाम जाना नहीं चाहेगा, काम करना नहीं चाहेगा। प्रत्येक आदमी चाहेगा कि आराम से मिले, मुफ्त में मिले, चाहे वह हजम हो या न हो। इस प्रकार की जहां मनोवृत्ति होती है, वहां आदमी अकर्मण्य बन जाता है, जीते हुए भी मर जाता है।

पुरुषार्थ से मिली है महानता

आचार्यश्री ने जो भी किया, अपने पुरुषार्थ के बल पर किया। उनकी महानता किसी के द्वारा थोपी हुई महानता नहीं है, बपौती में मिली हुई महानता नहीं है। उन्होंने हजारों-हजारों मील की यात्रा अपने पैरों से की है, नंगे पैरों से की है, सर्दी सही है, गर्मी सही है, अपमान सहा है, सम्मान सहा है। सब कुछ सहा है। सब कुछ सहन कर अपने पुरुषार्थ को जगाया है।

जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ की रोटी खाता है, वह अपने संकल्प के आधार पर जीता है, चलता है। आचार्यश्री की इस महानता को हम मानवीय धरातल पर ही स्वीकार करते हैं और चाहते हैं—आचार्यश्री अपने इस दीक्षा के पवित्र दिन पर पुनः इस संकल्प को दुहराएंगे—हम मानवीय आधार पर ही महानता को प्राप्त करेंगे, भगवान् और अवतार बनकर नहीं।

महान् स्वप्नद्रष्टा : आचार्य तुलसी

आलोकशून्या अपि संति केचित्,
आलोकभीता अपि संति केचित् ।
आलोकमूढा अपि संति केचित्,
आलोकदक्षो भगवन् ! भवेयम् ॥

कुछ लोग आलोकशून्य हैं, चक्षुष्मान् नहीं हैं। जिन्हें आंख प्राप्त नहीं, वे कैसे देख सकते हैं ? कुछ लोगों के आंख तो है पर वे आलोक से घबराते हैं, आंख मूंदकर चलते हैं। कुछ लोगों में प्रकाश के प्रति मोह की भावना जागृत नहीं होती, उन्हें अन्धकार ही पसन्द है। आलोक की शून्यता, आलोक से भय और आलोक से मूढ़ता—ये तीनों मेरे में न हों, मैं आलोक-दक्ष बनूँ। इसका अर्थ होगा—मैं प्रकाश को प्रकाश के रूप में देखूँ, प्रकाश का अपने जीवन में उपयोग करूँ।

सफलता का सूत्र

भगवान् महावीर ने आचारांग में कहा—पुरिसा परमचखू !
विपरक्कमा—‘निर्मल ज्योति वाले पुरुष ! तू पराक्रम कर ।’

यह हमारे जीवन की सफलता का सूत्र है। जीना एक बात है और सफल जीवन जीना दूसरी बात है। जिसको श्वास मिला है, वह हर प्राणी जीता है। कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी भी जीता है। जीने का लक्षण है श्वास। मनुष्य को सोचना चाहिए कि मेरा जीवन सफल कैसे हो ? जीवन में प्रगति कैसे हो ? जिस व्यक्ति में उन्नति या प्रगति करने की भावना नहीं होती, वह नामधारी मनुष्य है। सफलता वह आदमी पा सकता है जो बड़े स्वप्न लेता है। वे लोग ही आगे बढ़े हैं, जिन्होंने जीवन की किसी भी दिशा में स्वप्न लिए हैं। गहरी नींद में स्वप्न नहीं आते। जो नींद टूटती है, उसमें स्वप्न आते हैं। वायुविकार और मस्तिष्क की कमजोरी से भी स्वप्न आते हैं। मैं इन स्वप्नों की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं तेरापंथ की दो महान् आत्माओं के स्वप्नों की चर्चा करना चाहता हूँ। प्रारम्भ में भिक्षु स्वामी ने बहुत बड़ा स्वप्न लिया। सात साधुओं को लेकर ऐसी मर्यादा बनाई, जो ७०० साधुओं के लिए भी उपयोगी है। उन्होंने जो दो सौ वर्ष पूर्व व्यवस्था दी, वह आज भी उपयोगी है।

कालूगणी का स्वप्न

एक स्वप्न लिया कालूगणी ने। उनको आभास हुआ—गाय के पीछे छोटे-छोटे बछड़े घूम रहे हैं। उनकी कल्पना साकार हुई। वे बछड़े काम के निकले। उनमें एक मैं भी हूँ। छोटे गांव में जन्मा, थोड़ा पढ़ा-लिखा था। गांव का होने के कारण ऋजु भी था। न परीक्षा दी, न प्रगति-पत्र मिला। दीक्षित हो गया। कालूगणी के मन में स्वप्न था—छोटे-छोटे साधुओं को तैयार करना है। पढ़ाना शुरू किया। वह आज की प्रगति के बीज बोने का समय था। कालूगणी के स्वप्न ने आकार लिया। किसी भी महापुरुष का स्वप्न खाली नहीं जाता। कोई दस वर्ष पहले पूरा होता है, कोई दस वर्ष बाद। वे एक-एक व्यक्ति को तैयार करने का ध्यान रखते थे। सब साधु यह समझते थे—कालूगणी ने मेरे पर ज्यादा मेहनत की और उनकी मेरे पर अधिक कृपा रही। वे बाल-साधुओं को ललकारते भी थे और पुचकारते भी थे। उनकी भावना थी, आदमी को तैयार करना है। मुनि तुलसी से गणरत्न महोदधि कंठस्थ कराया। साधुओं ने पूछा—इसकी उपयोगिता क्या है? कालूगणी कहते—तुम नहीं जानते। कालूगणी ने एक दिन मुझसे पूछा—घातुकोष सीखा या नहीं? मैंने कहा—नहीं। उन्होंने कहा—अभी शुरू करो और (प्राकृत का) आठवां अध्याय भी शुरू करो।' उस समय उपयोगिता कम नजर आ रही थी। उस समय प्राकृत का अध्ययन नहीं होता तो आज आगम का कार्य हाथ में नहीं ले पाते और आज इस स्थिति में भी नहीं मिलते। 'प्रमाणनय-तत्त्वलोकालंकार' का चुनाव कालूगणी ने ही किया। बीज बोने के समय कैसे आशा करें कि फल मिल जाए? उनके मन में जो कल्पनाएं थीं, आज वे सारी सफल हुई हैं।

आचार्य तुलसी का स्वप्न

एक बड़ा स्वप्न लिया आचार्य तुलसी ने। छापर चातुर्मास में आचार्य श्री ने कहा—दूर देशों में जाना है। लोग सम्पर्क में आएंगे। पहले तैयारी होनी चाहिए। बैरिस्टर डालमचन्दजी सेठिया मेरे पास आए और कहा—धर्माचार्य बड़ी-बड़ी कल्पना करते हैं। जीवन में होने वाली बात न कर कहां कहां की सोचते हैं। जैनों में तेरापंथ का नाम भी नहीं है।

आचार्यश्री ने जो स्वप्न लिए, वे साकार होने लगे हैं। किसने कल्पना की थी—हमारे ग्रन्थ विद्वानों के हाथों में जाएंगे, उन पर पी-एच० डी० होगी! लोगों से सम्पर्क होगा! आज भिक्षु साहित्य पर तीन महा-निबन्ध लिखे जा चुके हैं। उनके लेखक हैं आई० सी० शर्मा, छगनलालजी शास्त्री, वृजनारायणजी पुरोहित। साधुओं के द्वारा लिखे गए ग्रन्थ भी बहुत हैं। कहां था हमारा सम्पर्क और कहां था हमारा साहित्य? इस स्थिति का

निर्माण हुआ एक स्वप्न के कारण ।

संस्कृत का अभ्यास

आर्यसमाजी बुद्धदेव विद्यालंकार दिल्ली से आचार्यश्री के पास श्रीडूंगरगढ़ में आए । वे संस्कृत में बोले । उस समय वे बहुत अच्छा बोले । आचार्यश्री भीतर पधारे । वेदना के स्वर में बोले—इस प्रकार भाषण देने वाला एक भी साधु नहीं है । क्या कभी हमारे साधु भी इस प्रकार संस्कृत में बोल सकेंगे ?

हमें बहुत अखरा । हम दो-चार साधुओं ने उसी दिन से अभ्यास शुरू कर दिया । श्रीडूंगरगढ़ गांव के बाहर आकर एकांत में बोलते, स्वयं वक्ता थे और स्वयं ही श्रोता । एक संकल्प लिया था । महीनों तक अभ्यास चला । आडसर में आचार्यश्री ने कहा—‘एक मास तक सब साधु बोलेंगे । एक भी अशुद्धि न आएगी तो पुरस्कार मिलेगा ।’ बीस साधु हमेशा बोलते । यह क्रम सरदारशहर महोत्सव तक चला । आचार्यश्री के मन की वेदना समाप्त हो गई और धीरे-धीरे आशु कविता का भी एक क्रम चल पड़ा ।

स्वप्न की परिणति

पूना शहर नए और पुराने पण्डितों का गढ़ माना जाता है । वहां वाग्वर्धिनी सभा में आचार्यश्री का प्रवचन हुआ । उसके बाद मुझे आशु कविता के लिए कहा गया । विषय दिया गया—

समयज्ञापकं यंत्रं, नद्यानां करभूषणम् ।

स्रग्धराष्ठदमालम्ब्य, वर्ण्यतां मुनिपुंगव ॥

मैंने आशु कविता की । फिर तो पूना के विद्वानों की मांग आने लगी । पहले स्थिति यह थी—कार्यकर्ता जब पूना गए तो जैन भाइयों ने कहा—आप जैन लोगों में ही प्रोग्राम रखिए । सार्वजनिक प्रोग्राम में जैन लोग टिक नहीं पाएंगे तो अच्छा नहीं होगा । यहां पण्डितों का जोर है । आप थोड़े दिन ठहरकर अपने भाइयों में ही प्रोग्राम रख लीजिए ।

आचार्यश्री ने कहा—यह मेरी प्रकृति के प्रतिकूल है, चारदीवारी में बैठना मुझे नहीं आता ।

आचार्यश्री नौ दिन पूना ठहरे, तीस प्रोग्राम हुए । उन विद्वानों के बीच हुए, जिनसे जैन भाई घबराते थे । यह क्यों हुआ ? आचार्यश्री के स्वप्न के कारण ही ।

बम्बई में भी एक कॉलेज में प्रोग्राम था । संस्कृत का कार्यक्रम था । जब हम गए तब छात्र वेशभूषा देखकर हंसने लगे किन्तु भाषण सुनकर वे बहुत प्रभावित हुए । एक प्रोफेसर मेरे पास आया । उसने पूछा—आपने किस विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है ?

मैंने कहा—तुलसी विश्वविद्यालय में ।

प्रोफेसर—हिन्दुस्तान में या बाहर ?

मैंने कहा—आचार्यश्री के साथ चलता-फिरता विश्वविद्यालय है ।

बनारस के पण्डितों के बीच भी प्रोग्राम हुआ । उन लोगों को भी आश्चर्य हुआ ।

सफलता के लिए स्वप्न लें

जीवन की सफलता के लिए स्वप्न लेना चाहिए । धार्मिक लोग निराश हो जाते हैं, क्योंकि उनके मन में निवृत्ति की धारणा जम गई है । हम जीवन के विकास में सन्तोष क्यों कर लेते हैं ? हमारा आदर्श है—अनंत ज्ञान, अनंत-दर्शन, अनंत आनन्द और अनंत शक्ति । क्या हम शक्तिहीन होकर कोने में बैठ जाएं ? क्या हम ज्ञानहीन होकर कोने में बैठ जाएं ? यह आदर्श के प्रतिकूल है । हमारे पैर निरन्तर आगे बढ़ने चाहिए । दुर्बल होकर इस दुनिया में जीना कोई जीना नहीं है । डाविन ने कहा—‘इस दुनिया में वही जीने का अधिकारी है, जो शक्तिशाली है ।’ विवेकानन्द ने कहा—‘प्रयत्न करो, असफल होने पर फिर प्रयत्न करो । हजार बार प्रयत्न करने पर सफलता न मिले तो भी एक हजार-एकवीं बार फिर करो ।’

मनुष्य की प्रकृति कुछ ऐसी ही बन गई है । वह एक काम प्रारम्भ करता है । असफल होने पर उसे छोड़ देता है । यह चिंतन का दोष है । प्रत्येक व्यक्ति सफलता की ओर भांकता है, असफलता कोई नहीं चाहता । जीवन की सफलता का महान् सूत्र है—पुरुषार्थ करना, निष्क्रिय होकर न बैठना । पहले ज्ञान और दृष्टि साफ करें, फिर पुरुषार्थ करें । कोरा काम करें और दृष्टि साफ न हो तो सफलता नहीं मिलती । दृष्टि साफ हो पर काम न हो तो भी सफलता नहीं मिलती ।

आचार्य तुलसी : एक परिचय

आचार्य तुलसी का व्यक्तित्व कुछ एक रेखाओं से निर्मित है पर वे रेखाएं बहुत ही स्फुट हैं। उन्हें श्लाघा के रंग से रंगने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में वे जो हैं, उनका लेखा अनुभूति में है, शब्दों में नहीं। किन्तु दृश्य-लोक शब्दों से मुक्ति नहीं पा सकता, इसलिए हम बहुधा महान् को लघु में बांधने का यत्न किया करते हैं। आचार्यश्री तुलसी का परिचय देना वैसा ही प्रयत्न है। शब्दों की दुनिया में उनका संक्षिप्त परिचय है—वे महान् धर्माचार्य हैं पर उनका पहला रूप 'मानव' है। वे कहते हैं—मनुष्य पहले मनुष्य होता है, पीछे और-और। वे और भी बहुत हैं। वे आत्मवान् हैं। आत्मा का संयम कर वे आत्मवान् बने हैं। जो आत्मवान् होता है, वही दूसरों के हृदय को छू सकता है। आचार्यश्री ने जन-जन के मानस का स्पर्श किया है। उसका रहस्य यही है। अणुव्रत जैसे ध्रुव-सत्त्यों का वर्तमान की भाषा और शैली में प्रकाशन कर वे चरित्र-उन्नयन के अग्रणी बन गए हैं। आज वे अणुव्रत-आंदोलन के प्रवर्तक के रूप में विश्रुत हैं। वे धार्मिक भी हैं, दार्शनिक भी हैं और कवि भी हैं। उन्होंने धर्म के जटिल प्रश्नों को सुलझाने का बहुत प्रयत्न किया है। 'जैन सिद्धांत दीपिका', 'भिक्षुन्याय-कर्णिका' जैसे ग्रन्थ उनकी लघु-आकार में महान् रचनाएं हैं। उनके चिन्तन में दर्शन स्वयं स्फूर्त होता है। उनकी धर्मवाणी को बृहद् रूप में प्रकाशित करने का यत्न हो रहा है। 'काल्यक्षोविलास' जैसे महान् काव्य की सृष्टि उनकी सूक्ष्म और सर्वस्पर्शी मेधा से हुई है। इस प्रकार वे नानारूप हैं।

दृश्य व्यक्तित्व : अदृश्य व्यक्तित्व

मानव आखिर मानव ही होता है, इसलिए उनका पहला परिचय यह है—वे लाडनूँ, राजस्थान में जन्मे, ग्यारह वर्ष की अवस्था में तेरापंथ के आठवें आचार्यश्री कालूगणी से जैन मुनि बने, बाईस वर्ष की अवस्था में तेरापंथ के आचार्य बने। चौतीसवर्ष की आयु में अणुव्रत-आंदोलन का प्रवर्तन किया। गौर वर्ण, मझला कद, भव्य ललाट, तेजोदीप्त प्रलम्ब कान, यह है उनका प्रथम दर्शन में ही आकृष्ट करने वाला दृश्य-व्यक्तित्व। प्रसन्न मन, सहज ऋजुता, सबके प्रति समभाव, आत्मीयता की तीव्र अनुभूति, विशाल चिंतन, विरोधी के प्रति अनुद्विग्न और जातीय, प्रांतीय, साम्प्रदायिक एवं

भाषायी विवादों से मुक्त, यह है उनका अन्तरंग व्यक्तित्व, जो अदृश्य होकर भी समय-समय पर दृश्य बन जाता है ।

काम मनुष्य को मनुष्य बनाने का

कठोर चर्या, भूख और प्यास से अविचलित रहकर वे अणुव्रत संदेश लिए गांव-गांव में घूम रहे हैं । अब तक वे लगभग हजारों मील की पद-यात्रा कर चुके हैं । सभी वर्गों के लोगों ने उनको सुना है और समझने का प्रयत्न किया है । उनके सात सौ से अधिक शिष्य सवा सौ से अधिक वर्गों में विभक्त हैं और गांव-गांव में अणुव्रत-आंदोलन का प्रचार कर रहे हैं । उनकी साहित्य-साधना भी महान् है । हिन्दी जगत् को आचार्यश्री की महान् देन होगी—जैन आगमों का हिन्दी में आधुनिक पद्धति से सम्पादन । आचार्यश्री के निर्देशन में यह कार्य बहुत ही तत्परता से हो रहा है । तेरापंथ द्विशताब्दी महोत्सव के उपलक्ष में आचार्यश्री ने हिन्दी-साहित्य के निर्माण की व्यवस्थित योजना की है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि आचार्य श्री युगपुरुष हैं । उनकी वाणी युग के लिए दिशाबोध है—‘अंक के बिना मूल्य का मूल्य नहीं होता, यह आप जानते हैं और यह आपको जानना है कि चरित्र-निर्माण की योजना के बिना शेष सारी योजनाएं अर्थशून्य हो जाएंगी ।’

सरकार और बहुत वस्तुएं बनाना जानती है किन्तु मनुष्य को मनुष्य बनाना सरकार को नहीं आता । यह काम उनका है, जो साधना के पथ पर चल पड़े हैं ।

अमृत महोत्सव : अभिनन्दन

- अभिनन्दन इन शक्तिशाली कंधों का, जिन्होंने शासन संचालन का गुस्तर भार उठाया और आज भी अविश्रांत हैं।
- अभिनन्दन इन अमिताभ हाथों का, जिन्होंने पुरुषार्थ की प्रतिमा को आकार दिया, जिनकी वरद मुद्रा से मिला धर्म संघ को प्राण, उदान, समान और अस्मिता का आदान।
- अभिनन्दन इन रक्ताभ पैरों का, जो अविश्रांत गति से चलते रहे हैं, जिनकी गति में प्रगति का प्रतिबिम्ब है।
- अभिनन्दन इन दीर्घ आयत आंखों का, जिनकी पारदर्शी दृष्टि से सुदूर भविष्य बन गया हमारे धर्मसंघ का वर्तमान।
- अभिनन्दन इन मस्तिष्कीय पटलों का, जिन्होंने बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास में संतुलन स्थापित किया, युग को नई दिशा और नई दृष्टि दी।
- अभिनन्दन है तेरापंथ का, जिसने तुम्हारे जैसे मानवता के मसीहा को जनता के लिए समर्पित किया।
- अभिनन्दन है पूज्य कालूगणी का, जिनकी दृष्टि ने भविष्य को वर्तमान में देखा।
- अभिनन्दन है जैन आचार्य का, जिसने जैन धर्म को जन-जन तक पहुंचाया, उसे एक नई पहचान दी और उसे दो जनधर्म की प्रतिष्ठा।
- अभिनन्दन है तेरापंथ के आचार्य का, जिसने भिक्षुशासन को वह शक्ति, सौन्दर्य और गौरव दिया, जिसे सब सतृष्ण दृष्टि से निहार रहे हैं।
- अभिनन्दन है अणुव्रत के अनुशास्ता का। राष्ट्रीय चरित्र विकास और नैतिक चेतना के जागरण में अणुव्रत आंदोलन का योगदान एक ऐतिहासिक अभिलेख है।
- अभिनन्दन है प्रेक्षाध्यान के स्वप्नद्रष्टा का। प्रेक्षाध्यान—परोक्ष धर्म के प्रति संदेहशील मानस को प्रत्यक्ष धर्म की दीक्षा में दीक्षित कर आस्था के अंकुरण का एक महान् प्रयत्न है।
- अभिनन्दन है युग प्रधान का, जिसने युग की भाषा को समझा और उसे शाश्वत की भाषा से परिचित कराया, परिवर्तन का मूल्यांकन किया और परिवर्तनीय में रहे अपरिवर्तनीय की प्राण प्रतिष्ठा की।

- अभिनन्दन है मनोबली आचार्य का, जिसके मनोबल की आधारभूमि है विधायक दृष्टिकोण और चिन्तन, रचनात्मक कल्पनाएं और प्रवृत्तियां। जिसने अपने कार्यों से प्रमाणित किया है कि विधायक दृष्टिकोण ही व्यक्ति को प्रगति शिखर पर ले जा सकता है।
- अभिनन्दन है वाग्बली आचार्य का, जिसकी वाणी में ओज है, सामर्थ्य है। जिसने अपनी वरदा वाणी के द्वारा असंख्य लोगों को नवजीवन दिया है।
- अभिनन्दन है कायबली आचार्य का, जिसके पुरुषार्थ और पराक्रम ने न केवल परिव्रजन का कीर्तिमान स्थापित किया है, अनेक स्वप्नों को साकार किया है।
- अभिनन्दन है साहित्यसागर के मंथनकार का, आगम सम्पादन और सामयिक साहित्य की अमृत बूंदों ने मरणधर्मा मनुष्य को सींचा है। उसमें जागी है अमृतत्व की अनुभूति।
- अभिनन्दन है महान् व्यक्तित्व का। विशिष्ट चिंतन पद्धति, सहज स्वभाव, अदम्य संकल्पशक्ति, अगम्य मनोरथ, प्रगतिशील विचार, नैसर्गिक प्रसन्नता, सहज सिद्धयोग, परिवर्तन की क्षमता, संघर्ष में अप्रकम्प, संघर्ष को निमंत्रण और उससे शक्ति का संवर्धन, सहिष्णुता—ये हैं व्यक्तित्व को महानता देने वाले तत्त्व। इनकी उपलब्धि तुम्हारे व्यक्तित्व की महानता का स्वयंभू साक्ष्य है।
- महान् आचार्य ! इन पांच दशकों में तुमने तेरापथ धर्मसंघ, पूर्वज आचार्यों और विकासशील परंपरा की जिस समर्पणभाव से सेवा की है, वह अपूर्व, अतुलनीय और अमाप्य है। उसके लिए चतुर्विध धर्मसंघ कृतज्ञभाव से श्रद्धाप्रणत होकर तुम्हारी वंदना और अभिनन्दना कर रहा है।
- इस अमृत महोत्सव की मंगल बेला में यह मंगल भावना कर रहा है—

संघपुरुष हो चिरायुः

संघशास्ता हो चिरायुः

और दोहरा रहा है अपना समर्पण। उस संवेदनशील पुष्प को स्वीकार कर कृतार्थ करो।^१

१. २२ सितम्बर १९८५, अमेट, (राजस्थान) में आचार्य श्री तुलसी के पचास वर्षीय शासन काल की सम्पन्नता के अवसर आयोजित अमृत महोत्सव के सन्दर्भ में पूरे धर्मसंघ की ओर से लेखक द्वारा समर्पित अभिनन्दन पत्र।

युवाचार्य महाप्रज्ञ की महत्वपूर्ण रचनाएँ

- भिक्षु विचार दर्शन
- जीव अजीव
- जैन परम्परा का इतिहास
- अनेकान्त है तीसरा नेत्र (हिन्दी, गुजराती)
- मन का कायाकल्प
- संबोधि (हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी)
- मैं कुछ होना चाहता हूँ
- जीवन विज्ञान (शिक्षा का नया आयाम)
(हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला)
- जीवन विज्ञान : स्वस्थ समाज रचना का संकल्प
- कैसे सोंचे?
- श्रमण महावीर (हिन्दी, अंग्रेजी)
- अवचेतन मन से सम्पर्क
- जीवन की पोथी
- सोया मन जग जाये
- अहिंसा के अछूते पहलू
- अमूर्त चिन्तन (हिन्दी, गुजराती)
- अस्तित्व और अहिंसा
- तेरापंथ शासन अनुशासन
- अभ्युदय
- चित्त और मन (हिन्दी, गुजराती)
- जैन धर्म : अर्हत् और अर्हताएँ
- जैन दर्शन और संस्कृति
- संस्कृति के दो प्रवाह
- समयसार (निश्चय और व्यवहार की यात्रा)
- भेद में छिपा अभेद
- अपना दर्पण : अपना बिम्ब
- आचार्य भिक्षु : जीवन—दर्शन
- अप्पाणं सरणं गच्छामि
- धर्म चक्र का प्रवर्तन
- मंजिल के पड़ाव
- महावीर का पुनर्जन्म
- लोकतन्त्र : नया व्यक्ति नया समाज

